प्रज्ञानरत्नाकरः

श्रीमद्वल्लभनंदनवरलोकनाथश्रीगोवर्धनसुतश्रीपुरुषोत्तमविरचितः

[illegible]

॥ [illegible] ॥

गोस्वामि-श्रीपुरुषोत्तम-ग्रन्थमालायाः द्वितीयं प्रसूनम्

।। प्रस्थानरत्नाकरः ।।

प्रकाशक :
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट.
वैभव को-ऑपरेटिव्ह सोसायटी,
पुना बेंगलोर रोड, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र. ४१६ ००८.

सम्पादक : गोस्वामी श्याम मनोहर

वाराणसीमुद्रित प्रथम संस्करण : वि.सं.१९६५-६६.
मुंबईमुद्रित द्वितीय संस्करण : वि.सं.१९६८.

तृतीय प्रस्तुत संस्करण : वि.सं.२०५६.

प्रति : १०००.

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक :
शैलेश प्रिन्टर्स,
१४, चुनावाला इन्डस्ट्रिअल एस्टेट,
कोंडी-वीटा,
अंधेरी (पूर्व),
मुंबई ४०० ०५९.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

सम्पादकीय

जयति वल्लभाचार्यो जयति विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च जयति प्रस्थानरत्नाकरो ग्रन्थः॥

[१]श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुके वंशमें [२]श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण [३]श्रीबालकृष्णजी [४]श्रीपीताम्बरजी [५]श्रीयदुपतिजी [६]श्रीपीताम्बरजी और [७]श्रीपुरुषोत्तमजी, प्रस्तुत प्रस्थानरत्नाकरके कर्ताका जन्म, सातवीं पीढ़ीपर विक्रम संवत् १७१४; या श्रीवल्लभ-वंशवृक्ष(३/२गृह : सूरत.पृष्ठसं. १५)के अनुसार १७२४, की भाद्रपदशुक्ला एकादशीके दिन हुवा. जन्मके समय परिवार गोकुलग्राममें ही निवास करता था किन्तु बादमें [५]श्रीयदुपतिजीके ज्येष्ठभ्राता [५]श्रीश्यामलजीके पुत्र [६]श्रीव्रजरायजीने इन्हें अपना धर्मपुत्र बना कर १० वर्षकी आयुमें सुरत बुला लिया. विक्रम संवत् १७८१ में ६७ वर्षकी वयमें, अपने दो पुत्र और एक पुत्री के अपनी विद्यमानतामें न रह जानेके कारण, अपने समाननामा चचेरे भाईको अपना उत्तराधिकारी बना कर ये पुनः अपने जन्मस्थल गोकुल लौट गये. इसी वर्ष आपने हरिद्वारकी यात्रा भी की थी ऐसा वहांके पुरोहितकी बहीमें उल्लेख मिलता है. वैसे कहा जाता है कि आप विक्रम संवत् १८१० तक अवश्य ही भूतलपर विद्यमान रहे. क्योंकि स्वयं मैंनें भी इस अवधिके आपके हस्ताक्षरोंमें लिखे ग्रन्थके कुछ पृष्ठ पंचमपीठस्थ हस्तलिखित ग्रन्थोंके संग्रहमें देखे हैं. इससे सिद्ध होता है कि आप पर्याप्त लम्बी आयु तक ग्रन्थलेखनादि कार्यमें संलग्न रहे. हो सकता है कि प्रस्थानरत्नाकर आपने गोकुल ही में

लिखा हो. वैसे वाल्लभ वेदान्तके साहित्यकी सेवाद्वारा उसके सुवर्णयुगके सौवर्णचतुष्कोणोपम श्रीहरिरायजी, श्रीपुरुषोत्तमजी, लालूभट्टोपनाम श्रीबालकृष्ण भट्टजी तथा लेखकार श्रीवल्लभजी की चतुष्टयीमें यह इनका ही असाधारण वैशिष्ट्य है कि महाप्रभुके नाम्ना प्रकट किसी ग्रन्थपर इनकी व्याख्या न मिलती हो तो ऐसे ग्रन्थका श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुविरचित होना भी संदिग्ध ही हो जाता है. इनके प्रमुख शिष्योंमें श्रीहरिरायजीके धर्मपुत्र श्रीगिरिधरजी, तृतीय/१=कांकरोलीके बुरहानपुर जा बसनेवाले श्रीरणछोड़जीके पुत्र श्रीअनिरुद्धजी, चोपासनीवाले श्रीदामोदरजीके पुत्र श्रीविट्ठलरायजी (प्रस्तुत सम्पादके पूर्वज), एक अन्य भी श्रीगिरिधरजी, श्रीतुलजारामजी, तर्कपञ्चानन श्रीवेणीदत्त भट्टाचार्य आदि गिनाये जा सकते हैं. अस्तु.

श्रीपुरुषोत्तमजीकी तरह ही वाल्लभ वेदान्तके अन्य किसीभी ग्रन्थकी तुलनामें प्रस्तुत प्रस्थानरत्नाकर ग्रन्थका भी एक अपना विशिष्ट स्थान या महत्त्व है.

वैसे अन्यान्य तन्त्रोंकी तुलनामें कुछ निरूपण करना हो तो यह कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शनमें श्रीधर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक, जैन दर्शनमें श्रीप्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रोदय, न्यायदर्शनमें श्रीभासर्वज्ञके न्यायसार, पूर्वमीमांसामें श्रीपार्थसारथिकी शास्त्रदीपिकाके तर्कपाद, शाङ्कर वेदान्तमें श्रीआनन्दपूर्ण मुनीन्द्रकी न्यायचन्द्रिका, रामानुज वेदान्तमें श्रीवेदान्तदेशिककी न्यायपरिशुद्धि-न्यायसिद्धाञ्जन; अथवा, माध्व वेदान्तमें श्रीव्यासरायस्वामीका तर्कताण्डव जिन विचार्यविषयोंकी जैसी तुलनात्मिका एवं आलोचनात्मिका शैलीमें विचारार्थ प्रकट हुवे हैं, उन्हीं विचार्यविषयोंको वैसी ही विचारशैलीका अवलम्बन करते हुवे ग्रन्थकार श्रीपुरुषोत्तमजीने भी प्रस्तुत ग्रन्थका निर्माण किया है.

भगवज्ज्ञानावातार महर्षि बादरायणके वेदान्तसूत्रोंके वाल्लभ

वेदान्ताभिप्रेत अध्यायचतुष्टयीके प्रमाण प्रमेय साधन और फल के विषयविभाजनोंके अनुरूप, यह प्रस्थानरत्नाकर ग्रन्थ भी, चार परिच्छेदोंमें ही लिखा जाना था. प्रस्तुत ग्रन्थके प्रारम्भमें ही ग्रन्थकारने इस बारेमें यों स्पष्टीकरण दे दिया है:

(१)तत्र तावद् भगवता व्यासेन, शब्दस्य अनपेक्षं प्रामाण्यं स्वीकृत्य, चतुर्लक्षण्यां प्रथमे शब्दबलविचारेणैव प्रमेयनिर्णयः कृतः, ततः प्रमेयसाधनफलानि विचारितानीति, आचार्यैरपि तथैव सुबोधिन्यादौ निरूप्यते.

(२)सिद्धान्ते प्रकारस्तु साधनप्रकरणे वक्ष्यते.

अतः साधनपरिच्छेदका भावी लेखन जब कण्ठोक्त प्रतिज्ञात है तो फलपरिच्छेद लिखना भी ग्रन्थकारको सर्वथा अभीष्ट ही रहा होगा. वैसे आज तो प्रमाणपरिच्छेद सम्पूर्ण और अपूर्ण प्रमेयपरिच्छेद ही केवल उपलब्ध होते हैं. हमारे दुर्भाग्यवश अपने मनोरथके अनुरूप ग्रन्थकार इस ग्रन्थको पूरा नहीं कर पाये यह तो स्पष्ट ही है; क्योंकि, प्रमेयपरिच्छेदकोभी ग्रन्थकारने स्वप्रतिज्ञात विचार्य-विषय-कोटिओंकी चर्चा तक अतित्वरया यथाकथञ्चित ही पहुंचाया है. सो साधनपरिच्छेद और फलपरिच्छेद लिखे ही नहीं जा सके. स्वयं ग्रन्थकारके हस्ताक्षरोंवाली अ तथा आ मातृकाओं, जो हमारे श्लाघ्यतम सौभाग्यवश हमें प्राप्त हो पायी, के अवलोकनसे यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार अन्तिम पृष्ठपर वाक्यविन्यास भी पूरा नहीं कर पाये हैं. इसमें प्रथम मातृका तो आद्योपान्त निजैकहस्ताक्षरोंमें आलेखित है. द्वितीय, जबकि, अन्य किसीके हस्ताक्षरोंमें लिखित होनेपर भी प्रारम्भके कुछ पृष्ठोंपर ग्रन्थकारके हस्ताक्षरोंमें कहीं शीर्षटिप्पणी, कहीं सव्येतरपार्श्वटिप्पणी, कहीं पादटिप्पणी या कहीं शोधनिका भी उपलब्ध होती है. अधबीचमें पुनः ग्रन्थकारेतर अनुलिपिकारके हस्ताक्षरोंमें लिखी गयी यह सटिप्पणीक मातृका दिखलायी देती हैं. अन्तिमपृष्ठपर पुनः अचानक ही ग्रन्थकारके

हस्ताक्षर पूरकांशके लेखनार्थ प्रकट हो गये हैं; फिरभी, वाक्य अधूरा छूट गया है! लगता है कि अपनी ढलती आयुके तथा नेत्रज्योतिकी क्षीणताके कारण कोई प्रतिबन्ध उपस्थित हुवे होंगे.

द्वितीयपीठाधीश गोस्वामी श्रीकल्याणरायजीने कृपा करके कुछ वर्षों पहले उनके संग्रहमें विद्यमान एक पत्रके, जो ग्रन्थकारद्वारा तत्कालीन द्वितीयपीठाधीश श्रीगिरिधरजीको लिखा गया था, मुझे दर्शन करवाये थे. ये श्रीगिरिधरजी श्रीहरिरायजीके उत्तराधिकारी तथा प्रस्तुत ग्रन्थकार श्रीपुरुषोत्तमजीके अति प्रिय शिष्य हैं, ऐसा पत्रगत भाव और भाषा के आधारपर झलकता है. ये पत्र इन्हें जब वे दक्षिणयात्रापर गये थे तब ग्रन्थकारद्वारा निजहस्ताक्षरोंमें लिखा गया है. इसमें ग्रन्थकारने अपने प्रहस्तवाद ग्रन्थकी प्रतिके काञ्ची भेजनेके समाचार तथा काञ्चीके शैव-शांकर विद्वानोंकी वैचारिक प्रतिक्रिया जाननेके बारेमें अपनी तीव्र उत्कण्ठा प्रकट की है. साथ ही साथ अपने शिष्यके भाग्यकी प्रशंसा भी की है कि उन्हें भगवत्सेवा तथा ग्रन्थानुशीलन दोनोंकेलिये समय तथा सामर्थ्य भगवत्कृपया सुलभ हैं, जबकि वार्धक्यवशात् नेत्रज्योतिके क्षीण होते जानेके कारण श्रीपुरुषोत्तमजीने इनमें आड़े आती अड़चनोंपर अपना मनस्ताप भी प्रकट किया है. प्रस्थानरत्नाकरमें इस प्रहस्तवादका उल्लेख मिलता होनेसे लगता है कि इसी अवधिके आसपास कभी प्रस्थानरत्नाकर ग्रन्थका भी निर्माण हुवा होना चाहिये. और यही हेतु इस ग्रन्थके अपूर्ण रह जानेका तथा स्वयंके ही हस्ताक्षरोंद्वारा अनेकानेक अनिश्चायक पाठभेदोंके भी प्रकट हो जानेका प्रतीत होता है. वैसे ग्रन्थलेखनके बाद आदतन भी श्रीपुरुषोत्तमजी अपने लेखनमें निरन्तर संशोधन-परिवर्धनकारी अनुशीलनमें तो तत्पर रहते ही थे, यह तो उनके अन्य भी अनेक ग्रन्थोंके आधारपर मूलहस्ताक्षरोंके अभ्यासिओंसे छिपी हुई कोई बात नहीं है.

खैर! हेतु जो कुछ भी रहा हो, इस ग्रन्थके अपूर्ण रह जानेपर

भी, अर्थात् आज यह जितना उपलब्ध होता है, उतना भी वाल्लभ वेदान्तकेलिये तो लेशमात्र भी अल्पमहत्त्वका नहीं है.

अपनी स्वारसिक प्रकृतिवश वेदान्तचिन्तन, उत्प्रेक्षामूलक चिन्तन न हो कर वेदोपनिषद् भगवद्गीता ब्रह्मसूत्र पुराणादि सकल आर्ष शास्त्रोंपर अवलम्बित हो कर, उनकी एकवाक्यतासम्पादिका तात्पर्यमीमांसाके हेतु प्रवृत्त होनेवाला चिन्तन है. श्रीशंकराचार्यसे आरम्भ कर परवर्ती सभी आचार्योंको मान्य एक विचारनीतिके रूपमें इसे देखा जा सकता है. सर्वप्रथम श्रीशंकराचार्यको ही देखें तो अतीव प्रभावशाली वचनोंमें वे भी इस विचारनीतिका प्रतिपादन करते हैं :

> वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणां वेदान्तवाक्यानि सूत्रैः उदाहृत्य विचार्यन्ते. वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता ब्रह्मावगतिः न अनुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता. सत्सुतु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्याय अनुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवत् न निवार्यते.
>
> (ब्र.सू.भा.१।१।२)

इस विषयमें वेदान्तके अन्य भी सभी सम्प्रदायोंके बीच सर्वथा ऐकमत्य है. अतएव श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु भी कहते हैं :

> नहि स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारः कर्तुं शक्यः. ब्रह्म पुनः यादृशं वेदान्तेषु अवगतं तादृशमेव मन्तव्यम्. अणुमात्रान्यथाकल्पनेऽपि दोषः स्यात्.
>
> (ब्र.सू.भा.१।१।१)

अतएव वेदान्तचिन्तनमें वृत्ति भाष्य टीका प्रक्रिया प्रकरण ग्रन्थों और तन्मूलक या तदर्थोपोद्बलक वादग्रन्थों की जैसी बहुलता है, वैसी वार्तिकशैलीमें लिखे ग्रन्थोंकी नहीं. उक्तानुक्तदुरुक्तविषयक विमर्श,

विशेषतः दुरुक्तविमर्शके सन्दर्भमें, न्याय-व्याकरणशास्त्रोंमें जिस तरह उपलब्ध होता है, वह वेदान्तमें तो कल्पनीय ही नहीं है. यहां ''यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यं''के बजाय ''यथापूर्वमुनीनां प्रामाण्यं''में वैचारिक आस्था अधिक दृढ़ताके साथ अवलम्बनीय होती है. अलबत्ता सूत्रपर या भाष्यपर, या सामान्यतया मतपर भी, उक्तानुक्तविमर्शात्मिका शैलीमें यदि कोई वार्तिक कभी लिखना चाहे तो, उसे वेदान्तचिन्तनकी निजी प्रकृतिके विपरीत नहीं माना जा सकता. इस तथ्यको बुद्धिगत करनेपर प्रस्तुत प्रस्थानरत्नाकर ग्रन्थको भी वाल्लभ वेदान्तमतके वार्तिकतया निर्विवादरूपेण स्वीकारा जा सकता है. यह ग्रन्थ साक्षात् ब्रह्मसूत्रभाष्यके ऊपर लिखा गया न होनेपर भी वाल्लभ मतपर अवश्य ही वार्तिकोपम ग्रन्थ है. यह एक और अनूठा महत्त्व इस ग्रन्थका है ही. स्वयं ग्रन्थकारके शब्दोंमें —

यत् प्रमेयमुरुधाकरे स्थितं नोपपादितमुतोपपादितम्।
विप्रकीर्णमिति तन्मनीषयोद्गृह्य युक्तिभिरिहोपवर्ण्यते॥

इन उद्गारोंके अवलोकन करनेपर इस ग्रन्थकी वार्तिकोपमता प्रकट होती ही है. अतएव नामाभिधानपूर्वक इस ग्रन्थको 'वार्तिक' न कहना भी वेदान्तचिन्तनके श्लाघ्यतम आदर्शोंका निर्वाह ही प्रतीत होता है, साथ ही साथ दुरुक्तविमर्शके अभाववश यह उचित भी है.

जहां तक ग्रन्थाभिधान 'प्रस्थानरत्नाकर' के अभिप्रेतार्थका प्रश्न है तो कुछ मौलिक स्पष्टीकरण जान लेने अत्यावश्यक लगते है. इधर सौ-पचास वर्षोंमें देश-काल-व्यक्ति-परिच्छेद-रहित ब्रह्मकी तरह एक भ्रम भी सभी साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक लेखकोंकी लेखिनीसे निःसृत हो कर देश-काल-व्यक्तिके परिच्छेदोंको तोड़ चुका है. वेदान्तके इतरसम्प्रदायोंसे वाल्लभ वेदान्तका वैलक्षण्य यह दिखलाया जाता है कि यह प्रस्थानत्रयवादी होनेके बजाय प्रस्थानचतुष्टयवादी वेदान्तसम्प्रदाय

है 'किमाश्चर्यमतःपरम् !'

पुराणप्रामाण्य वेदान्तके किस सम्प्रदायको अभीष्ट नहीं है ? शांकरभाष्य रामानुजभाष्य माध्वभाष्य श्रीकरभाष्य शैवभाष्य भिक्षुभाष्य निम्बार्कभाष्य आदि सभीमें महाभारत-पुराणके वचन प्रमाणतया उद्धृत हैं ही. ऐसीमें स्थिति भागवतपुराणकी महत्ताकी घोषणाद्वारा वाल्लभवेदान्तने न तो कोई असाधारण प्रास्थानिक साहस किया है और न कोई असाधारण आपराधिक साहस ही. एतदर्थ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके मूलवचनोंको एक बार निहार लेना अधिक उपयुक्त होगा —

> अस्मिन् शास्त्रे परिभाषाम् उक्त्वा प्रमाणम् आह : वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्. उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम् अविरुद्धन्तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा. एतद्विरुद्धं यत् सर्वं न तन्मानं कथञ्चन. अथवा सर्वरूपत्वात् नामलीलाविभेदतो विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि. स्मृतित्वेन कृष्णवाक्यानि वेदत्वेऽपि पृथग् उक्तानि. व्याससूत्राणि, चकाराद् जैमिनिसूत्राणि... एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकम्. एतदविरोधेनैव मन्वादीनां प्रामाण्यम् आह... एवं पूर्णज्ञानोदयावधि यद् ग्राह्यं प्रमाणत्वेन तत् निरूप्य तदनन्तरं यत् प्रमाणं तद् आह : अथवेति वाङ्मात्रमेव प्रमाणम् अर्थस्य भगवद्रूपत्वात्.
>
> (त.दी.नि.१।७-९)

यहां व्याख्या करते हुवे श्रीपुरुषोत्तमजीने सुस्पष्ट शब्दोंमें "एवं सति अविरुद्धाऽसंवाद्यंशएव प्रामाण्यम् इति अर्थः फलति" ऐसा विधान किया है. इससे सिद्ध होता है कि वाल्लभ वेदान्तमें केवल प्रस्थानचतुष्टयीके प्रामाण्यकी धारणा सर्वथा निर्मूल ही है. क्योंकि प्रमाणचतुष्टयीसे अविरुद्ध और अनवगत होनेपर अन्य भी अनेकानेक शब्द अनुमान या प्रत्यक्ष आदि यथार्थज्ञानोपायोंको विविदिषाकालमें भी प्रमाणतया मान्य रखा ही गया है. केवल प्रमाणचतुष्टयीको ही प्रमाणतया स्वीकारनेपर तो स्वयं

प्रमाणतुष्टयीके शब्दोंका श्रवण या दर्शन भी चतुष्टयान्तर्गत न होनेसे प्रमानुभूति नहीं रह जायेंगे! अतः इससे अधिक असमञ्ज धारणा और कोई क्या हो सकती है? जिस वचनका अवलम्बन कर यह धारणा प्रवृत्त हुयी स्वयं उसी वचनमें व्यासवचनाविरुद्ध जैमिनिवचनोंका भी प्रामाण्य स्वीकारा ही गया है. स्वयं भागवतका प्रामाण्य भी जिस समाधिभाषा होनेके कारण स्वीकारा गया है वह हेतु "वाल्मीकिः साम्प्रतं किल समाधिभाषया प्राह प्रमाणं सर्वथैव तत्" (त.दी.नि.२।८१) विधानद्वारा महाप्रभुने वाल्मीकिरामायणके बारेमें भी सर्वथा मान्य रखा ही है. ऐसी स्थितिमें वाल्लभ वेदान्तके प्रस्थानचतुष्टयवादी होनेकी धारणा कितनी निर्मूल है यह स्वयं समझा जा सकता है.

स्वाभाविकतया 'प्रस्थानरत्नाकर' अभिधानगत 'प्रस्थान' विशेषणका व्यावर्त्य या तात्पर्य तब क्या हो सकता है, यह जिज्ञास्य बन जाता है.

अपने अवतारवादावलीके अन्तर्गत पूर्वोक्त प्रहस्तवादके मंगलाचरणमें ग्रन्थकार "संवीक्ष्योपनिषच्छ्रुतिस्मृतिगणं भाष्याणि सूत्राण्यपि प्रस्थानैर्विविधैर्युतानि" (अव.वादा.१।३) विधान करते हैं. इसका सावधानीके साथ अवलोकन करनेपर बिलकुल साफ झलकता है कि श्रुति स्मृति सूत्र को, उपलक्षणविधया भागवतको भी, ग्रन्थकार 'प्रस्थान' नहीं कह रहे हैं; प्रत्युत, इनपर जो विविध भाष्य तत्तद् वेदान्तसम्प्रदायोंके प्रकट हुवे हैं, उन्हें वेदान्तके विविध प्रस्थानतया निरूपित करना चाहते हैं : "विविधैः प्रस्थानैः युतानि सूत्राणि भाष्याणि". अतः मान्य सकल आर्ष शास्त्रोंकी सुसंगत व्याख्या प्रस्तुत करनेकी मनोवृत्ति या मनोरथ ही वेदान्तचिन्तनात्मिका यात्राका वह सर्वसामान्य आरम्भबिन्दु है, जहांसे वेदान्तचिन्तनयात्राके सभी यात्री अपनी यात्रा प्रारम्भ करते हैं. इस यात्रापर अग्रसर होनेपर सभी चिन्तकोंकी अपनी-अपनी दिशा और सरणी बनती-बदलती जाती हैं. और इसे ही श्रीपुरुषोत्तमजी 'प्रस्थान' विशेषणद्वारा निरूपित करना चाहते हैं.

अतः "एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकम्" के विधानद्वारा महाप्रभुने विविदिषाकालमें श्रुति स्मृति सूत्र और पुराण रूपी *चार शास्त्रों*को नहीं प्रत्युत इन *चार शास्त्रोंकी एकवाक्यता*को प्रमाणतया मान्य करनेकी बात कही है, उसके विपरीत प्रस्थानचतुष्टयीकी कल्पना करना, पुनः इनमें किसी न किसी तरहका भेद खड़ा करके एकवाक्यताके अभावको ध्वनित करनेकी धांधली लगती है! श्रीपुरुषोत्तमजीके समकालिक श्रीबालकृष्ण भट्टद्वारा विरचित 'प्रमेयरत्नार्णव' नामक ग्रन्थमें जैसे प्रत्येक विवेकके विचार्यविषयकी प्रस्तुतिमें आग्रहिलतया सर्वप्रथम श्रुति गीता ब्रह्मसूत्र तथा भागवत की एकवाक्यताके निदर्शनार्थ चारोंके वचनोंको उद्धृत किया गया है, वैसी निरूपणशैली श्रीपुरुषोत्तमजीने यहां इस ग्रन्थमें साग्रह अपनायी हो ऐसा दिखलायी नहीं देता. इसका कारण एकमात्र यही उचित लगता है कि "एवं सति अविरुद्धाऽसंवाद्यंशएव प्रामाण्यम् इति अर्थः फलति" की विचारनीतिका अवलम्बन करके प्रमाणचतुष्टयमें अनिरूपित ऐसे किसी विषयमें ग्रन्थकारको कभी न्यायमत, तो कभी वैयाकरणोंका मत, तो कभी भाट्टोंका मत, तो कभी सांख्यमत भी 'अविरुद्ध-असंवादी' निरूपण होनेके कारण अंशतो मान्य रखना अभीष्ट है. यह पुनः अनुक्तविमर्शात्मक होनेके कारण प्रस्तुत ग्रन्थके वाल्लभमतवार्तिक होनेके गुणकी पुष्टि करनेवाली बात है.

अतः 'प्रस्थान' शब्दके कोशगत अर्थ "यात्रा व्रज्याभिनिर्याणं प्रस्थानं गमनं गमः" (अमरकोश : २।८।९५) "अभीष्टवस्तुचालनम्" (श्रीभीमाचार्य झलकीकरविरचित न्यायकोश) के आधारपर तथा महाप्रभुकी "ये धातुशब्दाः यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः तथैवार्थो... कर्तव्यो नान्यथा क्वचित्:" (पत्राव.४) आज्ञाका अनुसरण करते हुवे 'प्रस्थान' शब्दको श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराणादि प्रमाणोंका पर्यायतया स्वीकारना हम अनावश्यक समझते हैं, कमसे कम 'प्रस्थानरत्नाकर' अभिधानकी अर्थविचारणाके सन्दर्भमें तो निश्चयेन ही.

जैसा कि हम दिखला ही चुके हैं कि प्रस्तुत ग्रन्थको चार,

प्रमाण प्रमेय साधन और फल, परिच्छेदोंमें ग्रन्थकार लिखना चाहते थे परन्तु दो ही परिच्छेद प्रमाण और प्रमेय के लिख पाये. तदनुसार मूलकारके शब्दप्रयोगानुसार उन दोनों परिच्छेदोंको यथावत् निभाते हुवे ग्रन्थकारके हृदयमें ग्रन्थके प्रारूपकी जो परिकल्पना रही होगी उसका यथामति आकलन या ऊह करके विषयबोधसौकर्यकी दृष्टिसे हमने इसके दोनों ही परिच्छेदोंको पुनः कल्लोल और तरङ्गो में भी विभाजित करना उपयुक्त समझा. प्रत्येक तरङ्गान्तर्गत विषयोंके निरूपक अनुच्छेदोंको भी प्रतिपाद्यविषयके द्योतक शीर्षकोंके साथ यथामति विभाजित किया है.

पूर्वप्रकाशित दो संस्करणोंमें यह सुविधा न होनेके कारण ग्रन्थप्रतिपाद्य विषयोंका साकल्येन अवधारण अतीव आयासपूर्ण हो जाता था. अब आशा है कि इससे ग्रन्थानुशीलनमें पर्याप्त सौकर्य रहेगा. अस्तु.

श्रीपुरुषोत्तमग्रन्थमालाके प्रथम प्रसून 'वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका' के बाद इस द्वितीय प्रसूनके प्रकाशनमें अनिवार्य संयोगोंके कारण करीब सतरह-अठारह वर्षोंका असह्य विलम्ब हो गया है. फिर भी इस प्रस्थानरत्नाकरका अनेकपाठभेदोंके सहित शुद्धपाठके निर्णयके साथ यह पुनःप्रकाशन मेरे जीवनकी कुछ अतिमहत्त्वपूर्ण आकांक्षाओंमें एककी पूर्ति मैं मानता हूं. भगवत्कृपावश इसी तरह तृतीय प्रसून अवतारवादावलीके चौबीसों वाद, चतुर्थ प्रसून यावदुपलब्ध उपनिषद्दीपिकायें और गीतामृततरंगिणी, पंचम प्रसून उत्सवप्रतान द्रव्यशुद्धि तथा द्वात्रिंशदपराधविवृति कभी प्रकाशित हो जायें ऐसे मनोरथ हृदयके भीतर निरन्तर दौड़ते ही रहते हैं! "मनोरथानाम् अगतिर्न विद्यते!

वैसे सन् ८४ में हरिद्वारयात्राके समय वहां अपने एकमासके आवासकी अवधिमें अवतारवादावलीके कतिपय वादोंका और इस प्रस्थानरत्नाकरका मुद्रितपाठोंके आधारपर प्राथमिक सम्पादन किया था.

उसके बाद मेरे प्रिय मित्र श्रीमदनलाल व्यासजीसे इसकी दो बार प्रेसकॉपी भी तैयार करवाई थी सो उनके प्रति अपनी कृतज्ञताके भावोंका संगोपन नहीं कर सकता!

खैर, वैसे जब यह बात चली है तो इस ग्रन्थके क पाठके सम्पादक श्रीमगनलाल शास्त्रीके शिष्य-सहयोगी एडवोकेट श्रीवाड़ीलाल नगीनदास शाहके पुण्यस्मरणसे भी मेरा हृदय बरबस छलकने लगता है!

उनका एक नियम था कि मेरी प्रत्येक वर्षगांठपर मुझे कोई न कोई एक स्वमार्गीय ग्रन्थ जन्मदिनके उपहारतया अपनी शुभकामना लिख कर अवश्य देते थे. सन् साठके दशकके मध्यमें एक बार मेरे जन्मदिनसे दो-तीन दिन पूर्व उन्होंने मुझसे मेरे अध्ययनके बारेमें पूछा और तब मैंने बताया कि तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी और खण्डनखाद्य का अध्ययन चल रहा है तो बोले कि "कभी समय निकाल कर श्रीपुरुषोत्तमजीका प्रस्थानरत्नाकर भी पढ़के देखो!" मैंने कहा "मेरे पास ग्रन्थ है नहीं" तो तब तो कुछ बोले नहीं परन्तु जन्मदिनके सायंकालको मेरेलिये अपने हस्ताक्षरोंमें शुभकामनाके लेखसहित प्रस्थानरत्नाकर ग्रन्थ उपहाररूपेण दे गये! वे शब्द आज भी मेरे कानोंमें गूँजते रहते हैं. बादमें श्रीमगनलाल शास्त्रीजीके ही शिष्य-सहयोगी श्रीमोहनलाल जरीवाला और मेरे दुर्भाग्यवश श्रीमद्भागवतकथाको अपनी आजीविका बनानेकी महत्त्वांकाक्षा रखनेवाले एक सूतोपम कथक्कड़ व्यास मुझसे प्रस्थानरत्नाकर ग्रन्थके अध्ययनार्थ मेरेपास आने लगे. कुछ दस-पंदरह दिन पाठ चला भी परन्तु जनमनोरंजनार्थ की जाती भागवतकथामें इस ग्रन्थमेंसे कोई बात मिर्चमसाला बन पाये ऐसा विषय यहां तो मिलना नहीं था, सो पाठ अधबीचमें ही बंद हो गया, श्रीमोहनभाईके पाठ चलानेके अतिशय आग्रहके बावजूद! मुझे खेद है कि तबसे आज तक किसीको पढ़ानेका सौभाग्य मुझे मिल नहीं पाया. फिर

भी सम्पादित-प्रकाशित कर पानेका सौभाग्य भी मेरेलिये अतीव स्पृहणीय ही है.

इस ग्रन्थको सम्पादित करना वस्तुतः एक अतिश्रमसाध्य अनुष्ठान मेरेलिये रहा. सर्वप्रथम तो स्वयं ग्रन्थकारने इसे इतनी त्वरामें लिखा है कि लिखनेके बाद यत्र-तत्र स्वयं उन्हें पृष्ठके चारों ओर ऊपर-नीचे दायें-बांये बहुत सारी टिप्पणी और शोधनिकाओं से भर देना पड़ा है. स्वाभाविक है कि कभी शोधनिका, परवर्ती अनुलिपिकारोंद्वारा टिप्पणी होनेकी भ्रान्तिवश छोड़ दी गयी और कहीं टिप्पणी मूलग्रन्थके साथ जोड़ दी गयी. इसके कारण पाठभेदोंकी भरमार हो जानी स्वाभाविक बात थी.

ग्रन्थकारने अन्यान्य मतोंके पक्षोंको उपस्थापित करनेमें जिन ग्रन्थोंका सर्वाधिक सहारा लिया है, उनमें, श्रीपार्थसारथिमिश्रकी शास्त्रदीपिकाका तर्कपाद, श्रीजानकीनाथ भट्टाचार्यकी न्यायमञ्जरी, श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रकी वेदान्तपरिभाषा के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं. कई बार किसी एक मतकी मान्यताको पूर्वपक्षके रूपमें प्रस्तुत करते समय उस मतके एकाधिक ग्रन्थोंमेंसे अलग-अलग वाक्यांशोंको लेकर जोड़ कर एक पूर्वपक्ष बनाया हो ऐसा भी अनेकधा दृष्टिगोचर होता है. परिणामतः कौनसी युक्ति कहांसे आ रही है इसका मूलान्वेषण दुर्वह उत्तरदायित्व बन जाता है.

<u>ग्रन्थसम्पादनरीति</u> :

अतः प्रबल इच्छा रखनेके बावजूद विभिन्न पूर्वपक्षोंके मूलान्वेषणद्वारा सन्दर्भोंके उल्लेख करनेके विचारसे विरत होना पड़ा. फिर भी सभी परमतोल्लेखोंको, उदाहरणतया, ''**बाह्यास्तु** * स्वलक्षणमात्रगोचरं निर्विकल्पकं* **इच्छन्ति**'' इस तरह दरसाया गया है. इसी तरह शंका-समाधान भी यदि ''नच..... इति वाच्यम्'' के रूपमें हो तो पुनः ''नच

*..... * इति वाच्यम्'' रूपमें और ''ननु..... इति चेत्, न...'' के रूपमें हो तो ''*ननु.....* इति चेत्, न,...'' के रूपमें दरसाया गया है. जैसे उद्धरणके अन्तर्गत पुनः कोई अवान्तर उद्धरण आता हो तो ऐसी ''.....'...'.....'' रीतिसे दरसाया जाता है, वैसे ही शंका-समाधानके अन्तर्गत शंका-समाधान अथवा किसी मतोल्लेखके अन्तर्गत पुनः अपर मतोल्लेख आता हो तो ''*.....* .... * .....*'' यों छोटे-बड़े पुष्पन्यासोंका आधार लेकर उन्हें दृष्टिसुलभ बनानेका प्रयास किया है. सामान्यतया ''.....'' उद्धरणचिन्होंका उपयोग शब्दशः उद्धरण होनेके द्योतनार्थ है जबकि ''*.....*'' इस तरहके चिन्हांकित वाक्य शब्दशः नहीं परन्तु अन्योंके वाक्याशयको उद्धृत किया जा रहा है, इस तथ्यके द्योतनार्थ है. ग्रन्थकारने प्रमाणवचनतया किसी वचनको उद्धृत किया हो तो यथाशक्ति उसके मूल सन्दर्भको खोजनेका आग्रह अवश्य ही निभाया है तथा यावच्छक्य सावधानी बरतते हुवे सभी प्रमाणतया उद्धृत वाक्यात्मक वचनोंको ''...'' ( ) इस तरह देनेका प्रयास किया है और प्रमाणतया उद्धृत पदों '...' इस तरह.

जैसे कि पहले ही स्पष्टता कर दी—स्वयं ग्रन्थकारद्वारा तो दो ही परिच्छेदोंमें प्रतिपाद्यविषयको इस ग्रन्थमें विभाजित किया गया था. उसे कल्लोल और तरंगो में विभाजित करनेका, चाहे युक्त हो अयुक्त, सम्पादकीय स्वातन्त्र्य मैने लिया है. इससे कहीं ग्रन्थाशयके प्रकटीकरणमें कहीं-कोई अन्यथाभाव हुवा हो तो ग्रन्थकार एवं विज्ञ पाठक इसे क्षमार्ह मानेंगे क्योंकि मेरा उद्देश्य केवल ग्रन्थग्रन्थिओंको सुलझाने भरका रहा है.

आधारभूत मातृकाओंका परिचय तथा इनकी ज़ेरोक्स प्रति प्रदान करनेवालोंका उपकारस्मरण :

प्रस्तुत ग्रन्थ मूल संस्कृतभाषामें मेरी जानकारीमें तो दो बार ही मुद्रित हुवा है और इन दोनों ही संस्करणोंका मैने **क ख**

पाठतया आधारभूत सामग्रीके रूपमें उपयोग लिया है. इसके अलावा एक बार गुजराती भाषानुवादके साथ के साथ और दो बार हिन्दी भाषामें इसका अंशतः सारानुवाद भी प्रकाशित हुवा है. इन्हें मैंने आधारभूत सामग्रीके रूपमें लेना आवश्यक नहीं समझा.

ख पाठ : प्रस्थानरत्नाकर ग्रन्थका सर्वप्रथम प्रकाशित संस्करण वाराणसीकी चौखंभा संस्कृत सीरीज़में १.४४ और १.४५ यों दो किश्तोंमें सन् १९०९ के दिसम्बर और १९१० के जनवरी मासोंमें हुवा. इस संस्करणके सम्पादक पण्डित श्रीरत्नगोपाल भट्ट थे. इन्होंने सप्रकाश अणुभाष्य, सावरणभंग तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, भक्तिमार्तण्ड, शुद्धाद्वैतमार्तण्ड-प्रमेयरत्नार्णव, विद्वन्मण्डन, कुछ सुबोधिनीके अंश यों वाल्लभ सम्प्रदायके अनेक ग्रन्थकों इदम्प्रथमतया प्रकाशित करनेका मंगलाचरण किया था. यह संस्करण जिस मातृकाको मूल आधार बना कर प्रकट हुवा उसे हमने आ पाठके रूपमें इस प्रस्तुत संस्करणमें संकेतित किया है. इसमें ग्रन्थकारद्वारा जोड़ी गयी टिप्पणियां और शोधनिकाओं को, सम्पादकने कदाचित् ग्रन्थकारके निज हस्ताक्षरोंको पहचान न पानेके कारण, जोड़ना आवश्यक नहीं समझा. अतः कई स्थलोंपर बडी कठिनाईयां इस ग्रन्थको देखनेपर सामने आती हैं.

क पाठ : यह संस्करण तब मुंबई एलफिंस्टन हाईस्कूलके सीनिअर संस्कृताध्यापक श्रीमगनलाल गणपति शास्त्रीद्वारा सम्पादित है. श्रीवल्लभाब्द ४३५ में तदनुसार सन् १९१२ के आसपास निर्णय सागर प्रेस मुंबईमें मुद्रित हुवा था. इसमें यद्यपि पादटिप्पणी तथा शोधनिकाओंको तो समाविष्ट किया गया परन्तु कौन सी पादटिप्पणी किस मातृकाके आधारपर ली और कौन सी स्वयं उनकी सम्पादकीय टिप्पणी हैं, इस विषयकी कोई भी सूचना इस संस्करणमें कहीं भी उपलब्ध नहीं होती. इसमें दोसे तो अधिक ही मातृकाओंका आधार लिया गया था, ऐसा पाठभेदके उल्लेखके कारण अनुमान होता है. इससे अधिक, किन्तु,

कोई सूचना मिल नहीं पाती. वैसे हमको जो मातृकायें प्राप्त हुयी उनमें ग पाठ के साथ इसके पाठ प्रायः मिलते-जुलते आते हैं.

अ पाठ : यह मातृका स्वयं ग्रन्थकारके हस्ताक्षरोंमें लिखित सम्प्रति सम्पूर्णानन्द वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयस्थ सरस्वतीभवनके ग्रन्थसंग्रहकी विवरणपञ्जिकाके सप्तमभागमें इस तरह उल्लिखित हैं :

क्रमसंख्या २७२३४ पृष्ठ १-८२, आकार १०.१x४.३, पंक्ति संख्या ११, अक्षर संख्या ४४, लिपिः दे.ना. आधार कागज, पूर्ण, प्रमाणपरिच्छेद्.

क्रमसंख्या २७४०२ पृष्ठ १-२७, आकार १०x४.४, पंक्ति संख्या १५, अक्षर संख्या ५८, लिपिः दे.ना. आधार कागज, अपूर्ण, प्रमेयपरिच्छेद्.

यह उसी संग्रहका भाग है जो श्रीपुरुषोत्तमजीने अपने प्रिय शिष्य तर्कपञ्चानन श्रीवेणीदत्त भट्टाचार्य को भेजी थी, ऐसा उल्लेख अवतारवादावलीके अन्तर्गत प्रहस्तवादके सम्पादक श्रीहरिशंकर ओंकारजी शास्त्रीजीने अपने सम्पादकीयमें किया है. एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य जो इस मातृकाके अवलोकन करनेपर सामने आता है वह यह है कि यह प्रस्थानरत्नाकरकी सर्वप्रथम हस्तलिखित प्रति है. क्योंकि इस मातृकामें जिस तरहसे टिप्पणी और शोधनिकाओंको पृष्ठके चारों और जोड़ा गया है, वह द्वितीय लेखनमें कथमपि सम्भव नहीं. संग्रहालयके अधिष्ठाताने अतीव औदार्यभाव प्रकट करते हुवे हमें इसकी ज़ेरोक्स इसके आधारपर ग्रन्थसंशोधनार्थ अनुमति प्रदान की थी. यह वस्तुतः बहोत बड़ा उपकार हमारा इस संस्थाके द्वारा हुवा है.

आ पाठ : यह वह मातृका है जो ख पाठकी आधारभूत सामग्री थी. सम्प्रति यह मुंबईविश्वविद्यालयके ग्रन्थागारकी संग्रहसूचिमें सामान्य क्रमसंख्या ९५४ तथा ग्रन्थप्राप्ति-संख्या ११६.१३ के रूपमें

उल्लिखित है. जैसा कि हमने पहले बता दिया इसका अनुलिपिकार तो अन्य कोई है परन्तु प्रारम्भमें और अन्तमें ग्रन्थकारके निज हस्ताक्षरोंमें टिप्पणियां तथा शोधनिकायें हैं. इनमें से कुछ तो ऐसी हैं जो अ मातृकाके लेखनके बाद ग्रन्थकारने योजित करनी चाही हैं, क्योंकि अ पाठकी शोधनिकाओंको तो इसमें मूलग्रन्थमें समाविष्ट कर लिया गया है. इसीके आधारपर श्रीरत्नगोपाल भट्टने ख पाठका संस्करण प्रकाशित किया था. इसको देखनेपर ही यह भी पाता चला कि अ मातृकामें जो पाठ उपलब्ध नहीं हैं वे स्वयं ग्रन्थकारद्वारा पश्चाद् आलेखित संशोधन या परिवर्धन हैं. लगता है कि यह प्रति सम्भवतः योगी गोपेश्वरजीके शिष्य श्रीद्वारकेशजीके द्वारा वाराणसीस्थ शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार श्रीगिरिधरजीको मिली होंगी. क्योंकि इनके आस्थानपण्डित श्रीरामकृष्ण नेताके हस्ताक्षरोंमें "श्रीवल्लभाचार्यकुलोत्पन्नश्रीमद्यदुनाथकुलजलधिकलाधरश्रीमद्गुरुगिरिधरच-रणारविन्दद्वन्द्वमधुपायमानमानसेन नेतोपनामकविल्हानाटितैलङ्गजातीयगोकुलग्रामस्थवाराणसीपुरनिवा-सिरामकृष्णभट्टस्येदं पुस्तकम्" ऐसा मातृकाके अन्तिम पृष्ठपर लिखा हुवा मिलता है. यह प्रति इनकी पत्नीके पाससे 'गुजराती' पत्रकी लायब्रेरीके संचालक श्रीइच्छाराम सूर्यराम भाईके पण्डित श्रीइन्द्रजीत कालीदासद्वारा मुंबई लायी गयी थी ऐसा भी उल्लेख मिलता है. बादमें उनके उत्तराधिकारियोंद्वारा मुंबईविश्वविद्यालयके ग्रन्थागारको भेंटरूपमें दे दी गयी. सम्प्रति मुंबई वि.वि.ग्रन्थागारके ग्रन्थपाल तथा अन्य भी अधिकारिओंके उदार सहयोगवश इसकी ज़ेरोक्स प्रति हमें ग्रन्थसंशोधनार्थ प्राप्त हो पायी.

<u>ग पाठ</u> : इस मातृकाके अवलोकन करनेपर जो एक उल्लेखनीय तथ्य दृष्टिगोचर हुवा वह यह है कि इसमें तीसरी बार ग्रन्थकारने कुछ संशोधन-परिवर्धन किये हैं. कह नहीं सकते इसमें लिखित हस्ताक्षर स्वयं ग्रन्थकारके हैं या उनके ही हस्ताक्षरों जैसे अन्य किसी अनुलिपिकारके. यह मातृका हमें नित्यलीलास्थित गोस्वामिश्री रणछोड़ाचार्य प्रथमेशजीने कृपा करके प्रदान की थी. स्वयं उनके संग्रहकी है या अन्य किसीके संग्रहकी यह ज्ञात नहीं हो पाया.

घ पाठ : यह मातृका अशुद्धिबहुल है. और यह भी नि.ली.गो.श्रीरणछोड़ाचार्य प्रथमेशजीद्वारा प्राप्त हुयी थी. स्वयं उनके संग्रहकी है या अन्य किसीके संग्रहकी यह ज्ञात हो नहीं पाया.

ङ पाठ : यह मातृका राजस्थान प्राच्य विद्या संस्थानमें क्रमसंख्या २८९४६ तया पंजीकृत है. इस मातृकाकी ज़ेरोक्स प्रति हमें इस संस्थाके अधिकारियोंके उदार सहयोगवश उपलब्ध हुयी. यह प्रमाणपरिच्छेद पर्यन्त ही उपलब्ध होती है.

च पाठ : यह जूनागढ़से गोस्वामी श्रीकिशोरचन्द्रजीके उदार सहयोगवश उनके संग्रहकी ज़ेरोक्स प्रति है. यह भी प्रमाणपरिच्छेद पर्यन्त ही उपलब्ध होती है.

इतनी सारी मातृकाओंके आधारपर पाठभेदोंको निर्धारित करना मुझसे एकाकितया तो शक्य हो नहीं पाता. अतः पाठभेदनिर्धारणार्थ सभी मातृकाओंके सहपठनकी लंबी बैठकोंमें धैर्यपूर्वक बारी-बारी बैठनेवाले गो.श्रीकिशोरचन्द्रजी गो.श्रीरघुनाथलालजी, श्रीअसित शाह, श्रीभोगीलाल शाह, श्रीरसिक शाह, श्रीधर्मेन्द्र झाला, श्रीजीतुभाई जीवाणी, श्रीहंसमुखभाई, श्रीबिहारी भाई, श्रीजगदीश, श्रीअनिल, श्रीमथुरादास, श्रीमहेन्द्र पालीचा आदि सभीका अथक सहयोग इसमें मुझे मिला है. ग्रन्थमें उद्धृत आकरवचनोंके सन्दर्भ खोजने तथा उन्हें अकारादि क्रममें योजित करनेमें चिरञ्जीवी गोस्वामी श्रीशरद् बावाका सहयोग भी वस्तुतः उल्लेखनीय रहा है. ग्रन्थके आवरकपृष्ठका चित्रसंयोजन श्रीकिरण ठक्करने किया है. मेरे सभी प्रकाशनोंकी तरह इसमें भी कम्प्युटरमें सेटिंग, मुद्रण आदि सभी तरहकी दौड़भाग करनेवाले श्रीमनीष बाराई आदि सभी मेरे सहयोगियोंपर श्रीमहाप्रभुका शुभाशिर्वाद सर्वदा ऐसा ही बना रहे कि ऐसी ग्रन्थसेवा ये सभी सदा करते ही रहें! ऐसी शुभकामनाके साथ...

दीपावली वि.सं.२०५५

गोस्वामी श्याम मनोहर
(मुंबई-किशनगढ़)

※ ग्रन्थमें प्रतिपादित विषयका संक्षिप्त परिचय ※

उपकूलपरिचय :

प्रस्थानरत्नाकरके प्रमाणपरिच्छेदके प्रथम कल्लोलके अन्तर्गत आद्य तरंगसे भी पूर्व उपक्रममें, जिसे हमने 'उपकूल' शीर्षक देना 'रत्नाकर' पदकी संगतिके विचारसे उचित समझा, ग्रन्थकार इस ग्रन्थके ब्रह्मसूत्रानुकारी होनेके निदर्शनार्थ, सर्वप्रथम, प्रमाण प्रमेय साधन तथा फल यों चतुर्धा विचारकी प्रतिज्ञा करते हैं.

वेदान्तचिन्तन मूलतः उपनिषदादि शास्त्रोंके प्रमेयकी मीमांसा होनेसे श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराणादि शास्त्रीय शब्दोंके प्रामाण्यका उपजीवी चिन्तन है.

शास्त्रीय शब्दोंका यह प्रथम एवं परम प्रमाण होना स्वयं उनमें विसंवाद उत्पन्न होनेपर कुण्ठित हो सकता है. अतः शास्त्रके विभिन्न वचनोंमें समन्वय स्थापित हो पाये, ऐसी उपपत्तिओंको शास्त्रप्रामाण्यसंरक्षणार्थ खोजना ही वेदान्तचिन्तनमें प्रमुख पुरुषार्थ सिद्ध होता है. शास्त्रोंके विभिन्न वचनोंमें विसंवाद उत्पन्न होनेपर वे परस्परबाधक बन जायेंगे और उनकेद्वारा प्रकट होता ज्ञान भी परस्परबाधित ज्ञान सिद्ध हो जायेगा. परिणामतः "सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः" न्यायके अनुसरणद्वारा एक वचनका यथाश्रुतार्थप्रामाण्य और अपर वचनका लक्षणा या गौणी वृत्तिओंका सहारा लेकर प्रामाण्यनिर्वाह करना पड़ेगा. इस सन्दर्भमें, परन्तु, श्रीशंकराचार्यके अधोनिर्दिष्ट उद्‌गार प्रत्येक वेदान्तार्थजिज्ञासुके लिये सर्वदा अविस्मरणीय होते हैं:

(१) यत्तु उक्तं "परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि सम्भवेयुः"

इति तदपि मनोरथमात्रं, रूपाद्यभावाद् हि न अयम् अर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः, लिङ्गाद्यभावात् च न अनुमानादीनाम्, आगममात्रसमधिगम्यएवतु अयम् अर्थो धर्मवत् (ब्र.सू.भा.२।१।६).

(२)भृत्येतु स्वामिभृत्यभेदस्य प्रत्यक्षत्वाद् उपपन्नो गौणः 'आत्म' शब्दो— "ममात्मायं भद्रसेनः" इति. अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्टइति नच एतावता शब्दप्रमाणके अर्थे गौणीकल्पना न्याय्या सर्वत्र अनाश्वासप्रसङ्गात्. (ब्र.सू.भा.१।१।७).

अतः वेदोपनिषदादि शास्त्रोंके शब्दैकगम्य तात्पर्यको निर्धारित करनेमें किसी एक शास्त्रवचनके अभिहितार्थको लौकिक प्रत्यक्ष या अनुमान से पहले बाधित सिद्ध करके बादमें लक्षणा या गौणी वृत्तिका सहारा लेकर स्वाभ्युपेत तात्पर्यानुसार वाक्यार्थयोजना करना शास्त्रीय शब्दोंमें अनास्था या अर्धास्था की ही मनोवृत्तिको उजागर करता है. अतः शास्त्रीय वचनोंका परस्पर समन्वित होना वेदान्तव्याख्यानके लिये प्राणदायक बल जैसा तथ्य है. यह श्रीशंकराचार्यसे लेकर परवर्ती सभी वेदान्तव्याख्याताओंको मान्य नीति रही है. अतएव श्रीमध्वाचार्य भी यही बात बड़े जोरशोरसे घोषित करते हैं:

ऋगादयश्च चत्वारः पञ्चरात्रं च भारतम्।
मूलं रामायणं ब्रह्मसूत्रं मानं स्वतः स्मृतम्॥
अविरुद्धन्तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा।
एतद्विरुद्धं यत्तु स्यान्न तन्मानं कथञ्चन॥
वैष्णवानि पुराणानि पञ्चरात्रात्मकत्वतः।
प्रमाणान्येव मन्वाद्याः स्मृतयोऽप्यनुकूलतः॥
.....।
यदेव वाचकं शास्त्रं तद्धि शास्त्रं परं मतम्॥
निर्णयायैव यत्प्रोक्तं ब्रह्मसूत्रन्तु विष्णुना।

व्यासरूपेण तद् ग्राह्यं..... ॥
तस्मात् सूत्रार्थमागृह्य कर्तव्यः सर्वनिर्णयः।
(म.भा.ता.नि.१।३०-४४)

एकस्यापि हि शब्दस्य गौणार्थस्वीकृतौ सताम्।
महती जायते लज्जा यत्र तत्राखिला रवाः॥
अमुख्यार्था इति वदन् यस्तन्मार्गानुवर्तिनाम्।
कथं न जायते लज्जा वक्तुं शाब्दत्वमात्मनः॥
(अनुव्या.१।१।५).

अतः अपने इन पूर्ववर्ती वेदान्तव्याख्याताओंकी वेदान्तव्याख्यानसम्बन्धी घोषित नीतिओंके अनुरूप ही महाप्रभु जब ऐसी ही घोषणा करते हैं कि—

प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः श्रुतिबोधिताः।
परस्परं विरुद्धास्ते नैकशेषं भजन्ति हि।
उभयोर्वैदिकत्वेन कः स्याद् अत्र नियामकः?॥
विचारकानां बुद्धिस्तु सोपजीव्या श्रुतेः सदा॥
.....।
यथा सर्वाविरोधः स्यात्तथैवात्र विचारणम्।
सर्वरूपसमर्थत्वम् अतो ब्रह्मणि गीयते॥
अन्यथा प्रतिभानं यद् उच्चनीचादिभेदतः।
तद् भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः।
(सुबो.२।९।३२)

तो महाप्रभुने भी अपनी वेदान्तव्याख्यानकी ऐसी रीति-नीति सुस्पष्ट करके वेदान्तगोष्ठीमें कोई अश्रुतपूर्व धारणा प्रकट कर दी हो ऐसा माना नहीं जा सकता है.

प्रस्तुत ग्रन्थकार श्रीपुरुषोत्तमजी भी, अतएव, ग्रन्थारम्भमें ही शब्दबलकी चर्चा उठा कर तुरत ही कहते हैं कि 'प्रमाण' शब्दका एक अर्थ तो अबाधित या बाधयोग्यव्यतिरिक्त ज्ञान होता है. इसे ही 'प्रमा' या 'प्रमिति' भी कहा जाता है.

'प्रमाण' शब्दका दूसरा अर्थ होता है : जिन शब्द प्रत्यक्ष अनुमान आदि उपायोंसे ऐसा ज्ञान प्रकट होता हो वैसे उपाय. इन्हें 'प्रमाण' या 'प्रमितिकरण' भी कहा जाता है.

उक्त अबाधितज्ञान अथवा बाधयोग्यव्यतिरिक्तज्ञान रूपी दो भेदोंके कारण, ज्ञानके करण या उपाय भी दो तरहके स्वीकारने पड़ते हैं. अतः इस पहलुको स्पष्ट करनेकेलिये सर्वप्रथम ज्ञानके दशविध रूपोंका निरूपण प्रमाणपरिच्छेदान्तर्गत प्रथम कल्लोलमें करना ग्रन्थकारको अभिलषित है.

प्रमाके स्वरूपको समझनेमें उपयोगी ज्ञानके भेदोपभेदोंको समझानेवाले प्रथम कल्लोलका सार :

[१.दशविधज्ञानका निरूपण] : इस प्रथम कल्लोलमें चार तरंगें हैं, जिनमेंसे आद्य तरंगमें प्रमाके स्वरूपको समझानेकेलिये ज्ञानके नित्यज्ञान और अनित्यज्ञान ऐसे दो प्रकार दिखलाये गये हैं. नित्यज्ञानके पुनः चार अवान्तर और अनित्यज्ञानके छह यों कुल दस प्रकार दिखलाये गये हैं :

(१)नित्यज्ञानके अन्तर्गत सर्वप्रथम तो "सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म", "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयः स्थितः", "स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः" जैसे श्रुति गीता भागवतादि शास्त्रवचनोंके आधारपर निखिल चेतनाचेतनसृष्टिकी उत्पत्ति स्थिति और लय का एकमेवाद्वितीय अभिन्ननिमित्तोपादान कारण तो सर्वरूप सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी

सर्वाश्रय सच्चिदानन्द ब्रह्मको ही समझना चाहिये. जो कुछ प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष मूर्तामूर्त चलाचल नश्वरानश्वर है, वह इसी अविकारी चेतनतत्त्वका नाम-रूप-कर्मात्मक विस्तार है. अतः जीवचेतनाको भी इसी परमचेतनाकी अंशात्मिका अभिव्यक्ति समझ लेनी चाहिये.

(२)द्वितीय प्रकारतया इस ऐसी चेतनामें जब किसी स्वसंकल्पोत्थ स्वेतर विषयका प्रकाशन होता है तब उस स्वयंप्रकाशरूपा चेतनामें परप्रकाशनसामर्थ्यरूप धर्मका भी बोध होता है. यह धर्मरूप चेतना ही शाब्दी प्रमाकी बीजरूपा होती है. भग (स्वभावसिद्ध अपरिच्छिन्न ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य) वान्में तो यह स्वतःसिद्ध रहती है; परन्तु, ब्रह्मांशभूत जीवचेतनामें भगवदिच्छया यथायथ न्यूनाधिकतया प्रकट या अप्रकट हो पाती है.

(३)तृतीय प्रकारतया पारमात्मिक चेतनामें जब पूर्वोक्त प्रकारसे नाम-रूप-कर्मात्मना अपने-आपको अनेकरूपोंमें प्रकट करनेका संकल्प उठता है, तब उक्त संकल्पानुरूप वेदात्मक ज्ञानसमष्टि जो प्रकट होती है, उस रूपमें समझना चाहिये.

(४)चतुर्थ प्रकारतया उस समष्टिमेंसे तत्तत् शब्दरूप व्यष्टिज्ञान प्रकट होते हैं. इन दोनों तीसरे और चौथे प्रकारके ज्ञानोंको मूलतः भगवदाश्रित नित्यज्ञानरूपा परा-वाणीके समष्टिरूप और व्यष्टिरूप समझने चाहिंये. और क्योंकि जीवचेतना पारमात्मिक चेतनाकी ही अंशात्मिका अभिव्यक्ति है, अतः ब्रह्मानुभूतिरहित जीवचेतनामें यह परा वाणी अंशात्मना ही अनुगत या प्रकट हो पाती है.

इस प्रक्रियाका अवलोकन करनेपर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता

है कि स्व-पर-प्रकाशनरूपा चेतना अपने निजरूपमें न तो अचेतनद्रव्योंका केवल कोई संघात आरम्भ या परिणाम रूपी कार्य है और न यह कोई निर्धर्मक-निर्विशेष सत्ता ही केवल है. स्वप्रकाशनार्थ स्वेतरानपेक्षी धर्मीद्वारा जब परप्रकाशन होता है तब उसकी सधर्मकता भी प्रकट हो ही जाती है.

अनित्यज्ञानके छह अवान्तर प्रकार यों दिखलाये गये हैं. यथा :

(१)परा वाणी जब इस सृष्टिमें जीवके भीतर सामान्यतया विषयचेतना या परप्रकाशनसामर्थ्य के रूपमें अभिव्यक्त होती है तो उसे प्रमेयाश्रित या विषयस्फुरणात्मक ज्ञान समझना चाहिये. इस प्रमेयाश्रित ज्ञानका अनन्तविध होना ही इसकी एक विधा है. उल्लिखित नित्यज्ञानके अन्तर्गत तृतीय कोटिके ज्ञान और इस अनित्यंज्ञानके के बीच प्रमुख तारतम्य यह है कि वह सर्वविषयप्रकाशनरूप ज्ञान होता है, जबकि यह अनन्तानन्त विषयोंके अन्तर्गत किसी एकही विषयका अथवा एकाधिक विषय होनेपर उनके एक समूहकाही प्रकाशन(sensation)रूप ज्ञान होता है. इस तरहके ज्ञानमें केवल विषयावभासन या विषयस्फुरण की प्रधानता रहती है, जबकि स्वयं विषयी ज्ञान यहां गौणभावापन्न रहता है. अर्थात् इस स्तरपर किसी तरहका विकल्पाध्यवसाय (cognition) उभर नहीं पाता तो विवेचनात्मक ज्ञान (cogitation) का तो प्रश्न ही अप्रासंगिक हो जाता है.

यही सविषयक ज्ञान जीवचेतनामें प्रधानभावापन्न होनेपर 'पश्यन्ती' नामिका अवस्थाको प्राप्त करके 'प्रमात्राश्रितज्ञान' कहलाता है. इसे केवल विषयप्रकाशनके रूपमें नहीं प्रत्युत विषयप्रकाशनके अनुव्यवसायार्थ सक्षम विषयप्रकाशन समझना चाहिये. ऐसे इस प्रमात्राश्रित ज्ञानमें बाह्याभ्यन्तर

करणनिरपेक्ष जीवकी केवलचेतना समर्थ हो नहीं सकती. अतः बाह्यकरणरूपा पञ्चविध ज्ञानेन्द्रियोंकी सहायतासे यह कार्य जीवचेतनामें सम्पन्न होता है.

(२.क)अतः पांच ज्ञानेन्द्रियोंसे जन्य होनेसे दर्शन श्रवण आघ्राण आस्वादन तथा स्पर्शन रूप इसके पांच प्रकार बन जाते हैं. इसे निर्विकल्पक विषयप्रत्यक्ष समझना चाहिये.

अन्तःकरणको, मन बुद्धि अहंकार तथा चित्त यों, चतुर्ग्रन्थि माना जाता होनेसे प्रमात्राश्रित ज्ञान इन आन्तरिक करणोंवश भी अलग-अलग रूप धारण करता है. यथा :

(२/ख)मनोजन्य ज्ञान अनिश्चयात्मक या संकल्प-विकल्पात्मक होता है.

(२/ग)बुद्धिजन्य ज्ञानके अनेकविध प्रकारोंमें सर्वप्रथम तो एक शरीराभिमति ही आती है. दूसरे प्रकारोंमें [१] संकल्प-विकल्पात्मक मनःसहयुक्त बुद्धिमें प्रकट होती संशयाकारिका बुद्धिवृत्ति, [२] इन्द्रियद्वारा सामान्यज्ञानके बाद प्रकट होती विपर्यासात्मिका बुद्धिवृत्ति, [३] इन्द्रियार्थसंनिकर्षके बाद यथार्थाध्यवसायरूपा बुद्धिवृत्ति, [४] पूर्वानुभूत विषयसंस्कारोंके बुद्धिमें उद्बुद्ध होनेपर प्रकट होती स्मृत्यात्मिका बुद्धिवृत्ति, इसी तरह [५] पूर्वानुभूतिजन्य संस्कारादि हेतुओंके वशात् बुद्ध्युपस्थापित पदार्थोंकी आन्तरिक अनुभूतिरूपा स्वप्नात्मिका बुद्धिवृत्ति भी गिनायी गयी हैं.

(२/घ)अहंकारजन्य ज्ञानमें सर्वप्रथम तो अहमात्मिका अनुभूति जो जाग्रदवस्थासे स्वप्नावस्था पर्यन्त अक्षुण्ण

रहती है और दूसरे स्वप्नज्ञानवाली बुद्धिवृत्ति भी अहंकारके सहयोगवशात् ही उत्पन्न होती है.

(२/ङ)चित्तजन्य ज्ञानमें तो निजात्माके अलावा अन्य कोई भी विषय भासित नहीं होता. अर्थात् यह आत्मैकविषयक होता है और सुषुप्तावस्थामें ही प्रकट हो पाता है.

अनित्यज्ञानके ये छहों प्रकार विजातीय कारणसामग्रीवशात् यथायथ उत्पन्न-नष्ट तो होते रहते हैं; फिरभी, अन्यमतोंकी तरह वाल्लभ मतमें इन (१) तथा (२/क-२/ङ) प्रकारके ज्ञानोंको त्रिक्षणावस्थायी नहीं माना गया है. जन्यज्ञानके इन प्रकारोंके जनित हो जानेपर तो शब्द और विषय उद्दीपक बन जाते हैं. अन्यथा अजनित होनेपर शब्द और विषय जननसामग्रीरूप कारण बनते हैं. संक्षेपमें इस निरूपणके साथ दशविध ज्ञाननिरूपक आद्य तरंग समाप्त होती है.

[२.बुद्ध्याश्रितज्ञाननिरूपक द्वितीय तरंग] : इसके बाद आती द्वितीय तरंगमें ग्रन्थकार बुद्ध्याश्रित ज्ञानके त्रिविध प्रकारोंके प्रतिपादनार्थ प्रवृत्त हुवे हैं. ज्ञानके विविध प्रकारोंके प्राकट्यार्थ जीवचेतना बाह्याभ्यन्तर करणों, अर्थात् पंचज्ञानेन्द्रिय और चतुर्विध अन्तःकरण, के साचिव्यके बिना स्वतः तो सक्षम हो नहीं सकती. और ये सारे उपकरण, जीवचेतनाको, त्रिगुणात्मिका जड़प्रकृतिकी अनेकरूपा परिणतिवशात् ही उपलब्ध होते हैं. अतएव उपकरणोंकी स्वोपादानानुगुण त्रिगुणात्मकताके वश ज्ञानके भी प्रकारोंमें त्रिविधता प्रकट हो जाती है. कुछ ज्ञान सात्त्विक, तो कुछ राजस, तो अन्य कुछ तामस प्रकारके होते हैं. सात्त्विकज्ञान अबाधित या बाधयोग्यव्यतिरिक्त ज्ञान होता है. राजसज्ञान अन्यतर-ज्ञान-बाध-योग्य ज्ञान होता है. तामसज्ञान सात्त्विकज्ञानद्वारा बाधित या बाधयोग्य होता है. भगवद्गीताके अठ्ठारहवें अध्यायके बीस-इक्कीस-बाईसवें श्लोकोंमें मिलती एतद्विषयक विवेचनाके आधारपर इन त्रिविध ज्ञानोंके

पार्थक्यको इस तरह समझा सकता है :

(१)नाम-रूप-कर्मोंकी अनेकविधतामें ब्राह्मिक सदद्वैत या सदेकविधताका भान सात्त्विकज्ञानका मुख्य स्वरूप है.

(२)नाम-रूप-कर्मोंकी अनेकविधतामें ही रची-पची रहनेवाली बुद्धिमें राजसज्ञान ही प्रकट हो पाता है.

(३)अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंमेंसे किसी एक ही नाम, या एक ही रूप, या एक ही कर्म, में निरन्तर उलझी रहनेवाली बुद्धिमें जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह तामस प्रकारका ही होता है.

सत्त्व-रजो-तमो-गुणात्मिका प्रकृतिसे पैदा होनेवाले पञ्चज्ञानेन्द्रिय और चतुर्विध अन्तःकरण रूप प्राकृत उपकरणोंसे घिरी जीवचेतनामें चैतन्यांश अप्राकृत ही होता है. उस चैतन्यके कारण उत्पन्न होते ज्ञानमें, परन्तु, यह सात्त्विकता राजसता या तामसता का जो चरित्र प्रकट होता है वह तो त्रिगुणात्मक उपकरणोंके द्वारा ज्ञानप्राकट्यमें सहयोग प्रदानवश ही सम्भव है. और इस विवेचनाके साथ द्वितीय तरंग समाप्त होती है.

[३.लोकव्यवहारमूलक सविकल्पकज्ञानका निरूपण] : इसके बाद आती तृतीय तरंगमें ग्रन्थकार राजसज्ञानकी विवेचना करते हुवे उसके सर्वप्रथम दो भेद समझाते हैं :

(१)निर्विकल्पकज्ञान

(२)सविकल्पकज्ञान

(१)प्रत्येक राजसज्ञान उत्पन्न होता होनेसे, उसके कारणतया उससे

पूर्व निर्विकल्पकज्ञान प्रकट होता ही है. यह यद्यपि स्वयं तो सन्मात्रावगाही होनेके कारण स्वतः तो सात्त्विकगुणवाला ही होता है परन्तु राजसज्ञानजनक होनेकी नियतिवश इसे राजसज्ञानतया निरूपित किया जाता है. यह निर्विकल्पकज्ञान इतना समर्थ नहीं होता कि नाम-रूप-कर्मोकी अनेकविधताको गौण बना कर उनमें स्पष्टतया ब्राह्मिक सदद्वैतका अध्यवसाय करा पाये. अतः इतना निर्बल सन्मात्रावगाहन करता होनेके कारण और अन्ततः राजसज्ञानसे ग्रस्त हो जानेकी नियतिके कारण भी इसका राजसज्ञानकी कोटिमें ही अन्तर्भाव उचित माना गया है.

(२)इसके बाद निर्विकल्पकज्ञानके, पूर्वमीमांसक बौद्ध केवलाद्वैती नैयायिक आदिको अभिमत, स्वरूपकी तुलनात्मक विवेचना ग्रन्थकारने की है. बादमें सविकल्पकज्ञानकी विवेचना करते हुवे ग्रन्थकार कहते हैं कि किसी भी तरहके विशेषणसे विशिष्ट वस्तुका जब इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है, तब विशेषणविषयक इन्द्रियजन्यज्ञानको हेतुतया स्वीकारना ही पड़ता है. अतएव किसी घड़ेके साथ नयनोंका संसर्ग जुड़ते ही जो निर्विकल्पकज्ञान प्रकट होता है, वही बुद्धिगत रजोगुणसे मिश्रित हो कर सविकल्पकज्ञानमें पर्यवसित हो पाता है. अतएव तभी इन्द्रियसंनिकृष्ट घड़ेके वाचक अश्रूयमाण 'घड़ा' शब्दका स्फुरण भी होने लगता है. इस तरह ''जिसे 'घड़ा' कहा जाता वह यह है'' ऐसा विशिष्टज्ञान उत्पन्न होता है. यही सविकल्पकज्ञान है.

इस सविकल्पकज्ञानके पुनः दो प्रकार दिखलाये गये हैं : (१)विशेषणताप्रकारक (२)उपलक्षणताप्रकारक.

(१)इनमें ''यह दण्डधारी पुरुष है'' ऐसा ज्ञान पुरुषके दण्डधारी होनेके विशेषणका अवभासक होनेसे विशेषणताप्रकारक सविकल्पकज्ञान है.

(२)किसी घरकी छतपर कभी कोई कौआ बैठा हुवा दीख जाये तो "वह घर कि जिसपर कौआ बैठा" घरका ऐसा ज्ञान उपलक्षणरूप कौएके बैठनेके कारण प्रकट होता है. ऐसे ज्ञानको उपलक्षणताप्रकारक सविकल्पकज्ञान समझा जाता है.

सविकल्पकज्ञानको एक और तरहसे देखनेपर पुनः दो भेद यों दिखलायी देते हैं : (१)विशिष्टबुद्धि (२)समूहालम्बनबुद्धि.

(१)एकवस्तुविशेष्यताक ज्ञान, उदाहरणतया, "यह घड़ा है" अथवा "यह दण्डधारी पुरुष है" ऐसा ज्ञान विशिष्टबुद्धि है. क्योंकि दृश्यमान एकवस्तुमें उसके घड़ा होनेके प्रकारका अथवा दृश्यमान एकपुरुषमें उसके दण्डधारी होनेके प्रकारका भासन यहां अनुभूत होता है.

(२)द्वितीय समूहालम्बनबुद्धिमें एक ज्ञानमें एकसाथ अनेकविषयोंका भासन अर्थात् यह अनेकवस्तुविशेष्यताक एकज्ञान होता है. उदाहरणतया "ये घड़ा कपड़ा और थंभा हैं" ऐसी अनुभूतिमें प्रत्येकका पृथक-पृथक नहीं प्रत्युत सभीका एक समूहरूपेण भासन होता है. इस विवेचनाके साथ तृतीय तरंग समाप्त होती है.

[४.पञ्चविधबुद्धिवृत्तिका निरूपण] : इसके बाद चतुर्थ तरंगमें उल्लिखित राजस सविकल्पकज्ञानके अवान्तरभेदरूपेण संशय विपर्यास निश्चय स्मृति और स्वप्न रूपिणी बुद्धिकी पञ्चविध वृत्तिओंकी विवेचना ग्रन्थकारने भागवततृतीयस्कन्धके छब्बीसवें अध्यायके तीसवें श्लोककी सुबोधिनी व्याख्याके आधारपर प्रस्तुत की है. प्राकृत गुणत्रयोंके परस्पर मिश्रण या अन्तर्गुणन के कारण सृष्टिमें केवल सत्त्वगुणात्मकता रजोगुणात्मकता और तमोगुणात्मकता ही प्रतीत नहीं होती; अपितु, कुछ वस्तुओंमें मूलतः सात्त्विकगुणके बावजूद कभी राजस या तामस गुणके आसार भी दृष्टिगत होते हैं. अतः सात्त्विकस्वभाववाली वस्तुओंमें भी सात्त्विक-सात्त्विक

सात्त्विक-राजस सात्त्विक-तामस, राजसस्वभाववाली वस्तुओंमें भी राजस-सात्त्विक राजस-राजस राजस-तामस; इसी तरह तामसस्वभाववाली वस्तुओंमें भी तामस-सात्त्विक तामस-राजस तामस-तामस गुणोंकी बहुविधता उपलब्ध होती है. तदनुसार पूर्वोक्त राजस सविकल्पकज्ञानमें कुछ ज्ञान राजस-सात्त्विक, कुछ ज्ञान राजस-राजस और कुछ ज्ञान राजस-तामस गुणोंको प्रकट करते हैं. तदनुसार संशयात्मक ज्ञान राजस-राजस कोटिका होता है. विपर्यास राजस-तामस कोटिका. निश्चयात्मकज्ञान राजस-सात्त्विक कोटिका होता है.

(१)बुद्धिके राजस-राजसवृत्तिरूप संशयकी परिभाषा यों दी गयी है : यह एक ऐसा ज्ञान है कि जिसमें धर्मिरूप वस्तुके बारेमें परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मरूप कोटिओंका भासन होता है. इस संशयात्मक ज्ञानके दो प्रकार होते हैं :

(क)समकोटिक : जहां परस्पर विरुद्ध संस्कार, परस्पर विरुद्ध प्रकाश; अथवा परस्पर विरुद्ध शब्दों के कारण किसी वस्तुके बारेमें किसी एकतर कोटिका निर्धारण नहीं हो पाता. अतः यहां समकोटिक संशय माना जाना है.

इसके पुनः दो अवान्तर भेद होते हैं :

(क/१)शुद्ध, उदाहरणतया, ऐसा भान कि "पुरःस्थित वस्तु चांदी है या नहीं!".

(क/२)संकीर्ण संशयके पुनः दो भेद हो जाते हैं :

(क/२/अ)साधारणधर्मदर्शनजन्मा संशय तब होता जब किन्हीं दो वस्तुओंके बीच कोई एक साधारण धर्म हो

और उस धर्मके अनुभवमें आनेके कारण संशय पैदा होता हो कि पुरोदृश्यमान वस्तु दोमेंसे कौन सी है. उदाहरणतया सुनसान मार्गपर रात्रीके धुँधलकेमें चलनेवालेको कहीं बांहें फैला कर खड़ा कोई दीखे तो वह कोई लुटेरा पुरुष है या वैसी दो डालीवाला पेड़का कोई ठूंठ है? यह एक जैसी आकृतिके कारण साधारणधर्मवाली दो वस्तुओंमेंसे सामने कोनसी वस्तु है इसका निर्धारण न हो पाना साधारणधर्मके दर्शनके कारण पैदा होता संशय है.

(क/२/आ)दो परस्पर विरुद्ध मान्यता या विधानों के कारण प्रकट होती विप्रतिपत्तिमें किसी एकतरके सच होनेका निश्चय जब न हो पाता हो तब विप्रतिपत्तिजन्मा संशय होता है. उदाहरणतया पार्थिव परमाणु नित्य होते हैं या अनित्य? इसका निश्चय न हो पाना. क्योंकि न्यायमतके अनुसार नित्य होते हैं परन्तु अन्य मतोंके अनुसार अनित्य. इन दोनों धारणाओंमेंसे कौन सी धारणा प्रामाणिक है इसका अनिर्धार 'विप्रतिपत्तिजन्मा संशय' कहलाता है.

(ख)उत्कटकोटिक संशय तब होता है जब किसी एक वस्तुके बारेमें परस्पर विरुद्ध दो कोटिओंमेंसे किसी एककोटिकी ज्ञानजनकसामग्री और संस्कार के प्रबल होनेपर भी अन्यकोटिका भी निरसन न हो पाता हो. अतः संशय बना रहता हो. जब हमें कोई सम्भावना प्रबल लगती है तो उसे भी उत्कटकोटिक संशय ही समझ लेना चाहिये. अनिष्टप्रसंजनात्मक तर्क अर्थात् व्याप्यके आरोपद्वारा व्यापकका आरोप लगाना भी सम्भावनाके ही अन्तर्गत आती ज्ञानकी एक विधा है.

(२)बुद्धिकी राजस-तामसवृत्ति रूपी विपर्यासका प्रतिपादन करते हुवे ग्रन्थकार कहते हैं कि यह ज्ञानका एक ऐसा प्रकार है कि जिसमें हमारी इन्द्रियोंसे गृहीत होनेवाले विषयसे भिन्न ही किसी विषयका अवभास होता है.

इसकी प्रक्रिया यों समझायी गयी है : पूर्वमें हमारी अनुभूतिका विषय बननेवाली किसी वस्तुके संस्कार हमारे बुद्धिमें संगृहीत रहते हैं. ये सादृश्य आदि उद्बोधकोंके कारण प्रबल हो कर इन्द्रियोंसे गृह्यमाण वस्तुके आकारमें बुद्धिवृत्तिको परिणत नहीं होने देते. तब संस्कारवश पनपी बुद्धिवृत्ति, इन्द्रियग्राह्य पुरोवस्थित वस्तुके वास्तविक आकारके बजाय उस संस्कारोत्थ अन्य वस्तुके मायिक(=अवास्तविक) आकारमें आकारित हो कर, उस आकारका पुरोवस्थित वस्तुपर प्रक्षेपण कर देती है.

ग्रन्थकार कहते हैं कि ख्यातिवाद सम्बन्धी विस्तृत विचार अवतारवादावलीमें विस्तारसे किया गया होनेसे यहां संक्षेपमें ही निरूपण पर्याप्त है.

वहां अवतारवादावलीके अन्तर्गत ख्यातिवादमें इतरमतालोचनके अलावा भी कुछ स्पष्टीकरण महत्त्वपूर्ण ये दिये गये हैं : सब कुछ ब्रह्मोपादानक होनेसे जब ब्रह्मात्मक है; और, त्रिवृत्करण या पञ्चीकरण प्रक्रियाके अनुसार इतरेतरात्मक भी, तो सींपपर चांदीके भ्रमकोभी, चांदीका सींपके साथ तादात्म्य होनेसे, सद्वस्तुविषयक भान ही क्यों न स्वीकार लेना चाहिये? उत्तररूपेण यह कहा गया है कि भ्रमज्ञानमें सींपपर चांदीका ज्ञान तो होता है परन्तु सींपका भान नहीं होता. अतः इस तरहके ज्ञानमें कुछ न कुछ तो गड़बड़ स्वीकारनी ही पड़ती है. और वह गड़बड़ यही है कि तत्त्वतः सब कुछ इतरेतरात्मक होनेपर भी सृष्टिमें तत्तद् नाम-रूप-कर्मोंके ऐच्छिक भेदको प्रधान बनाया गया है. अतः 'सींप' नाम जिस सदंशमें प्रधान है वहां सींपके रूपकी और सींपकी

अर्थक्रियाकी भी प्रधानता प्रकट की गयी है. तदनुसार जिस सदंशमें जिस नाम-रूप-कर्मकी प्रधानता हो वहां उसके अलावा अन्य किसी नाम-रूप-कर्मका भास तत्त्वतः सद्वस्तुविषयक होनेपरभी प्रमारूप नहीं माना जाता. क्योंकि एकबार सींप दीखने लग जाय तो चांदी दीखनी बंद हो जाती है और चांदी दीख रही होती तब सींप दिखलायी भी नहीं देती होनेसे दोनोंके इतरेतरात्मक होनेका तत्त्वज्ञान न हो कर इतरेतरव्यावृत्त पहले चांदीका और बादमें सींपका ज्ञान होता है. अतः सब कुछ इतरेतरात्मक होनेपर भी व्यवहारसिद्ध भ्रम-प्रमा-भेदके निर्वाहकेलिये सत्ख्यातिवादानुसारिणी प्रक्रिया पर्याप्त नहीं होती. जबतक ब्रह्मका साक्षात्कार न हो तबतक वस्तुमात्रकी इतरेतरात्मकताकी प्रत्यक्षानुभूति वैसेभी शक्य नहीं. वह तो पूर्णज्ञानी या पूर्णयोगी जनोंको ही अपरोक्षानुभूतितया हो सकती है. अतः इस ओर ब्रह्मके स्वाभाविकाभेद और दूसरी ओर बहुभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्प वश उभरे ऐच्छिक भेदके सिद्धान्तके सन्दर्भमें इन्द्रियसे जुड़े अर्थसे ऐच्छिकभेदवशात् सींपसे भिन्न ऐसी चांदीके भानको स्वीकार कर अन्यख्यातिवाद ही उचित समाधान प्रतीत होता है. जबतक पूर्णज्ञान प्रकट नहीं होता तबतक सींपपर होते चांदीके ज्ञानमें सींपका भान न होना पूर्णज्ञानदृष्ट्या अख्यातिरूप भ्रम माना जा सकता है. अन्यथा सृष्टिलीलासिद्ध ऐच्छिकभेदकी दृष्टिसे तो अन्यख्यातिरूप भ्रम मानना ही उचित है. ऐसी स्थितिमें पुरोवस्थित इन्द्रियसंसृष्ट वस्तु अंशतः या सर्वतः बौद्धिक-मायिक आकारसे आवृत हो जाती है. ऐसी स्थितिमें इन्द्रियग्राह्यसे अन्य किसी विषयका ख्यान या भान होने लगता है. अतः वाल्लभमतके अनुसार विपर्यास अन्यख्यातिरूप ही स्वीकारा गया है.

वाल्लभमतके अनुसार, अतएव, भाट्टोंकी विपरीतख्याति, नैयायिकोंकी अन्यथाख्याति, प्राभाकरोंकी अख्याति, शांकरोंकी अनिर्वचनीयख्याति, विज्ञानवादिओंकी आत्मख्याति, माध्यमिकोंकी असत्ख्याति अथवा सांख्योंकी सदसत्ख्याति वादोंकी प्रक्रियाको भी मान्य नहीं किया गया है.

(३)बुद्धिकी राजस-सात्त्विकी वृत्ति निश्चयाकारिका होती है. निश्चयकी परिभाषा 'यथार्थानुभव' के रूपमें स्वीकारी गयी है. 'यथार्थ' विशेषणका तात्पर्य यह है कि कोई ऐसा ज्ञान जो गृह्यमाण विषयका अतिवर्ती न हो. अर्थात् इन्द्रिय जिस विषयसे जुड़ी हो और वह जिस देश-काल-रूपमें विद्यमान हो उसे उस देश-कालमें उस रूपमें विषय बनाते हुवे बुद्धिवृत्तिका प्रकट होना. आपाततः इसे सुननेपर ऐसा लगता है कि यह लक्षण तो केवल निश्चयात्मक प्रत्यक्षपर ही लागू होता होगा, अनुमानादि प्रमाणजन्य निश्चयोंपर नहीं, क्योंकि धुंएसे जहां आगका अनुमितिरूप निश्चय होता है, वहां स्वयं आग तो इन्द्रियसे गृह्यमाण नहीं होती. बात, परन्तु, ऐसी नहीं है. क्योंकि इन्द्रिय साक्षात् आगसे जुड़ी न होनेपर भी आगसे उत्पन्न होनेवाली धुंएके द्वारा तो आगसे जुड़ी हुई होती ही है. जहां हेतु विद्यमान नहीं, अर्थात् अतीत या भावी कोई हेतु हो, वहां तो केवल सम्भावना ही की जा सकती है, अनुमिति नहीं. इसी तरह, यद्यपि उपमितिको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना गया है तोभी, अनुमितितया वहांभी सादृश्यादिके सहयोगवश इन्द्रियसंसर्ग तो उपपन्न हो ही जाता है. शाब्दनिश्चयके बारेमेंभी इसी तरह, चाक्षुषप्रत्यक्षमें जैसे चक्षुर्ग्राह्य विषय चक्षुःसम्प्रयुक्त होता है, उसी तरह शब्द और शब्दार्थ के बीचभी नित्यसम्बन्ध स्वीकारा गया होनेसे शब्दग्रहणद्वारा विषय गृहीत होता हुवा स्वीकारना चाहिये. अतः शब्दद्वारक अर्थानतिवर्तितारूप याथार्थ्य उपपन्न होता ही है.

यहां एक आशंका यह उठ सकती है कि ऐसा होनेपर तो शब्द नहीं तो पूर्वानुभूतिजन्य संस्कारद्वारा स्मृतिमेंभी यथार्थानुभव होनेका गुण स्वीकारना पड़ेगा. इस विषयमें, परन्तु, सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण यह है कि ज्ञान क्योंकि अर्थप्रकाशनरूप होता है अतः अर्थ उसका ऐसा आधा अंग है जो ज्ञानको यथार्थ बनता है. क्योंकि जैसा अर्थ वैसे अनुभव होनेकी शर्तपर ही तो कोई ज्ञान यथार्थ ज्ञान सिद्ध हो पाता है. एक स्मृतिका काल और दूसरे वह कि स्मृति जिस

अनुभूतिसे जनित संस्कारसे उत्पन्न हुयी उस अनुभूतिका काल यों दो कालोंमें, अर्थात् वर्तमानकालमें स्मर्यमाण और भूतकालमें अनुभूयमान, अर्थका एकरूप होना नियत न होनेसे स्मृति केवल संस्कारवश ही पैदा होती मानी जाती है. अर्थात् संस्कारजनिका अनुभूति और उस अनुभूतिके जनक अर्थसे जनित सिद्ध नहीं हो पाती. निष्कर्षतया ज्ञानरूपा होनेके कारण स्मृति अन्य अनेकविध विषयानुकूल प्रवृत्ति आदि कार्योंको सम्पन्न करनेमें सक्षम होनेपर भी यथार्थानुभूतिके रूपमें मान्य नहीं रखी जा सकती. जैसे शिरोविहीन किसी मनुष्यका धड़ मनुष्य जैसा लगता होनेपर भी मनुष्यतया स्वीकार्य नहीं हो पाता, ऐसे ही अर्थसाहचर्यरहित ज्ञान भी मुख्यांगविहीन होनेसे प्रमाणतया स्वीकार्य नहीं हो पाता.

अतएव स्मृतिसे भिन्न ज्ञानको अनुभूति मानना चाहिये. अनुभूति एक एक ऐसा ज्ञान होती है जो साक्षात् प्रमाणसे पैदा होती है. प्रकृतमें 'साक्षात्' पदका अर्थ होता है : प्रमितिके स्वीकृतद्वारोंसे इतर किसी द्वारके व्यवधानवश पैदा न होना.

इस निश्चयात्मक ज्ञानके दो भेद होते हैं : (१)प्रत्यक्ष (२)परोक्ष. इन्द्रियार्थके परस्पर वास्तविक सम्प्रयोगवश उत्पन्न होनेवाला ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहलाता है. प्रत्यक्षसे भिन्न ज्ञान 'परोक्ष' कहलाता है. इसके भेदोंकी विवेचना अगले तरंगोंमे की जायेगी.

(४)राजस-राजस ज्ञानरूप स्मृति तो संस्कारमात्रजन्य होती है. अथवा संस्कार जहां केवल संस्कारतया जब कोई ज्ञान प्रकट करता हो तब उसे 'स्मृति' कहना चाहिये. अतएव पुरानी देखी हुयी कोई वस्तु या व्यक्ति के पुनः दृष्टिगोचर होनेपर जो उसे हम पहचान पाते हैं, उस प्रत्यभिज्ञाको स्मृतित्वेन मान्य करना आवश्यक नहीं. क्योंकि वह केवल संस्कारवश पैदा होता ज्ञान नहीं है. हम किसी वस्तुको पहचान जो पाते हैं वह तो स्मृतिसहित प्रत्यक्षके कारण

ही.

(५)स्वप्नसृष्टिविषयक ज्ञानको 'स्वाप' कहा जाता है. स्वाप्निकी सृष्टि मायिकसृष्टि मानी गयी है. अतः वह जाग्रत्कालीन सृष्टि जैसी होनेपरभी वह ब्रह्मोपादानिका नहीं होती. माया क्योंकि भगवान्का वास्तविक सामर्थ्य माना गया है कि जिसके कारण कोई वस्तु किसी देश-कालमें आविर्भूत न हो फिरभी उसके दर्शन करानेमें माया समर्थ होती है. मायोपादानिका होनेपर भी मायाकी तरह वास्तविक उस देश-कालमें वास्तविक नहीं होती. इसे भगवत्कर्तृका तो माना गया है परन्तु ब्रह्मोपादानिका नहीं. अतः मायाकरणिका मायोपादानिका सृष्टिकी अनुभूतिको स्वाप्निक अनुभूति मान लेना योग्य है. कुछ स्वप्न सच्चे पड़ते हैं, वहां कोई अलौकिक शक्ति कार्य रही होती है, अतः फलसंवाद उपपन्न हो सकता है परन्तु एतावता स्वाप्निक विषयोंको वास्तविक नहीं माना जा सकता.

सुषुप्ति स्वप्नका अवान्तर भेद है फिरभी सुषुप्तिमें आत्मस्फुरणको स्वतःसिद्ध समझना चाहिये.

अनेकविध विकल्पोंका सम्मोह जहां होता हो ऐसी चिन्ताको सम्भावनाका ही एक रूप समझना चाहिये.

ऊहापोहात्मिका चिन्ताको मानस संशयके रूपमें स्वीकाराना उचित है.

लज्जा भीति आदि तो अहंकारकी ही विविध वृत्तियां होती हैं.

प्रत्यभिज्ञा निश्चयरूपा होती है.

अभिनेताओंद्वारा राम आदिका योग्य अभिनय किये जानेपर राम आदि पात्रोंकी अनुभूति, अनुकार्य राम आदि पात्रोंके वहां उपस्थित न होनेपर भी, नाट्यशास्त्रविहित वेश-क्रिया-संवाद आदिके कारण पैदा होती होनेसे प्रमाधिक्यवशात् नाट्यशास्त्रीयप्रमारूपा ही होती है.

अतएव देवमूर्ति आदिमें देवार्चनशास्त्रविहित देवादिबुद्धि भी शास्त्रीय मर्यादानुरूप प्रमारूपा होनेसे प्रमात्मिका ही होती है.

इस तरह प्रमाके स्वरूपको समझनेमें उपयोगी ज्ञानके अनेकविध भेदोपभेदोंका निरूपण करनेवाली इस चतुर्थ तरंगके साथ प्रथम कल्लोल भी पूर्ण होता है.

प्रमाकरणके स्वरूपका निरूपक द्वितीय कल्लोल :

प्रमारूप ज्ञानके स्वरूपबोधनार्थ ज्ञानके अनेकविध भेदोपभेदोंको समझानेके बाद अब उस प्रमारूप ज्ञानके करणके स्वरूपको समझानेकेलिये प्रवृत्त होते इस कल्लोलमें छह तरंग हैं. उनमें सर्वप्रथम तरंगमें प्रमाकरणसे भी पूर्व करणसामान्यका स्वरूप यदि न समझाया जाये तो प्रमाकरणका स्वरूप कैसे समझमें आ पायेगा, तदर्थ करणसामान्यका स्वरूप निरूपित हुवा है.

[१.करणसामान्यका स्वरूप] : 'करण' शब्दकी व्याख्या करते हुवे ग्रन्थकार कहते हैं कि जो असाधारण कारण सव्यापार हो उसे करण समझना चाहिये. किसीको आविर्भूत कर पाये ऐसी शक्तिके आधारको कारण माना जाता है. किसी उपादानमें एक सम्भावनाके रूपमें रहे कार्यको जो व्यवहारगोचर बना पाये ऐसी शक्तिको आविभार्विका शक्ति माना जाता है. 'आविर्भाव' पदका अर्थ होता है : व्यवहारयोग्य होना. उसके विपरीत 'तिरोभाव' पदका अर्थ होता है : व्यवहारयोग्य न रह जाना. ये दोनों ही शक्तियां मूलतः भगवन्निष्ठ ही होती है, परन्तु

जगत्की प्रत्येक वस्तु भगवान्मेसें भगवदिच्छया प्रकट हुयी होनेके कारण भगवदंशात्मिका होती हैं, अतः आंशिकरूपेण आविर्भाव-तिरोभाव-शक्तियां जागतिक वस्तुओंमें भी उपलब्ध होती ही हैं. अतः व्यवहारमें जिसमें जिसे आविर्भूत करनेकी शक्ति हो उसे उसका कारण; और, जो जहां या जिसके द्वारा आविर्भूत होता हो उसे कार्य समझा जाना चाहिये.

कारणके दो भेद होते हैं : (१)समवायी=उपादान (२)निमित्त. कोई वस्तु जहां तादात्म्यसम्बन्धसे आविर्भूत या उत्पन्न होती हो तो उस वस्तुका उसे समवायी या उपादान कारण माना जाता है. 'समवाय' और 'तादात्म्य' पर्यायवाचक शब्द माने गये हैं. तादात्म्यसम्बन्ध न तो द्वित्वात्यन्ताभावरूप होता है और न एकत्वात्यन्ताभावरूप ही. अतएव इसे भेदसहिष्णु-अभेदरूप स्वीकारा गया है. यह ''एकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय'' जैसे छान्दोग्यादि उपनिषदोंके वचनोंमें निरूपित उस बहुभवनसमर्थ स्वभावतः एकमेवाद्वितीय तत्त्वकी स्वसत्यसंकल्पवशात् अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंमें प्रकट होनेकी श्रुतिसिद्ध कथा है. नृसिंहोत्तरतापिनीश्रुतिमें उस परमतत्त्वको 'अविकारी' कहा गया है, अतः सिद्ध होता है कि सृष्टिभावापन्न होनेपर भी उसके स्वरूपमें कोई विकार प्रकट नहीं होता. ''विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितं जगत्'' इस गीतावचनके अनुसार उसे अंशिरूप भी माना जाता होनेसे, अपने अंशरूप काल कर्म स्वभाव प्रकृति या पुरुष में वह अपनी आविर्भाव-तिरोभावरूपा शक्तिओंको जब अंशतः प्रकट करना चाहता है तो वह तदनुसार प्रकट हो जाती हैं.

ग्रन्थकारने उपादानकारणके अवान्तरभेदोंकी विवेचना परिणाम्युपादान और विवर्तोपादान के रूपमें की है. इनमें परिणाम्युपादानके पुनः दो प्रभेद दिखलाये हैं : (१)अविकृतोपादान (२)विकृतोपादान. कुण्डलादि आभूषणोंका अविकृतोपादान सुवर्ण होता है; जबकि, घड़ेका विकृतोपादान

मिट्टी होती है.

विवर्तोपादानके निरूपणमें ग्रन्थकार कहते हैं कि विवर्त अपने उपादानकारणसे विषमसत्तावाला उसका अन्यथाभाव होता है. उदाहरणतया शुक्तिरजतभ्रान्तिके उदाहरणमें रजताकारिका बुद्धिवृत्तिका विवर्तोपादान बुद्धि बनती है, ऐसा ग्रन्थकारने निरूपण किया है.

वैसे विवर्तोपादान और विवर्त के बीच सत्तावैषम्यकी अवधारणा वाल्लभ वेदान्तका अपना सिद्धान्त न हो कर परमतभाषाके अवलम्बनद्वारा अविकृतोपादानके पृथक् होनेके सिद्धान्तको दृढ करनेका प्रयास लगता है. क्योंकि विपर्यासरूपा बुद्धिवृत्तिको, न तो भगवच्छक्तिरूपा मायासे और न बुद्धिसे ही, विषमप्रकारकी सत्ताके उदाहरणतया स्वीकारा जा सकता है. मायावादमें तो विवर्तको मिथ्या सिद्ध करनेकेलिये ही सत्तावैषम्यपक्ष प्रस्तुत किया गया था. वह ''स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व''रूप होता है अथवा 'स्वात्यन्ताभावसामानाधिकरण्य'रूप होता है. ब्रह्मवादमें जबकि गीताके ''नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'' विधानके अनुसार यदि बुद्धिमें बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती मानी जाती है तो उसका वहां भाव स्वीकारना पड़ेगा और तब उसे असत् नहीं माना जा सकेगा. यदि बुद्धिमें बुद्धिवृत्ति उत्पन्न ही न होती हो किन्तु उसकी उत्पत्तिका केवल मायिक भास होता है, ऐसा मानें तो ऐसे अभावके कारण बुद्धिवृत्ति असत् सिद्ध हो जायेगी. उसे कथमपि 'सत्' नहीं कहा जा सकेगा. अतः उभयतः सत्तावैषम्य सिद्ध नहीं हो पाता. अतः सत्तावैषम्यके आधारपर विवर्तोपादानको परिभाषित करना स्वसिद्धान्तोपपन्न कथा न हो कर परमतभाषया अविकृतोपादानका पार्थक्यनिरूपण ही केवल एकमात्र प्रयोजन प्रतीत होता है. क्योंकि अविकृतोपादानकी तरह विवर्तोपादान भी विवर्तवशात् विकृत नहीं होता. अतः विवर्तोपादान और अविकृतोपादान के बीच पराभिमत सत्तावैषम्य और सत्ताऽवैषम्य को एक सुस्पष्ट विभाजकरेखा बनाया जा सकता

है. यह एक बड़ा लाभ उपादानकारणके इन दोनों प्रकारोंके पृथक्करणका शुद्धाद्वैतवेदान्तको मिल सकता है.

इन ऐसे उपादानकारणोंसे भिन्न अन्य सभी कारणोंके प्रकारोंका निमित्तकारणमें अन्तर्भाव माना गया है.

इसके अलावा एक अन्य दृष्टिकोणसे देखनेपर (१)सामग्रीकारणता और (२)प्रत्येकपर्यवसायिनी कारणता, ये दो और प्रभेद कारणके गिनाये गये हैं.

(१)सामग्रीकारणता कई वस्तुओंके एकसाथ जुट कर कारण बननेपर गृहीत होती है. (२)प्रत्येकपर्यवसायिनी कारणता तत्तत् वस्तुओंमें एकदूसरेके साहचर्य बिना ही गृहीत हो जानेवाली कारणता है.

कारणता गृहीत होती है अन्वय-व्यतिरेकवशात् : जिसके वस्तुके होनेपर अवश्य ही जो कार्य उत्पन्न होता हो तो उसे 'अन्वय' कहा जाता है. जिसके न होनेपर जो उत्पन्न हो ही न पाये उसे उसका उसके साथ 'व्यतिरेक' कहा जाता है. किसी कारणको कार्यजननार्थ जिसकी आवश्यक उपयोगिता हो उसे व्यापार समझना चाहिये. ऐसे व्यापारवान् कारणको 'करण' कहा जात है. इस विवेचानाके साथ प्रथम तरंग समाप्त होती है.

इस प्रथम तरंगकी, इसके बाद आती, द्वितीय तरंगके साथ संगति यही है कि प्रमाजनक असाधारण कारणोंको जिनकी उपयोगिता नियत हो ऐसे सभी व्यापारवान् कारणोंको 'प्रमाकरण' या 'प्रमाण' के रूपमें समझाया जा सके. अतः करणसामान्य समझा देनेके बाद अब इस प्रमाकरणको सरलताके साथ समझाया जा सकता है.

[२.शाब्दप्रमाके करणका निरूपण] : जैसाकि पहले ही निरूपण

कर चुके, तदनुसार, वेदान्तचिन्तन श्रुत्यादि शास्त्रोंके शब्दोंकी समन्वित व्याख्या प्रस्तुत करनेको प्रवृत्त होनेवाला चिन्तन है. अतः स्वाभाविक है कि श्रुत्यादि शास्त्रोंके शब्दोंका प्रामाण्य अन्य सभी प्रमाणोंकी तुलनामें प्रमुखतम होता है. शास्त्रोंमें भी सर्वमूर्धन्य तो श्रुतिके शब्द ही होते हैं. क्योंकि श्रुतिके शब्दोंका अपने अर्थके साथ सम्बन्ध नित्य होता है, अतः श्रौतशब्दद्वारा जायमान ज्ञान कभी श्रौतार्थका व्यभिचारी नहीं हो सकता. साथ ही साथ श्रौतशब्दोंसे जायमान ज्ञान किसी लौकिकप्रमाणसे जन्य भी नहीं हो सकता. अतएव श्रौतशब्दोंसे जायमान ज्ञानका बाध भी लौकिकप्रमाणोंसे शक्य नहीं. और क्योंकि महर्षि व्यासके दर्शनमें ब्रह्मप्रमितिके करणतया श्रौतशब्दोंकोही मान्य रखा गया है, अतः अन्य सारे प्रमाण इसमें कहीं-कभी पैदा होते सन्देहोंके निरसनार्थ ही केवल अपेक्षित होते हैं. अतः श्रुत्यादि शास्त्रोंके शब्दोंके अलावा दूसरे सारे प्रमाणोंकी गणना केवल लोकव्यवहारके निर्वाहार्थ ही अपेक्षित होती है. श्रुत्यादि शास्त्रोंके शब्दोंसे अविरुद्ध यदि कोई प्रमाणगणना करनी हो तो वह इस तरह की जा सकती है.

भागवतपुराणके एकादशस्कन्धके उन्नीसवें अध्यायके सतरहवें श्लोकमें यह कहा गया है—(१)श्रुति (२)प्रत्यक्ष (३)ऐतिह्य (४)अनुमान यों चार तरहके प्रमाण होते हैं. इसी तरह तैत्तिरीयारण्यक(१।२।१)में स्वयं श्रुतिका प्रामाण्यविधान अप्रसक्त होनेसे श्रुत्यर्थकी उपोद्बलिका (१)स्मृति (२)प्रत्यक्ष (३)ऐतिह्य (४)अनुमान के प्रमाण होनेका विधानात्मक परिगणन भी उपलब्ध होता है.

अतः इस व्यवस्थाको स्वीकार करके ही इस प्रमाणक्रममें सर्वप्रथम श्रुतिके प्रामाण्यका निरूपण किया जाना है. इनमें ऐतिह्यको जो प्रमाणत्वेन दिखलाया गया है, वह ऋषिओंद्वारा किया गया पूर्ववृत्तका स्मरण है. इसे व्याससूत्रोंमें भी समादृत किया गया होनेसे यहां भी स्वीकारा गया है.

इनके अलावा दूसरे जो भी ज्ञानजनक उपाय प्रमाणतया प्रतीत होते हों वे सभी इनके द्वारा प्रकट होते ज्ञानमें किसी न किसी तरह उपकारक होते होनेसे इनके अंगभूत होते हैं, स्वतन्त्र नहीं.

श्रौतागमविरुद्ध जो भी कोई प्रमाण हो उसे तो श्रौतार्थनिर्णयमें अप्रमाण मान कर चलनेपर ही यह वेदान्तचिन्तन भलीभांति सम्पन्न हो पाता है.

यह तो दिखलाया जा चुका कि बुद्धिमें सात्त्विक गुणके प्रबल होनेपर ही बाधयोग्यव्यतिरिक्त प्रमात्मक ज्ञान वहां उत्पन्न होता है. वेदानुसारी योगसाधनाद्वारा ऐसा सत्त्वगुण जिनका प्रबल बना हो ऐसे ऋषियोंसे प्रारम्भ करके ईश्वरपर्यन्त आप्तताके अधिकाधिक उत्कर्षवशात् ईश्वरके वचनरूप वेदोंमें परम आप्तता सिद्ध होती है. अतः ईश्वरोपदेशरूप वेदके शब्दोंका सर्वनिरपेक्ष प्रामाण्य सिद्ध होता है.

इसके बाद ग्रन्थकारने न्याय-वैशषिकमतोंके सन्दर्भमें शब्दके स्वतन्त्र प्रामाण्यका विचार करके शब्दके पृथक् प्रमाण होनेकी उपपत्तिओंको सुनिर्धारित किया है कि अनुमानमें शब्दका अन्तर्भाव उपपन्न नहीं हो पाता. शब्द और प्रत्यक्ष के परस्पर विरुद्ध होनेपर शब्दकी गौणता सम्भव नहीं है. क्योंकि शब्दको सुने या जाने मात्रकेलिये प्रत्यक्षपर निर्भर होना पड़ता है. सुने गये शब्दोंद्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे उत्पन्न करनेमें शब्द प्रत्यक्षका कभी मोहताज नहीं होता. क्योंकि लौकिक प्रत्यक्षसे अगम्य वस्तुका ज्ञान भी शब्दप्रमाणद्वारा प्राप्त होता देखा जा सकता है. अतः लोकानधिगतार्थ विषयोंके ज्ञापक होनेके कारण श्रौत शब्दोंका प्रामाण्य प्रमाणान्तराबाध्य स्वीकारना आवश्यक है. इससे वेदात्मक शब्दोंकी मूर्धन्यता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है.

इसके बाद ग्रन्थकार कहते हैं कि वेदके प्रामाण्यका विचार

वैसे तो [1]शब्द [2]शब्दार्थ और [3]शब्दार्थसम्बन्ध के क्रमानुसार करना उचित होता परन्तु एक तो शब्दके बारेमें बहुत कुछ विचारणीय है, दूसरे श्रुति स्मृति पुराण आदिके परमप्रतिपाद्य ब्रह्मका विचार स्वयं महर्षि वेदव्यासने भी शब्दविचारसे पहले किया है अतः; और, तीसरे शब्दार्थसम्बन्धके बारेमें बहुत विचारणीय न होनेसे भी सर्वप्रथम सम्बन्धविचार ही कर लेना उचित होगा.

शब्दार्थसम्बन्धविचारके प्रसंगमें यह प्रमुख विचार्य विषय है कि वेद और वेदार्थ के सम्बन्धको नित्य न माना जाये तो वाच्य-वाचककी भी नित्यता सिद्ध नहीं होगी. प्रथम कल्लोलके चतुर्थ तरंगमें यह प्रतिपादित किया गया था कि जैसे चक्षुरादि इन्द्रियोंसे पदार्थोपस्थिति होती है, ऐसे ही शब्दके नित्य अर्थसम्बद्ध होनेके कारण, शब्दोंसे भी शब्दार्थोपस्थिति होती है. यह धारणा शब्द और शब्दार्थ के अनित्य होनेपर उनके सम्बन्धकी भी अनित्यता सिद्ध करेगी. और तब शब्दार्थनित्यसम्बन्धताके आधारपर प्रस्तुत शब्दप्रामाण्यवाद ही खण्डित हो जायेगा. इस सन्दर्भमें जैमिनीयोंके बौद्धोंके वैशेपिकोंके भाट्टोंके प्राभाकरोंके; तथा, शांकर माध्व विज्ञानभिक्षु के विभिन्न मतोंके विमर्शके बाद ग्रन्थकार निष्कृष्ट स्वमत यह दिखलाते हैं कि शब्दोंका केवल जाति या आकृति मात्रके साथ सम्बन्ध माना नहीं जा सकता. क्योंकि ऐसा माननेपर व्यक्तिबोधनांशमें शब्दोंका प्रमाण होना बाधित हो जायेगा. समानसंवित्संवेद्य होनेके कारण व्यक्ति-आकृति(जाति) दोनोंके साथ सम्बन्ध स्वीकारनेपर 'गो'पद और 'गोत्व'पद को पर्यायवाची मानना पड़ेगा. ''यः सिक्तरेताः स्यात् स प्रथमाम् उपदध्यात्'' जैसे श्रुतिवचनोंमें निरूपित सिक्तरेता व्यक्तिकी आकृति क्या-कैसी हो सकती है? अतः मीमांसकोंके आकृतिपक्षसे अपना मतपार्थक्य दिखलाते हुवे ग्रन्थकारने शब्दका सम्बन्ध व्यक्तिके साथ ही निर्धारित किया है. व्यक्तिओंके अनित्य होनेके कारण पुनः सम्बन्धको भी अनित्य क्यों न मान लिया जाये? ऐसी आशंकाका परिहार तो इस तरह हो जाता है कि तैत्तिरीयारण्यकके ''सर्वाणि

रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते'', कठोपनिषद् तथा मुण्डकोपनिषद् के ''तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वम्'', छान्दोग्योपनिषद्के ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' तथा ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'', भगवद्गीताके ''वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः'' भागवतके ''मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम् एतावान् सर्ववेदार्थो'' पुरुषसूक्तव्याख्यानात्मक भागवतके ''यदास्य नाभ्यान्नलिनाद् अहमासं महात्मनः नाविदं यज्ञसम्भारान् पुरुषावयवाद् ऋते...पुरुषावयवैरेते सम्भाराः सम्भृता मया'' जैसे वचनोंके आधारपर सारे के सारे वैदिक शब्द नित्य भगवदवयवात्मक व्यक्तिओंके वाचक होते हैं. अतः परविद्याके अनुरोधवश तो वैदिक पद तथा वैदिक पदार्थ दोनों ही नित्य सिद्ध होते ही हैं.

लौकिक पदार्थोंके अनुवादक श्रौत शब्द भी व्यक्तिप्रवाहके वाचक होनेसे उनका भी प्रवाहनित्यताके साथ सम्बन्ध स्वीकारनेमें कोई बाधा नहीं. यहां ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये कि शब्दोंको व्यक्तिवाचक न मान कर व्यक्तिप्रवाहका वाचक माननेपर व्यक्तिबोधके बजाय प्रवाहका ही बोध क्यों नही होता? 'वेद' 'पिता' 'माता' या 'नदी' आदि शब्द जैसे प्रवाह या अवयवी के वाचक होते हैं ऐसे ही प्रवाहघटक व्यक्ति या उसके अवयवोंके भी वाचक होते हैं.

सम्प्रति अनुष्ठीयमान यज्ञादि कर्मोंमें भगवदवयवभूत नित्य पदार्थोंका विनियोग सम्भव न होनेसे, कर्मबोधक श्रुतिवचनोंकी तत्तत् कर्मोंमें तत्तद् द्रव्योंके विनियोगके उपदेशकी सार्थकता खण्डित हो जानेकी आशंका भी निरर्थक है. क्योंकि प्रोक्षण-आधान आदि श्रौत संस्कारवशात् लौकिक पदार्थोंमें भी भगवदवयवरूप नित्य पदार्थोंका आवेश उपपन्न हो ही सकता है. अतः लौकिक पदोंका लौकिक व्यक्तिरूप पदार्थके साथ प्रत्याय्य-प्रत्यायकभाव सम्बन्ध स्वीकार लेनेमें कोई बाधा नहीं है.

इतना अवश्य इस सन्दर्भमें अवधेय है कि वेदका नित्यत्व

स्वरूपेण विवक्षित है, शब्दप्रवाहरूपेण नहीं. क्योंकि तैत्तिरीयसंहिताके ''वाचा विरूपनित्यया'' और कूर्मपुराणके ''अनादिनिधना नित्या वाग्'' वचनके आधारपर यही सिद्ध होता है.

सधर्मकद्रव्य, उदाहरणतया घटत्वरूप-धर्म-विशिष्ट घटरूप द्रव्य, से भिन्न नित्यानेकसमवेतरूपा जाति और तत्समवायी द्रव्य जैसा कोई पदार्थ तो वाल्लभ वेदान्तमें मान्य है ही नहीं. अतः न्यायादिदर्शनाभिमत अनित्य धर्मिरूप पदार्थोंमें समवेत नित्यधर्मरूप सामान्यके सिद्धान्तसे यह सर्वथा विपरीत कथा है. वाल्लभ वेदान्तके अनुसार ''घट है'' ''पट है'' आदि अनुभूतिओंमें जो सत्ताका बोध होता है, वह इनके सदुपादानक होनेके कारण होता माना गया है, नकि सत्त्वसामान्यसमवायी होनेके रूपमें. सभी प्रत्ययोंमें सदनुगम तथा शब्दानुगम की नियतिका विचार करनेपर तो धर्मिवाचक 'घट' आदिपदोंकी तरह 'घटत्व' सदृश धर्मवाचक पद भी मूलतः तो घटादिरूपोंमें उपादानतया सद्वस्तुके अनुगमके ही वाचक ही सिद्ध होते हैं. सो नित्यसम्बन्धार्थ जात्याश्रय स्वीकारनेकी तो आवश्यकता वाल्लभ वेदान्तमें है नहीं. फिरभी 'घट' और 'घटत्व' परस्पर पर्यायवाचक पद तो हो नहीं सकते. क्योंकि न तो ये दोनों अत्यन्त भिन्नार्थक हो सकते हैं न सर्वथा पर्यायवाचक ही. अतः 'घट' शब्दका अर्थ होता है : ब्रह्मके सदंशमें आविर्भूत एक पृथुबुध्नोदराकृतिरूप रूपविशेष. इसी तरह 'घटत्व' शब्दका अर्थ होता है : पृथुबुध्नोदराकृति रूपविशेषके सदुपादानक होनेके कारण कारणस्वरूपानुगुणा सदनुगति. मृत्तिकासे निर्मित घटमें जैसे मृत्तिकानुगम होता है ऐसे ही पृथ्वीत्वानुगम भी होता ही है. अतः सदनुगमरहित तो कोई भी विद्यमान वस्तु हो ही नही सकती. निष्कर्षतया क्योंकि यह जगत् परमनित्य ब्रह्मके नाम-रूप-कर्मोंका विस्तार है, अतः सारेके सारे नाम-रूप-कर्म स्वयं नित्यब्रह्मसमवेत है. अतएव शब्द और शब्दार्थ के नित्यसम्बन्धकी सिद्धिके हेतु नित्यानेकसमवेत सामान्यरूप एक पृथक् जातिरूप पदार्थकी कल्पना वाल्लभ मतमें अपेक्षित नहीं.

ब्रह्मकी अभिन्ननिमित्तोपादानरूपा कारणताके निरूपक श्रुतिवचनोंको अर्थात् सृष्ट्युत्पत्तिनिरूपक तथा सृष्टिकी ब्रह्मात्मकताके निरूपक वचनोंको जो विचारक अर्थवाद कह कर गौण बनाते हैं, उनसे वाल्लभ वेदान्त यह पूछना चाहता है कि वेदके इन वचनोंको 'अर्थवाद' कह कर क्या असदर्थबोधक मानना उन्हें अभिप्रेत है? या स्वार्थमें अप्रमाण मानना? या स्तुतिपरक मानना?

असदर्थबोधक माननेपर तो वेदको प्रतारक भी स्वीकारना पड़ेगा. तब तो समूचे वेदका प्रामाण्य ही खण्डित हो जायेगा! इसी तरह लौकिक प्रमाणोंसे बाधित होनेके कारण जो स्वार्थमें अप्रमाण माना जाता हो तो वेदोंका स्वतःप्रामाण्य खण्डित हो जायेगा. किसी दोषके निदर्शनद्वारा परतोअप्रामाण्य स्वीकारनेपर वेदवचनोंके अपौरुषेय होनेके कारण पुरुषदोषरहित होनेकी बात भी वदतोव्याघात सिद्ध होगी. साथ ही साथ स्वार्थमें ऐसे वचनोंका प्रामाण्य न स्वीकारनेपर इनकेद्वारा की जाती स्तुति भी मिथ्यानिरूपण सिद्ध होगी जो पुनः प्रामाण्यको ही खण्डित कर देनेवाली बात होगी. वस्तुतस्तु लौकिक किसी पुरुषद्वारा निर्मित न होना ही उसके अपौरुषेय होनेका सच्चा अभिप्राय है. परमपुरुष परमेश्वरके निःश्वासरूप होनेसे वेद ईश्वरकृत तो है ही. साथ ही साथ ईश्वरनिःश्वासरूप होना भी इस बातकी पुष्टि करता है कि प्रत्येक कल्पमें समानानुपूर्वीसे यह परमेश्वरके निःश्वासतया प्रकट होता रहता होनेसे स्वरूपतः नित्य भी है.

अतः वैदिक शब्दोंकी स्वार्थबोधक शक्ति वैदिक व्यक्तिरूप नित्य भगवदवयार्थकी नित्यवाचिका होनेसे स्वयं भी नित्य है.

लोकमें लौकिक पदार्थोंकी आकृतिके वाचकतया स्वीकारनेपर भी शब्द और उसके अर्थ के नित्य सम्बन्धके सिद्धान्तमें कोई हानि नहीं है.

इसके बाद शब्दस्वरूपके विचारार्थ प्रवृत्त होनेको शब्दोंका नित्यत्व प्रतिपादित करते हुवे ग्रन्थकार कहते हैं कि स्वयं वेद जब अपने-आपको नित्यशब्दराशी होनेके रूपमें प्रस्तुत करता है तो वेदके वर्णों या शब्दों को भी नित्य ही स्वीकारना उचित बात होगी. नित्य होनेके बावजूद वर्ण पद या वाक्य कभी सुनायी देते हैं तो कभी नहीं, इसमें कारण यही है कि वे कभी आविर्भूत होते हैं तो कभी नहीं.

अतएव नैयायिकमताभिप्रेत शब्दोत्पत्तिकी प्रक्रियाको अस्वीकार करके ग्रन्थकारने वाल्लभ वेदान्तके अनुसार इस प्रकियाका निरूपण यों किया है : आभ्यन्तर तथा बाह्य उभयत्र शब्दकी अभिव्यक्तिमें प्रायशः वायु ही निमित्त होती है, कहीं-कहीं दो द्रव्योंका आपसी घर्षण भी निमित्त बनता है. अतः शब्द पांचो ही महाभूतोंमें शब्द समवेत हो सकता है, आकाशका विशेषगुण होनेके बावजूद. शब्दात्मिका ध्वनि, अपने विसरणशील स्वभाववश ही, जहां प्रकट होती है वहांसे चारों दिशाओंमें कुछ दूर जाती है. वायुके माध्यमसे भी शब्द कुछ काल तक कुछ दूरी तक जाता है. अतएव ध्वनि भी घट आदि पदार्थोंकी तरह चिरस्थायी होनेसे वायुके द्वारा उत्पत्तिस्थलसे अन्यत्र ले जायी जा सकती है. यह जैमिनिमत, इस अंशमें, वाल्लभ वेदान्तको मान्य ही है. इस विषयमें अन्तर केवल इतना और भी है कि हमारे कानोंमें ध्वनिके गृहीत होनेपर ध्वनिके उत्पत्तिस्थल या उद्गमकी दिशा जो प्रतीत होती है वह, श्रीपार्थसारथिद्वारा निरूपित प्रक्रियाके विपरीत, स्वयं ध्वनिगत सामर्थ्यके कारण नहीं बल्कि वायुके कारण ही सम्भव होता है. वायु ही ध्वनिका नयन करती है, ऐसा भागवतमें विधान उपलब्ध होता है. अतः ध्वनिप्राकट्यदेशका और उसकी दिशाका बोध उत्पन्न करनेमें वायु निमित्त बनती है. शब्दोंकी अभिव्यञ्जक ध्वनियां वायुके कारण अल्पाधिक हो कर शब्दमें अल्पाधिकभावके आरोपणका निमित्त बनती हैं. अन्यथा शब्द अपने-आपमें तो सदा नित्य एवं व्यापक ही होता है. आकाश, जैसे, व्यापक होनेपर भी आकाशके प्रदेश

परिच्छिन्न होते हैं, इसी तरह शब्द स्वयं व्यापक होनेपर भी उसके अंशभूत वर्णादि परिच्छिन्न होते हैं.

इसके बाद ग्रन्थकार इस मीमांसार्थ प्रवृत्त हुवे हैं कि "यह वही शब्द है" ऐसी प्रत्यभिज्ञाके वश शब्दोंकी नित्यता तथा अर्थप्रत्यायकता जो प्रतिपादित की गयी वह वर्णोंके रूपमें सम्पन्न होती है, या पदोंके रूपमें अथवा तो वाक्योंके रूपमें ?

न वर्ण न पद और न वाक्य किन्तु वर्णाभिव्यंग्य स्फोटका सिद्धान्त स्वीकारनेवाले प्राचीन वैयाकरण, वर्णरूपेण शब्दको नित्य माननेवाले मीमांसक, वर्णव्यंग्य पदव्यंग्य एवं वाक्यव्यंग्य स्फोटको स्वीकारनेवाले नव्यवैयाकरण, इतरान्वित पदोंमें वाचकत्व स्वीकारनेवाले श्रीनृसिंहाश्रम, आकांक्षादिके सहकारवश पदोंको ही वाक्यार्थबोधजनक माननेवाले चिन्तकोंके मतोंको ग्रन्थकार स्वीकार्य नहीं मानते.

वाल्लभ वेदान्तके अनुसार वैदिक वर्ण हो, पद हो, वाक्य हो या महावाक्य, वैसे तो सभी भगवद्वाचक होते हैं परन्तु सृष्टिलीलामें "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यद् आस्ते" जैसे श्रुतिवचनोंके आधारपर सभी वर्णो पदों वाक्यों और महावाक्यों में तत्तत् नाम-रूप-कर्मोंके वाचकतया शक्तिसंकोचकी प्रक्रिया स्वीकारी गयी है. तदनुसार सभीमें स्व-स्वार्थवाचकता मान्य रखी गयी होनेपर भी वर्णसमुदायात्मक पदार्थबोधको उत्पन्न करनेमें तत्तद् वर्ण केवल स्मारक ही रह जाते हैं, वाचक नहीं, अन्यथा वाचक होनेपर भी. इसी तरह पदसमुदायात्मक वाक्यार्थबोधको उत्पन्न करनेमें तत्तत् पद स्व-स्वार्थके स्मारक ही रह जाते हैं वाचक नहीं. इसी तरह वाक्यसमुदायात्मक महावाक्यमें तत्तद् वाक्य भी स्व-स्वार्थस्मारक ही रह जाते हैं, वाचक नहीं. अतः वर्ण पद एवं वाक्य तीनोंकी वाचकता सिद्धान्ताभिमत ही है. अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि पदोंके द्वारा पदार्थबोध जब

उत्पन्न होता है तब पदशक्तिकी स्मृति एक अभ्युपाय है और वाक्यके द्वारा शाब्दबोध जब उत्पन्न होता है तब वाक्यावयवभूत पदजन्य पदार्थस्मृति सहकारिणी बनती है. इसी तरह महावाक्यमें अवान्तरवाक्यजन्य अवान्तरवाक्यार्थस्मृति सहकारिणी बनती है. 'वाक्य' शब्दका अर्थ होता है : पदार्थोंका परस्पर संसर्ग. अतः वाक्यपदीयके "न वाक्यमें पद होते हैं, न पदमें वर्ण ही; और न वर्णोंमें अवयव ही" ऐसे विधानोंका सिद्धान्ताभिमत समाधान यही है कि वाचक वर्ण अथवा वाचक पद वाक्य में नहीं होते, एतावता अवाचक स्मारक भी नहीं हो सकते ऐसा कहा नहीं जा सकता है.

वस्तुतस्तु माण्डुक्योपनिषद्के " 'ॐ' इत्येतद् अक्षरम् इदं सर्वं तस्य उपव्याख्यानम्" तथा ऐतरेयोपनिषद्के "अकारो वै सर्वा वाक्" जैसे वचनोंके आधारपर वाणीमात्र 'अ'कार या 'ॐ'कार का विस्तार है. अतः लौकिक हो या वैदिक सभी वर्ण पद या वाक्योंकी मौलिक भगवद्वाचकता श्रौतसिद्धान्ततया मान्य रखनी ही चाहिये. वैयाकरणोंके मतके अनुसार सभी पद सभी अर्थों या सत्ता के वाचक होते हैं, इसका वास्तविक अभिप्राय यही है कि स्वयं ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप है अतः सभी उसीके वाचक हैं. तत्तद् नाम-रूप-कर्मोंके वाचक तत्तद् वर्ण पद वाक्य बन पायें ऐसा शक्तिसंकोच भगवदिच्छया भगवल्लीलाके रूपमें ही केवल प्रकट हुवा है.

इस सन्दर्भमें एक और शंका यह उठा कर निरस्त की गयी है कि लौकिक वर्ण-पदोंको और वैदिक वर्ण-पदोंको सुननेपर दोनोंमें कोई तारतम्य तो अनुभूत नहीं होता, तो इस लौकिक-वैदिक विभागको प्रामाणिक कैसे माना जाये? इस सन्दर्भमें भाट्टोंके लोकवेदाधिकरणकी जैमिनिसूत्रमूलकताका अस्वीकार करते हुवे ग्रन्थकारने व्याकरणशास्त्र तथा छन्दशास्त्र के अलावा अध्यापनाध्ययनादिके नियमोंके भेदके आधारपर भी दोनोंमें तारतम्यके सिद्धान्तको उचित ठहराया है.

वेदके सभी वर्ण पद वाक्यों के द्वारा प्राथमिकतया वाच्य तो केवल भगवान् ही होते हैं. परन्तु पूर्वोक्त शक्तिसंकोचकी प्रक्रियाद्वारा लीलार्थ प्रकट भगवान्के अनेकानेक रूप भी बन जाते हैं. यही बात पुराणोंपर भी लागू होती है क्योंकि छान्दोग्योपनिषद्के "इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदः" तथा "पुराणं हृदयं स्मृतम" जैसे श्रौत-पौराणिक वचनोंके आधारपर वेदके वास्तविक अभिप्रायको ही इतिहास-पुराण भी प्रकट करना चाहते हैं, ऐसा स्वयं श्रुतिपुराणोंका अभिगम होनेसे इन्हें वेदवत् स्वीकारा गया है. इन ग्रन्थोंके अलावा अन्यत्र वाक्यार्थ बुद्धिकल्पित होनेसे अव्यवहिततया भगवद्वाचक नहीं होते. अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि भगवद्गीता-भागवतपुराण वैयासदर्शन और व्याकरण के आधारपर शब्दादिके स्वरूपको विचारनेपर शब्दका अर्थके साथ जो नित्यसम्बन्ध स्वीकारा गया है, वह भगवद्रूप अर्थके सन्दर्भमें ही कही गयी बात है. क्योंकि व्यवहारमें पदोंका नित्यसम्बन्ध प्रवाहरूप अर्थके साथ भी स्वीकारा गया है.

इसके बाद ग्रन्थकार इस विचारकेलिये प्रवृत्त हुवे हैं कि यदि वैदिक पद-पदार्थ लौकिक पद-पदार्थोंसे भिन्न हों तो किसी वैदिक पदकी उसके वाच्यार्थमें शक्ति कैसे और कहां गृहीत हो पायेगी? और इसी तरह सिद्धान्ततः लौकिक पद-पदार्थोंकी शक्ति भी कहां-कैसे गृहीत होती है.

उत्तररूपेण यह समझाया गया है कि सर्वप्रथम तो श्वेताश्वतरोपनिषद्के "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देवम् आत्मबुद्धिप्रकाशम्" जैसे वचनके आधारपर भगवत्कृपा तो सर्वप्रथम हेतु है ही. साथ ही साथ ब्रह्माजीको जो आद्य उपदेश भगवान् नारायणने दिया उसके बाद ब्रह्माजीने अन्यान्य ऋषिओंको तथा अपने मानस पुत्रोंको जो उपदेश दिया, यों इन उपदेशपरम्पराओंसे प्रवर्तित हुवे विभिन्न वैदिक सम्प्रदायोंके आचार्योंद्वारा दिये जाते उपदेशोंके कारण

भी वैदिक शब्दोंका उन-उन अर्थोंके साथ सम्बन्ध गृहीत हो पाता है.

इससे विपरीत अधोनिर्दिष्ट प्रक्रियाको ग्रन्थकार अमान्य करते हैं :

> [१] पहले कोई बालक किसी प्रयोज्यवृद्धको ''घड़ा लाओ और कपड़ा ले जाओ!'' जैसे प्रयोजकवृद्धद्वारा कहे जाते वचनको सुनता है. [२] बादमें प्रयोज्यवृद्धको घड़ा लाते और कपड़ा ले जाते देखता है. [३] अतः ऐसे शब्दोच्चारणकी क्रियासे पैदा होते प्रयत्न, [४] उस प्रयत्नके कारणतया वैसी इच्छा, [५] उस इच्छाके कारणतया वैसे ज्ञानका, वह बालक, [६] स्वयंके समझनेकी प्रक्रियाकी समानताके आधारपर अनुमान कर लेता है. फलतः [७] ''घड़ा लाओ और कपड़ा ले जाओ!'' वचनमें 'घड़ा' 'कपड़ा' 'लाना' और 'ले जाना' पदोंके तत्तद् अर्थोंके साथ तत्तत् शब्दोंका सम्बन्ध वह गृहीत कर लेता है.

इतनी जटिल आनुमानिक प्रक्रियाद्वारा कोई बालक शब्दोंके साथ अर्थोंका सम्बन्ध निर्धारित करता हो ऐसा आवश्यक नहीं लगता. क्योंकि इस तरहके अनुमानमें या तो व्याप्तिज्ञानकी कारणताका अस्वीकार करना पड़ेगा या फिर एक बालकके भीतर भी जटिल आनुमानिक प्रक्रिया कर पानेकी प्रौढ़बुद्धि स्वीकारनी पड़ेगी. अतः शब्दार्थसम्बन्धग्रहणकी इस प्रक्रियाको अनिवार्य नहीं माना गया है. ब्रह्माजीको जब भगवान्ने वेदोपदेश दिया तब ऐसा कोई प्रयोज्यवृद्ध ब्रह्माजीके सामने उपलब्ध था ऐसा पौराणिक वृत्तान्त किसी भी पुराणमें उपलब्ध न होता होनेसे भी इस प्रक्रियाको अनिवार्यतया स्वीकारना अनावश्यक माना गया है.

शब्दार्थके बीच प्रत्याय्यप्रत्यायकभाव सम्बन्धके विवेचनार्थ प्रवृत्त

होते हुवे ग्रन्थकार कहते हैं कि अर्थ प्रत्याय्य होता है और शब्द प्रत्यायक. यह शब्द कभी प्राथमिकशक्तिद्वारा, तो कभी लक्षणाद्वारा, तो कभी गौणीद्वारा, तो कभी संकेतद्वारा, तो कभी शक्तिभ्रमद्वारा भी प्रत्यायक बनता है.

शंका यहां यह उठती है कि ऐसी स्थितिमें इस सम्बन्धको नित्यतया स्वीकारना उपपन्न नहीं होगा. क्योंकि शब्दकी अर्थप्रत्यायकता यदि नित्य हो तो इतने विविध प्रकारोंकी न तो कोई उपयोगिता सिद्ध होगी और न प्रामाणिकता ही. शब्दमें रही स्वाभाविक शक्तिवशात् ही अर्थका प्रत्यायन यदि होता हो तो उस शक्तिका बोध शब्दके केवल सुनायी देनेसे तो सम्भव नहीं, क्योंकि बहोत सारी ध्वनियां निरन्तर सुनायी देती रहती हैं परन्तु उनका अर्थ तो कुछ भी नहीं होता. न यह कहा जा सकता है कि अर्थप्रत्यायकत्वेन किसी शब्दके सुनायी देनेसे शब्दार्थ गृहीत होता है. क्योंकि तब तो अपभ्रंश भाषाओंके शब्द भी अर्थप्रत्यायकत्वेन सुनायी तो देते ही हैं सो वहां भी अर्थप्रत्यायनशक्ति अकामगलेपतित होगी.

कुछ विचारकोंके अनुसार अपभ्रंश भाषाओंके शब्द शक्ति(अभिधा)वृत्तिद्वारा वाचक न होनेपर भी लक्षणा या वृत्तिद्वारा अर्थप्रत्यायक हो जाते हैं, यह सोच भी ठीक नहीं है. क्योंकि जिस शब्दकी किसी भी अर्थमें शक्ति न हो वह शक्यार्थसे सम्बद्ध किसी अर्थका लक्षणावृत्तिसे भी कैसे प्रत्यायक बन पायेगा? अतः शब्दोंमे ऐसी अनादिवाचकताका सिद्धान्त भी, कमसे कम, नैयायिकों और मीमांसकों के मतमे तो उपपन्न नहीं हो पाता. क्योंकि इन मतोंमें अनादिवाचिका शब्दशक्तिका उसके अर्थके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला कौन हो सकता है? नैयायिकोंके मतमें ईश्वरद्वारा संकेतित किया जाता मानें तो अपभ्रंश भाषाके शब्दोंको या तो अर्थाप्रत्यायक मानना पड़ेगा या उन-उन भाषाओंके अनेकानेक शब्दोंके भी उन-उन अर्थोंमें संकेत ईश्वरनिर्धारित हैं ऐसा स्वीकारना

पड़ेगा.

इस दुविधाके समाधानतया वाल्लभ वेदान्त कुछ ऐसी प्रक्रिया प्रस्तुत करना चाहता है कि देशतः कालतः और स्वरूपतः अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें लीलार्थ प्रकट विभिन्न त्रिविध रूपपरिच्छेदों एवं द्विविध नामपरिच्छेदों की बिम्ब और दर्पणगत प्रतिबिम्ब के जैसी इतरेतरानुरूपता ही अर्थबोधाविर्भाविका सहज अभिधाशक्ति बन जाती है. भगवान् नारायणद्वारा ब्रह्माजीको वैदिक शब्दोंका और भगवदवयवरूप अर्थोंका यही बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव-रूप श्रवण-दर्शन सृष्टिनिर्माणसे पूर्व कराया गया, यह भागवतके द्वितीयस्कन्धके पञ्चमाध्यायके १२-४२ और षष्ठाध्यायके १-३२ श्लोकोंमे निरूपित है.

लौकिक शब्दोंका अपने अर्थोंके साथ सम्बन्ध कैसे गृहीत होता है ऐसी जिज्ञासाके समाधानतया यही अवधेय है कि लौकिक भाषाके शब्दोंके तत्तद् अर्थोंमे संकेतका प्रयोजक या व्यवस्थापक तत्तद्देशीय उच्चारण ही होता है. ग्रन्थकार कहते हैं कि अतएव अर्वाचीनोंको अपनी-अपनी भाषाके शब्दोंके माध्यमसे जो अर्थबोध उत्पन्न होता है, उसे शक्तिभ्रमवश या लक्षणावृत्तिद्वारा उत्पन्न हुवा बोध मानना आवश्यक नहीं है. क्योंकि बाल्यकालमें अपनी मातृभाषाके शब्दोंके पर्यायतया संस्कृत या वैदिक शब्दोंके संकेत तत्तद् अर्थोंमें गृहीत हो पाते हैं. पातञ्जलमहाभाष्यमें यह जो कहा गया कि अपभ्रंश शब्दोंमें शक्ति नहीं होती, उसे ''अनादि शक्ति नहीं होती'' ऐसे अभिप्रायके रूपमें समझना चाहिये. क्योंकि ''सर्वथा शक्ति नहीं होती'' ऐसा अभिप्राय तो उपपन्न नहीं हो पाता. अतः जैसे संस्कृतभाषाके दो पर्यायोंमें शक्ति स्वीकारी जाती है, वैसे ही संस्कृतभाषा और प्राकृतभाषा के भी समानार्थी शब्दोंको परस्परपर्यायतया स्वीकार लेना चाहिये.

व्यवहारमें शब्दोंकी अर्थबोधकता शक्ति तीन तरहसे कार्य करती

पायी जाती है : (१)मुख्या वृत्ति (२)गौणी वृत्ति (३)तात्पर्यवृत्ति.

इनमें मुख्या वृत्तिके पुनः तीन प्रभेद होते हैं : (१/क)रूढिवृत्ति (१/ख)योगवृत्ति (१/ग)योगरूढवृत्ति.

(१/क)पूर्वोक्तरीत्या जहां शक्तिसंकोचकी प्रक्रियाद्वारा किसी एक शब्दका जिस अर्थमें व्यवहार प्रकट हो उसे 'रूढी' कहा जाता है.

(१/ख)जहां किसी पदके अनेक अवयवोंकी शक्तिओंके जोड़से किन्हीं दो या अधिक अर्थोंको जोड़ कर एकार्थतया बोध उत्पन्न कराना अभिलषित हो वहां योगवृत्ति समझी जाती है; उदाहरणतया, 'पाचक' पद 'पकाने' की क्रिया और उस क्रियाको सम्पन्न करनेवाले कर्ताके वाचक 'क' प्रत्ययको जोड़ कर घड़ा गया शब्द है.

(१/ग)किसी या कुछ यौगिक अर्थके त्यागद्वारा अन्य किसी एक यौगिक अर्थको जब जताना हो तो; उदाहरणतया, 'पंकज' शब्द पंकमें उत्पन्न होनेवाली सभी वस्तुओंका वाचक न होकर केवल कमलके वाचकतया प्रयुक्त होता है तो उसे योगरूढवृत्तिद्वारा कमल पुष्पका वाचक माना जाता है.

(२)गौणी, शब्दकी मुख्यवृत्तिसे सम्बद्ध किसी अर्थका बोध उत्पन्न करनेवाली, वृत्तिके दो प्रभेद होते हैं : (२/क)फललक्षणा (२/ख)गौणी.

(२/क)किसी फलविशेषके द्योतनार्थ परोक्षतया किसी अर्थका बोध उत्पन्न करना अभीष्ट हो तो वह पदमें फललक्षणा या प्रयोजनलक्षणा वृत्तिद्वारा सम्पन्न होता है. उदाहरणतया "गंगापर गांव बसा हुवा है" कहे जानेपर गंगातटपर बसे गांवमें ठंडक और पवित्रता के गुणोंका निरूपण परोक्षतया विवक्षित लगता है.

(२/ख)किसी शब्दके शक्यार्थके जो गुण हों ऐसे ही गुणोंवाली दूसरी किसी वस्तुको, उदाहरणतया, किसी गंवारको 'बैल' या 'भैंसा' कहनेपर गौणी वृत्तिका प्रयोग किया जाता माना जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि नानाविध वाग्व्यवहारको सम्पन्न करनेको शब्दशक्तिका वर्तन भी नानाविध बन जाता होनेसे, इन वृत्तिओंका भेद खड़ा होता है. ग्रन्थकारको निरूढलक्षणा और लक्षितलक्षणा के प्रभेद मान्य नहीं हैं.

घोड़ेके चित्रको जो 'घोड़ा' कहा जाता है उसे तो गौणी वृत्ति ही मानना उचित माना है.

फललक्षणा और गौणी के अवान्तरभेदोंकी विवेचनामें ग्रन्थकार विस्तारभयसे उलझना नहीं चाहते एतावता उनका अस्वीकार नहीं समझ लेना चाहिये.

(३)तात्पर्यवृत्तिको, ग्रन्थकार, किसी अर्थविशेषकी इच्छावश किसी शब्दविशेषका उच्चारण करनेके रूपमें परिभाषित करते हैं.

इसी तरह संकेत और शक्तिभ्रम का रूढीमें अन्तर्भाव स्वीकारते हैं.

शब्दकी ये विविध वृत्तियां तथा परस्पराकांक्षा परस्परान्वययोग्यता तथा परस्परासत्ति पहलेसे अवगत हों तभी शाब्दबोध उत्पन्न कर पाती हैं अन्यथा नहीं.

यहां ग्रन्थकार यह खुलासा भी करते हैं कि ''गंगापर गांव बसा हुवा है'' जैसे वाक्यकी तरह ''आगसे सींचता है'' जैसे वाक्य

भी ''आग जितने गरम जलसे सींचता है'' ऐसा बोध उत्पन्न करने सक्षम हो सकते हैं. अतः योग्यताका ज्ञान वक्ताके तात्पर्यको जान पाने या न जान पानेपर निर्भर होता है.

आसत्ति तो शब्दोमें रही स्मारकशक्ति होती है.

इसी तरह आकांक्षाको वाक्यसामर्थ्यसे अतिरिक्त नहीं स्वीकारा है.

लौकिक वाक्यार्थबोधमें पदजन्या पदार्थस्मृतिके सहयोगवश, व्याकरणमतके अनुसार, चिरस्थायिज्ञानके रूपमें हृदयमें वर्तमान वाक्य अपना अर्थ जताते हैं. अन्य किसी विषयके ज्ञानसे अभिभूत होनेपर ऐसे वाक्यार्थज्ञानकी स्थूलावस्था तिरोहित हो जाती है; फिर भी, वह संस्कारात्मना बुद्धिमें विद्यमान रहता है और किसी उद्बोधकके द्वारा उद्बुद्ध किये जानेपर पुनः अन्तःकरणमें वाक्यार्थस्मरण उत्पन्न कर सकता है.

वैदिक वाक्य तो, भगवत्कृपा यदि किसीको मिल पाये तो, सर्वतः लीलाविशिष्ट भगवान्‌का ही अपनी सहजशक्तिद्वारा बोध उत्पन्न करते है.

वैदिक वाक्य लीलाविशिष्ट भगवान्‌का बोध उत्पन्न करते हैं, ऐसे विधानके फलितार्थतया वैदिक वाक्योंकी सिद्धार्थबोधकता ही यदि मानी जाये तो वेदके साध्यार्थविधायक वाक्यको सुन कर कोई विहितकर्ममें प्रवृत्त क्यों होगा? वेदोंकी सिद्धार्थबोधकता महर्षि जैमिनिके मतसे भी विरुद्ध जाती बात है.

इस आपत्तिका समाधान ग्रन्थकार यों देते हैं कि भगवज्ज्ञानावतार

महर्षि बादरायण वेदव्यासके मतसे अविरुद्ध ही महर्षि जैमिनिका मत वेदान्तमें मान्य है. यह तथ्य वेदान्तसूत्रोंके अवलोकन करनेवालोंके लिये तो सुस्पष्ट ही है क्योंकि जैमिनिमतको बहुधा स्वयंके मतसे अलग मतके रूपमें ब्रह्मसूत्रोंमें उद्धृत किया गया है. रही बात वैदिक विधि-निषेधोंके निरर्थक सिद्ध होनेकी, तो वाल्लभ वेदान्त यह स्वीकारने उद्यत नहीं है कि केवल विधि-निषेधोंके श्रवणमात्रसे किसीके भीतर विहित या निषिद्ध कर्मोंके लिये प्रवृत्ति या निवृत्ति उत्पन्न हो जाती है. वेदके विधि-निषेध तो केवल किस कर्मसे कैसा फल प्राप्त हो सकता है या किस कर्मको करनेसे कैसा पाप लग सकता है, इस तरहके फलसाधनभावका निरूपण ही केवल करते हैं. प्रवृत्ति-निवृत्ति तो जीवात्माके भीतर बिराजमान अन्तर्यामी परमात्माकी अन्तःप्रेरणाके अनुसार ही हो पाती है. क्योंकि शब्दोंमें यदि प्रवर्तनासामर्थ्य या निवर्तनासामर्थ्य होती तो जो कोई उन्हें सुनते हों उन सभीमें प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप कार्य उत्पन्न होना चाहिये. ऐसा किन्तु होता नहीं है. अतः विधि-निषेधवाक्योंके अर्थकी मीमांसा करते हुवे प्रस्तुत ग्रन्थकारने ही अन्यत्र, भावार्थपादभाष्यविवरणमें, भी यह स्पष्टता की है कि पूर्वकाण्डमें सिद्धावस्थापन्न धात्वर्थरूप क्रियात्मक उदासीन धर्म वैदिक नामपदोंद्वारा बोधित होता है; इसी तरह, साध्यावस्थापन्न पुरुषापेक्ष धात्वर्थभूत क्रियात्मक पुरुषार्थरूप धर्म वैदिक आख्यातपदोंद्वारा बोधित होता है. अतः जहां तक किसी कर्ममें प्रवृत्त होने या किसी कर्मसे निवृत्त होनेकी प्रेरणाका सवाल है तो वह तो विधि-निषेधद्वारा शक्य है. एतावता, परन्तु , विधि-निषेधशब्दोंको प्रवृत्तिजनक या निवृत्तिजनक होनेके रूपमें मान्य नहीं रखा जा सकता. अन्यथा वेदवचनोंको सुनते ही सभी व्यक्ति धार्मिक बन जाने चाहिये थे. इसी तरह वेदके विधि-निषेधोंमें श्रद्धा रखनेवालोंसे कभी अधर्माचरण होना ही नहीं चाहिये था!

ऐसी स्थितिमें विहित कर्मार्थ कर्ताको उत्साहित करनेवाले अर्थवादोंका मूल प्रयोजन यही सिद्ध होता है कि कर्तव्यभूत कर्मका माहात्म्य

जान कर ही किसी अधिकारीको किसी कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये. कर्मस्वरूपज्ञानकी तरह कर्ममाहात्म्यज्ञान भी कर्मानुष्ठानमें अंगभूत होता है. अतः कर्मके, या कर्मांगभूत किसी देश काल द्रव्य मन्त्र कर्म कर्ता आदिके, अथवा उस कर्मसे लभ्य फलके माहात्म्यका ज्ञापन अर्थवाद करते हैं. अतः साधन और फल के स्वरूपनिरूपणद्वारा वैदिक विधि-निषेधोंका प्रवर्तकत्व या निवर्तकत्व स्वीकारा जाये तो कोई आपत्तिकी बात नहीं; परन्तु, वैदिक विधि-निषेधोंको फलमुखतया प्रवर्तक या निवर्तक माना नहीं जा सकता है. यह फलमुखप्रवर्तकता या फलमुखनिवर्तकता तो परमेश्वरके सर्वान्तर्यामी रूपकी ही होती है, वैदिक शब्दोंकी नहीं. अतः विधि-निषेधवाक्य फल-साधनभावको जाननेके प्रमाण होते हैं, प्रवर्तक या निवर्तक नहीं. अतएव विधि-निषेधके बावजूद कोई प्रवृत्त हो या न होता हो; अथवा तो निवृत्त हो या न होता हो, एतावता वेदवचनोंका प्रामाण्य अंशतः भी कुण्ठित या बाधित नहीं हो जाता.

अतएव स्वार्थमें भी प्रमाण होनेकी धारणाके अनुरूप अर्थवादके दो ही भेद मान्य रखे गये हैं : (१)अनुवाद (२)भूतार्थवाद. इस सन्दर्भमें यह अवधेय है कि प्रत्यक्षादिसे विरुद्ध किसी अर्थके बोधक शब्दको 'गुणवाद' कहा जाता है; परन्तु, ऐसे निरूपणोंमें भी किसी अलौकिकार्थका संकेत होनेसे, तथाकथित गुणवादोंको अर्थवादका अवान्तरभेद मानना अनावश्यक ही है.

श्रौत शब्दोंके विचारके बाद स्मृतिके शब्दोंका विचार करते हुवे ग्रन्थकार कहते हैं कि वह ऋषियोंके पूर्वचरितकी स्मरणरूपा होती हैं. स्मृतियां नित्यानुमेय वेदमूलिका भी हो सकती है. अतः जो स्मृति नित्यानुमेय वेदमूलिका हों उनका प्रामाण्य तो वेदवत् ही होता है. अन्य तो वेदसे अविरुद्ध होनेपर ही प्रमाण होती हैं.

स्मृति और पुराण के बीच कहीं विरोधाभास लगता हो तो

पुराणका प्रामाण्य ही बलवत्तर मानना चाहिये.

वाल्मीकिरामायणका और महाभारतका तो समाधिभाषा और वेदव्याख्यानरूप होनेके कारण वेदवत् ही प्रामाण्य अभिलषित है.

सांख्य-योग-काणादाक्षपाद-वासिष्ठरामायणका प्रामाण्य तो वेदाविरुद्ध वेदानवगत अर्थोंके निरूपणमें ही मान्य है. इसी तरह तन्त्रोंके बारेमें भी समझ लेना चाहिये.

आधुनिक वक्ताओंके प्रत्यक्षानुमानमूलक वाक्योंका प्रामाण्य इन पूर्वपरिगणित शास्त्रोंसे भी न्यूनतर होता है, हमारी अल्पज्ञताके अनुरूप. इसमें सिद्धार्थवाक्य यदि संनिकृष्टवस्तुविषयक हो तो प्रत्यक्षज्ञानके सहकारी हेतुतया वह मान्य होता है. विप्रकृष्टवस्तुविषयक हो तो अर्थसत्ताके सन्दिग्ध होनेके कारण उससे उत्पन्न होता ज्ञान सम्भावनात्मक ही माना जाता है, प्रमात्मक नहीं, जैसे बच्चोंके द्वारा कही गयी बात सम्भावनात्मक ज्ञान प्रकट करती हैं वैसे ही.

प्रतारकोंके वाक्य, अथवा स्वयं प्रतारक न भी हो परन्तु हो भ्रान्तिवशात् प्रतारक जैसे वाक्यप्रयोग करता हो, तो उसे भी सुन कर कोई बात सुननेवालेको समझमें आ जाती है. यह, परन्तु , विश्वासजाड्यका फल है.

अतः सिद्धार्थनिरूपक लौकिकवाक्योंका गौण प्रामाण्य होता है परन्तु वाक्यार्थभूत बुद्धिकल्पित संसर्गके अविद्यमान होनेके कारण तथा संसर्गी क्रियाके भी विद्यमान न होनेके कारण साध्यार्थनिरूपक लौकिक वाक्य तो सम्भावनात्मक ज्ञानजनक होनेसे अप्रमाण ही होते हैं.

इस तरह वेद-वेदान्त ही सकल प्रमाणोंमें मूर्धन्य सिद्ध होते

हैं. वेदार्थका अपरोक्षनिश्चय तो तपआदि अलौकिक साधनोंद्वारा ही हो सकता है किन्तु परोक्षनिश्चय सन्देहवारक स्मृति पुराण मीमांसा आदि शास्त्रोंद्वारा भी हो पाता है. क्योंकि वेदार्थमें उठते सन्देहोंका निराकरण भगवद्गीताके वाक्योंके विमर्श करनेपर हो जाता है. भगवद्गीताके निरूपणमें उठते सन्देहोंका निवारण व्याससूत्रोंके द्वारा और व्याससूत्रोंमें उठते सन्देहोंका निराकरण भागवतपुराणद्वारा हो जाता है.

अतः इन चारोंमें एकदूसरेसे विरुद्ध लगती कोई बात हो तो वहां अपनी बुद्धिसे किसी तरहकी कल्पना करके उस कल्पित अर्थके आधारपर इनके वाक्योंका अर्थ निकाल लेना तो इन चारोंके वाक्योंको अप्रामाणिकतामें पर्यवसित करना है. अतः इन चारोंका विविदिषादशामें जो प्रामाण्य स्वीकारा गया है, वह इनमें एकवाक्यतापादक वाक्यार्थबोधके वश ही. विद्वद्दशामें तो निखिल वाङ्मय वेदतुल्य प्रमाण बन सकता है.

अतः शब्दजन्यज्ञान किन अवस्थाओंमें परोक्षप्रमारूप होता है और किन अवस्थाओंमें नहीं यह दिखला दिये जानेपर इसका न तो अनुमानमें अन्तर्भाव स्वीकारा जा सकता है और न इससे उत्पन्न होते ज्ञानको अपरोक्षज्ञान ही माना जा सकता है.

इस तरह शाब्दप्रमाणके बारेमें वाल्लभ वेदान्तको जो कुछ विशेषतया विवक्षित है वह तो निरूपित हुवा. शेष सब कुछ व्याकरणके अनुसार स्वीकारना चाहिये. क्योंकि उस मतको आदरणीय माना गया है.

[३.प्रत्यक्षप्रमाके करणका निरूपण] : इन्द्रियोंको प्रत्यक्षप्रमाका करण समझना चाहिये. ये इन्द्रियां आंख त्वचा नाक रसना कान और मन के भेदवश छह प्रकारकी होती हैं. मन अन्तःकरणात्मक और इन्द्रियात्मक उभयविध होता है, जैसे वह क्रियात्मक तथा ज्ञानात्मक

भी होता है. ये इन्द्रियां अणुपरिमाण अतीन्द्रिय और अनित्य होनेपर भी चिरस्थायी तथा विकारी होती हैं.

इनके विषयतया [१] उद्भूतरूप, उद्भूतरूपवान् तथा उद्भूतरूपवाली वस्तुओंमें रहते संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्व अपरत्व वेग रूपी गुण, इनमें प्रकट होते कर्म, इनकी 'त्व'प्रत्ययार्थभूता धर्मरूपा जाति तथा इन सभी गुण-कर्म-धर्मोंका अपने धर्मकि साथ समवाय या तादात्म्य इतने विषय चक्षुर्ग्राह्य होते है. [२] उद्भूतस्पर्श, उद्भूतस्पर्शवान्, उद्भूतस्पर्शवाले धर्ममिं रहनेवाले गुण-कर्म-धर्म तथा इनका अपने धर्मकि साथ तादात्म्य इतने त्वग्ग्राह्य विषय होते हैं. [३] उद्भूतगन्ध, उद्भूतगन्धवान्, उद्भूतगन्धवानोंमें रहते गुण-कर्म-धर्म तथा इनका अपने धर्मकि साथ तादात्म्य घ्राणग्राह्य विषय होते हैं. [४] उद्भूतरस, उद्भूतरसवान् द्रव्य, उद्भूतरसवानोंके गुण-कर्म-धर्म तथा इनका अपने धर्मकि साथ तादात्म्य इतने रसनाग्राह्य विषय होते हैं. [५] उद्भूतशब्द, उद्भूतशब्दवान्, उद्भूतशब्दवान्में रहनेवाले गुण-कर्म-धर्म तथा इनका अपने धर्मसे तादात्म्य इतने श्रोत्रग्राह्य विषय होते हैं.

किन्हीं विचारकोंके मतमें घ्राण रसना तथा कर्ण इन्द्रियां द्रव्यग्राहिका न हो कर केवल गुणग्राहिका ही होती हैं परन्तु वाल्लभ वेदान्तके अनुसार द्रव्यग्राहकतया उनका स्वीकार उचित लगता है. क्योंकि रातके अंधेरेमें दूध पीनेपर दुग्धपान करनेका, चम्पकादि पुष्पोंकी गन्धके साथ पुष्पोंका, इसी तरह भेरी आदिकी ध्वनिको सुन कर भेरी आदि वाद्योंके बजते होनेका रासन घ्राणज तथा श्रावण प्रत्यक्ष अनुभूतिगोचर होता है.

अतः उद्भूतगुणवाली पृथ्वी पांचों इन्द्रियोंकी विषय बनती है. उद्भूतगुणवाला जल घ्राणारिरिक्त चारों इन्द्रियोंका विषय बनता है. ऐसा तेज घ्राण-रसनासे भिन्न तीनों इन्द्रियोंका विषय बनता है. वैसी

वायु त्वचा और श्रवण रूपी दो इन्द्रियोंकी विषय बनती है. आकाश, वैसे रूपरहित होनेके कारण चक्षु इन्द्रियकी अपनी सामर्थ्यके कारण दिखलायी न देनेवाला होनेपर भी, अपने प्रमेयबलसे आंखोंसे दिखलायी तो अवश्य देता है. दिशा और काल भी वैसे स्वयं इन्द्रियग्राह्य न होनेपर भी ग्राह्यार्थके विशेषणतया गृहीत हो पाते हैं. काम आदि मनोवृत्तियां तो मनोग्राह्य ही होती हैं.

आत्मा, अपने शुद्ध रूपमें तो, आत्मदर्शनार्थ विहित शास्त्रीय साधनोंके अलावा कभी लौकिक प्रत्यक्षद्वारा ग्राह्य नहीं होता. फिर भी अहन्ताके साथ तादात्म्याध्याससंकीर्ण 'अहं'बुद्धिद्वारा ग्राह्य बन जाता है.

प्रतिबिम्ब गन्धर्वनगर इन्द्रजाल आदिकी प्रतीति इन्द्रियसामर्थ्यवशात् न हो कर पदार्थस्वभाववशात् होती होनेसे इनके आभासनमें कार्य-कारणभावकी खोज अनावश्यक है. इसी तरह तमको भी प्रकाशके अभावतया स्वीकारा नहीं गया है; परन्तु, मायिक पदार्थतया स्वीकारा गया है. मनुष्यके नेत्रोंकी बुनियादी बनावटसे इसका सम्बन्ध होता है. अतएव अन्य प्राणी रातके अंधेरेमें भी देख पाते हैं क्योंकि उनके नयनोंको मायिक तम ढंक नहीं पाता. जबकि मनुष्यके नयन अपेक्षित मात्रामें प्रकाश न होनेपर मायिक तमसे आवृत हो जाते हैं. इसी तरह प्रतिबिम्बको भी अतिरिक्त मायिक पदार्थके रूपमें स्वीकारा गया है. इन विषयोंका सुविशद निरूपण, ग्रन्थकार कहते हैं कि अन्धकारवाद तथा प्रतिबिम्बवाद में किया गया होनेसे, जिज्ञासुजनोंको वहीं देख लेनेका कष्ट लेना चाहिये. ये दोनों वाद अवतारवादावलीके अन्तर्गत योजित वाद हैं.

नैयायिकोंद्वारा प्रतिपादित चतुर्विध अभावोंमेंसे सर्वप्रथम प्रागभाव तो तत्तत् नाम-रूप-कर्मोंकी अपने समवायी या उपादानत्वेन अभिमत द्रव्यकी तिरोभावसहकृता एवं कार्याविर्भावानुकूला एक विशेष अवस्था

होती है. इसी तरह प्रध्वंसाभाव उसकी वैसी कार्यप्रतिकूलावस्था है. अतः कारणके प्रत्यक्षसे इनके प्रत्यक्षकी व्यवस्था समझी जा सकती है. इस विषयका अवतारवादावलीके अन्तर्गत आते आविर्भावतिरोभाववादमें सुविशद विवेचन किया गया होनेसे अधिक विवेचना यहां उपलब्ध नहीं होती. जहां तक अन्योन्याभावके प्रत्यक्षका सवाल है तो यह इस विषयमें अवधारणीय है कि दो तरहसे उसे समझाया गया है. सर्वप्रथम तो, उदाहरणतया, ''घड़ा कपड़ा नहीं है'' जैसी अनुभूतिमें घड़ेमें जो कपड़ेका अभाव प्रतीत होता है वह ''क्या घड़ा कपड़ा हो सकता है!'' ऐसे आरोपका ''घड़ा कपड़ा हो नहीं सकता'' अपवाद करनेपर प्रत्यक्ष होता स्वीकारा जाता है. यहां ध्यानमें रखने लायक बात यह है कि जिस सम्बन्धसे घड़ारूप अधिकरणमें कपड़ा नहीं रहता उस प्रतियोगितावच्छेदकताके नियामक सम्बन्धसे कपड़ापनेका घड़ेमें अत्यन्ताभाव होता है, ऐसा स्वीकारनेपर तो वह स्वतन्त्र कोई अभाव न रह कर अत्यन्ताभाव ही सिद्ध होगा. और स्वयं घडेमें घड़ा जैसे तादात्म्यसम्बन्धसे रहता है वैसे कपड़ेमें नहीं रहता, ऐसा निरूपण भी अन्योन्याभावके बारेमें किया गया है. तो ऐसे अभावका प्रतियोगी जो कपड़ा उसका आरोप पहले घड़ेपर लगा कर बादमें उसका निषेध करनेपर तो कपड़ा रूपी प्रतियोगीके तिरोभावसे संकीर्ण घड़ेके स्वरूपका ही वह निरूपण सिद्ध होता है. अतः घड़े और कपड़े के इस तरहके अन्योन्याभावका घड़े या कपड़े के स्वरूपोंमें अन्तर्भाव मान लेना उचित है. रही बात अत्यन्ताभावकी तो उसे भी तिरोभावरूप ही समझ लेना चाहिये. क्योंकि अत्यन्ताभाव गगनकुसुमकी तरह निःस्वभाव तो माना नहीं जाता. अतः जहां कोई वस्तु नहीं होती वहां उसका अत्यन्ताभाव होता है, ऐसा कहनेपर, वहां उसके तिरोभूत होनेकी प्रतीतिके द्वारा ही उसके न होनेकी व्याख्या उपपन्न हो जाती है. अतः ''यहां भूतलपर घड़ा नहीं है'' ऐसा प्रत्यक्ष भूतलका ही घटतिरोभावविशिष्ट प्रत्यक्ष होता है.

इस तरह इन्द्रियोके निरूपणके बाद अब इन इन्द्रियोंके व्यापारोंका

निरूपण भी अवसरप्राप्त है. इस व्यापारको 'प्रत्यासत्ति' कहा जाता है और इसके दो भेद होते हैं : (१)लौकिकव्यापार (२)अलौकिकव्यापार.

(१)लौकिकव्यापारके पुनः पांच प्रभेद हैं : (१/क) संयोग (१/ख) तादात्म्य (१/ग) संयुक्ततादात्म्य (१/घ) संयुक्तविशेषणता; और, (१/ङ) स्वरूप.

(१/क) नयनोंसे किसी द्रव्यका साक्षात्कार संयोगरूपा प्रत्यासत्ति या व्यापार द्वारा होता है. (१/ख) मनद्वारा अपने भीतर प्रकट होनेवाले संकल्पविकल्पोंका तथा सुख आदि मनोभावोंका प्रत्यक्ष तादात्म्यप्रत्यासत्तिद्वारा सम्पन्न होता है. (१/ग) द्रव्यनिष्ठ गुण-कर्म-धर्मोका प्रत्यक्ष संयुक्ततादात्म्यरूपा प्रत्यासत्तिद्वारा सम्पन्न होता है. (१/घ) तिरोभावका प्रत्यक्ष सर्वदा इन्द्रियसंयुक्तविशेषणतारूपा प्रत्यासत्तिद्वारा सम्पन्न होता है. (१/ङ) इसी तरह बुद्धिवृत्तिओंके ग्रहणार्थ तो स्वयं वृत्तिओंका स्वरूप ही प्रत्यासत्ति बन जाता है.

(२)अलौकिकव्यापारके तीन प्रभेद दिखलाये गये हैं : (२/क)सामान्य (२/ख)योगज; और, (२/ग) माया.

(२/क)सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिद्वारा तत्तद् व्यक्तिमें रहे सामान्यधर्मका प्रत्यक्ष होता है. अतः अनुगताकारेण तद्व्यक्तिज्ञानमें इस तरहके प्रत्यासत्तिकी उपयोगिता है. (२/ख)अनागत अतीत या अतीन्द्रिय वस्तुओंका प्रत्यक्ष योगजप्रत्यासत्तिद्वारा होता है. (२/ग)मायिकप्रत्यासत्ति किसी देश-कालमें अविद्यमान अर्थात् तिरोहित पदार्थोको उस देश-कालमें प्रकट किये बिना बुद्धिमें उपस्थापित करके प्रत्यक्षभ्रान्तिको उत्पन्न करनेका काम करती है.

इसके बाद ग्रन्थकारने वस्तुको सदसदात्मक माननेवाले दर्शनोंके अनुसार वस्तुकी असदात्मकताके प्रत्यक्षकी व्याख्याके हेतु जो अनुपलब्धिरूप

प्रमाणान्तर प्रस्तावित किया गया है, उसका सुविशद विचार किया है. तदन्तर्गत श्रीपार्थसारथिमिश्र, वेदान्तपरिभाषाकार, वैशेषिक तथा नैयायिकों के मतोंका विमर्श करके अपना मत इस तरह दिखलाया है कि अभावके प्रत्यक्षके लिये अनुपलब्धिरूप प्रमाणान्तर अनावश्यक है. क्योंकि नयनोंसे देख कर किसी वस्तुके ज्ञान प्रकट होनेकी तरह अनुपलब्धिसे किसी वस्तुके अवगत होनेकी बात स्वीकार्य नहीं लगती.

उक्त इन्द्रियार्थसंनिकर्षसे उत्पन्न होनेवाला निर्विकल्पक ज्ञान अपनी चाक्षुषादि सविकल्पावस्थाको बुद्धिवृत्तितया प्राप्त करता है. अतः बुद्धिवृत्तिके स्वरूपका विचार यहां आवश्यक हो जाता है.

आंखोंको मींचनेपर बाहर देखे गये विषयका आकार अपने भीतर भी भासित होता है. यह आकार बाह्य वस्तुका तो हो नहीं सकता; क्योंकि, अपने बाह्य आश्रयको छोड़ कर उसके भीतर प्रविष्ट होनेकी बात अनहोनी लगती है. अतः उसे अपने भीतर विद्यमान किसी आन्तर पदार्थके आकारतया स्वीकारना पड़ता है. सांख्यमतमें इसे आहंकारिक तत्त्वान्तरके रूपमें 'वृत्ति' कहा गया है. नैयायिकोंने नयनकिरणोंके विषयदेश पर्यन्त बहिर्निगर्मनकी प्रक्रियाद्वारा विषयसंनिकर्ष होता है तथा ऐसे विषयसंनिकर्षवशात् संस्कार नामक एक आत्मसमवेत गुणान्तरको प्रस्तावित करके वृत्ति जैसे पदार्थको अस्वीकार ही कर दिया है.

इस विषयमें यह अवधेय है कि सिद्धान्ततः नेत्रोंके भीतर दृष्ट विषयकी आकृति अनुभवगोचर होती ही है. अतः आन्तर वृत्तिको स्वीकारना तो उचित ही है. इसे, परन्तु, तत्त्वान्तर या आत्मसमवेत गुणान्तर नहीं मानना चाहिये. क्योंकि यह तो स्वसिद्धान्तस्वीकृत बुद्धितत्त्वकी ही कोई एक विशेष अवस्था है. अन्तःस्थित बुद्धि बाह्यवस्तुके आकारमें कैसे आकारित हो पायेगी ऐसी शंकाका समाधान भी यही है कि मनःसंयुक्त इन्द्रियोंका बाह्य विषयके साथ संनिकर्ष होनेपर, दर्पणमें

जैसे मुख प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही, इन्द्रियगोलकोंमें विषयाकृति प्रतिबिम्बित होती है. नानाविध सात्त्विक राजस तामस गुणोंके परस्पर मिश्रण और उपमर्द के कारण निरन्तर चलते रहते बुद्धिमें क्षोभाक्षोभके कारण इन्द्रियोंमें पड़ते प्रतिबिम्बोंके आकारोंमें कभी बुद्धिवृत्ति सर्वात्मना तो कभी अंशात्मना आकारित हो पाती है, तो कभी नहीं भी. क्योंकि बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की अनुग्राहिका होती है सो कभी अनुग्राहिका बन पानेपर यथार्थ सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न हो पाता है और तदनुकूल प्रवृत्ति भी. कभी राजस या तामस गुणोंके उद्रेकवश बुद्धिके अनुग्राहकस्वभावके प्रतिरुद्ध हो जानेपर संशयाकारक या भ्रमाकारक सविकल्प ज्ञान उत्पन्न हो जाता है. अतः बुद्धिकी विशेष अवस्था ही ये सारी वृत्तियां होती हैं. इन्द्रियार्थके संनिकर्षद्वारा समर्पित आकारमें आकारित होनेपर प्रत्यक्षप्रमा उत्पन्न होती है अन्यथा सम्प्रयुक्तार्थविषमाकार या सम्प्रयुक्तार्थभिन्नाकार में बुद्धिके आकारित होनेपर भ्रम उत्पन्न होता माना जाता है. इस तरह अनेकविध वृत्तियोंके कारण अन्य भी ज्ञानके भेदोपभेदोंको वृत्तिवैविध्यमूलक समझ लेना चाहिये. भागवतके "जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः" वचनके आधारपर ज्ञानके इन विविध प्रकारोंका बुद्धिवृत्ति होना प्रमाणसिद्ध है. जाग्रत्कालीन भोगप्रद कर्मोंके उद्बुद्ध होनेपर जागरण होता है और इनके उपरम होनेपर स्वप्न-निद्रा होते हैं, ऐसी प्रक्रिया स्वीकारनेके बजाय भगवल्लीलार्थ प्रकट इन त्रिविध गुणोंमें परस्परमिश्रण एवं परस्परोपमर्दन की लीला भगवदिच्छाके अनुसार निरन्तर चलती ही रहती है अतएव गुणोंको ही बुद्धिकी विविध अवस्थाओंके संनिकृष्ट हेतुतया स्वीकारना उचित है. अतएव भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायमें यह कहा गया है कि [१]अधिष्ठानाख्य शरीर, [२]कर्त्राख्य जीव, [३]करणाख्य चक्षुरादि बाह्येन्द्रियां तथा आभ्यन्तर चतुर्विध अन्तःकरण, [४]चेष्टाख्य प्राणादिवायुकर्म, [५]दैवाख्य काल-कर्म-भगवदिच्छादि अथवा इसी अध्यायके इकसठवें श्लोकमें निरूपित सभी प्राणिओंके हृदयमें बिराजमान अन्तर्यामी, हमारे सभी क्रियाकलापोंमें

कारणसामग्री बनते हैं.

इसमें क्रम कुछ इस तरह होता है कि सर्वप्रथम [१]अन्तर्यामीकी प्रेरणाके अनुसार [२]मन तत्तत् कार्यार्थ प्रेरित होता है, [३]वह मन तत्तद् इन्द्रियोंको प्रेरित करता है, [४]तत्तद् इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवगणोंके अनुकूल होनेपर [५]इन्द्रियां विषयोंके साथ जुड़ पाती हैं, [६]तब इन्द्रियोंमें विषय प्रतिबिम्बित होनेपर निर्विकल्पकज्ञान उत्पन्न होता है, [७]तब बुद्धिगत सत्त्वादि गुणोंके यथायथ परस्परमिश्रण या परस्परोपमर्दन के साथ बुद्धि इन्द्रियोंपर सर्वात्मना या अंशात्मना अनुगृह कर पाती है अथवा नहीं, [८]तदनुसार बुद्धिवृत्ति प्रकट हो कर, [९]विविध प्रकारके सविकल्पक ज्ञान प्रकट होते हैं, [१०]विविध सविकल्पक ज्ञानोंके अनुसार राग द्वेष या उपेक्षा के भाव प्रबल होते हैं, [११]तब तन्मूलक इच्छा-प्रयत्नरूप आभ्यन्तरबाह्य व्यापार प्रकट होते हैं, [१२]तब उपादान-हानात्मिका प्रवृत्ति या उपेक्षात्मिका अप्रवृत्ति होती है, [१३]अन्तमें लाभालाभहेतुक सुखिता या दुःखिता या उदासीनता प्रकट होती रहती है.

इस प्रणालीके अनुसार होते बुद्धिपूर्वक व्यवहारोंको अन्तःकरणाध्यास प्राणाध्यास इन्द्रियाध्यास देहाध्यास और स्वरूपविस्मृति के कारण जीवात्मा अपने भीतर घटित होते मान कर चलती है, जिसके परिणामरूपेण एक छोरपर ये आत्मधर्मतया प्रतीत होते हैं तो दूसरे छोरपर इनके अलावा आत्मा जैसा कोई तत्त्व मान्य ही नहीं हो पाता! वस्तुतः तो अन्तःकरण प्राण इन्द्रिय और देह में आत्मचैतन्यके प्रतिबिम्बित होनेके कारण यह सब घटित होता है.

स्वप्नज्ञानकी प्रक्रिया इससे कुछ भिन्न रीतिसे घटित होती है. वहां धर्मरूप आत्मचैतन्य संकुचित हो कर देह इन्द्रिय और मन मेंसे पराङ्मुख हो कर केवल अहंकार और बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता रह जाता है. अतः अहंकाराध्यास और बुद्ध्यध्यास के वश

बुद्धिमें उपस्थापित विषयोंके यथाकर्म उपभोगद्वारा सुख-दुःखादिजनक व्यापार कर पाता है.

तमोगुणके अतिशय उद्रेकवशात् निद्राधीन होनेपर तो अन्तःकरणकी निगूढतम ग्रन्थि चित्तद्वारा आत्मभानके साथ सारे सुख-दुःखजनक कर्मोंसे असंसृष्ट हो कर चिदात्मा हृदयाकाशमें पारमात्मिक आनन्दका उपभोग करती है.

इसके बाद ग्रन्थकारने न्यायमत तथा शांकरमत का इस विषयमें जो अभिप्राय है उसकी सुविशद मीमांसा करके इस तरंगके उपसंहारमें भगवत्साक्षात्कारकी सिद्धान्ताभिमत प्रणाली समझायी है.

प्रत्यक्षज्ञानके उत्पत्तिकी इस प्रणाली और भगवत्साक्षात्कार होनेकी प्रणाली में प्रमुख अन्तर यह होता है कि भगवत्साक्षात्कार प्रमाणबलसे न हो कर प्रमेयबलसे ही होता है. मुण्डकोपनिषद्के ''नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्'' वचनके आधारपर भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार तो वरणैकजन्य होता है. 'वरण' शब्दका अर्थ सांसारिक या आपवर्गिक किसी फलके दानकी इच्छाके रूपमें नहीं लेना चाहिये. यह तो निजस्वरूपानुभूति या निजस्वरूपानुरक्ति के हेतु केवल अनुग्रहरूप होता है.

अनवतारदशामें यह वरण भगवद्भक्तिके अंकुरण-पल्लवनके बीजभावतया कारण बनता है परन्तु अनवतारदशामें भगवान्के प्रकट दर्शन देनेकी इच्छाका रूप धारण कर लेता है. अतः कोई भक्त हो या अभक्त सभीको दर्शन हो पाते हैं. प्रक्रिया किन्तु तब भी प्रमेयबलकी काम कर रही होती, प्रमाणबलकी नहीं, यह ध्यानमें रखना चाहिये.

इस विवेचनाके साथ प्रत्यक्षप्रमाणका निरूपण करनेवाली तरंग पूर्ण होती है.

[४.अनुमितिप्रमाके करणका निरूपण] : अनुमान प्रमाणके बारेमें विशेष कुछ भी विवक्षित न होनेपर भी, क्योंकि प्रमाकरणत्वेन इसे मान्य किया गया है अतः, उसका निरूपण करते हुवे ग्रन्थकार कहते हैं कि अनुमितिके करणको अनुमान समझना चाहिये. अनुमिति एक ऐसा ज्ञान है कि जहां एक ज्ञान करण बन कर दूसरे ज्ञानको उत्पन्न करता हो. जो या जैसा ज्ञान अनुमितिरूप ज्ञानको उत्पन्न करनेमें करण बनता है, वह तो व्याप्तिज्ञान होता है, यह तो फलबलकल्प्य बात है ही. अथवा परामृष्यमाणलिङ्गज्ञानके करण बननेपर, या लिङ्गपरामर्षरूप व्यापार करनेवाले ज्ञानके करण बननेपर, जो ज्ञान उत्पन्न होता उसे भी अनुमितितया परिभाषित किया जा सकता है.

व्याप्तिविशिष्ट होनेके साथ-साथ जो किसी पक्षमें उसके धर्मतया विद्यमान हो उसे 'लिङ्ग' कहा जाता है.

'पक्ष' शब्दका अर्थ होता है जहां आहार्य या अनाहार्य सन्देहके विषय साध्यकी सिद्धि होती हो. अतः सिसाधयिषा होनेपर साध्यनिश्चयके बावजूद आहार्यसंशयविषयताके कारण कोई वस्तु पक्ष बन सकती है.

अव्यभिचरितहेतुका साध्यके साथ जो सामानाधिकरण्य वह व्याप्तिरूप होता है.

किसी वस्तुको कहीं सिद्ध करना हो तो साधनत्वेन जिसे पुरस्कृत किया जाये उसे 'हेतु' कहा जाता है और जिसे सिद्ध करनेकी इच्छा हो वह 'साध्य' कहलाता है. इन साध्य और साधन के सामानाधिकरण्यका अर्थ होता है : इन दोनोंका किसी एक ही अधिकरणमें

विद्यमान होना. यह एकही अधिकरणमें विद्यमान रहनेका नियम कभी एक बारके अनुभवके, या कभी अनेक बार होते अनुभवोंके आवर्तनके, कारण गृहीत होता है. एकाधिकरणमें ही रहनेके उस अनुभूत नियमका स्मरण जब साधन बननेवाले हेतुके दर्शनवशात् उद्बुद्ध होता है, तब साधनके बलपर पक्षमें साध्यनिश्चय हो जाता है. इसे 'अनुमिति' कहते हैं.

ऐसी अनुमितिके करणरूप अनुमान दो तरहके होते हैं : (१)केवलव्यतिरेकी (२)अन्वयव्यतिरेकी.

(१)जिस हेतुका पक्षके अलावा अन्यत्र कहीं भी साध्यसाहचर्य उपलब्ध न होता हो ऐसे हेतुवाले अनुमानको 'केवलव्यतिरेकी' कह जाता है. उदाहरणतया : पृथिवी इतर सभीसे भिन्न है पृथिवी होनेके कारण, ऐसे हेतुवाला अनुमान 'केवलव्यतिरेकी' कहलाता है.

(२)हेतु-साध्यकी तरह जहां साध्याभाव-हेत्वभावमें भी व्याप्तिसम्बन्ध सिद्ध हो, वहां 'अन्वय-व्यतिरेकि-हेतु' कहलाता है; उदाहरणतया, जहां रसोईघर जैसे स्थलोंमें धुंआ होता है वहां आग होती है और जहां सरोवर जैसे स्थलोंमें आग नहीं होती वहां धुंआ भी नहीं होता. ऐसे हेतुवाला अनुमान 'अन्वय-व्यतिरेकी' कहलाता है.

इन दोनों तरहके अनुमानोंके पुनः दो प्रभेद होते हैं : (१)स्वार्थानुमान (२)परार्थानुमान. स्वार्थानुमान तो समझा ही दिया. परार्थानुमान महावाक्यरूप न्यायके अवयवोंके बोधक वाक्योंके प्रयोग करनेपर स्पष्ट होता है. ये अवयव वैसे तो प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन रूप पांच होते हैं परन्तु स्वमतमें उदाहरण उपनय और निगमन अवयवों का प्रयोग उचिततर माना गया है. पंचमस्कन्ध(भाग.पुरा.५।२२।१)में भी राजा परीक्षितने जब सूर्यादिकी गतिके बारेमें अनुमान कैसे करना

यह पूछा तो उत्तररूपेण श्रीशुकने—

> जैसे कुम्हारके घूमते चक्केके साथ घूमती हुयी चींटी स्वयं भी उस चक्केपर चल-फिर तो सकती ही है, क्योंकि कभी चक्केपर नाभिके पास तो कभी परिधिरेखाके पास दिखलायी देती है. इसी तरह ध्रुवकी प्रदक्षिणा करते हुवे नक्षत्रमण्डलमें पुनः सूर्यादि ग्रहोंकी अपनी भीगतिशीलता होती ही है. कभी एक नक्षत्रके समीप तो कभी दूसरे नक्षत्रके समीप उपलब्ध होते होनेसे.
>
> (भाग.पुरा.५।२२।२)

इस वाक्यराशीमें दृष्टान्त उपनय और निगमन का ही प्रयोग किया गया दिखलायी देता है.

इसके बाद हेत्वाभासोंके निरूपणमें जो कुछ नैयायिकोंने प्रतिपादित किया उसेही स्वीकारते हुवे ग्रन्थकार कहते हैं कि इन दोषोंसे रहित हेतु साध्यानुमापक होता है. श्रुतिका और श्रुत्यनुगृहीत प्रत्यक्षका उपजीवी होनेपर अनुमान भगवद्गवेषणा तथा व्यवहार में भी उपयोगी होता ही है.

इसके बाद केवलाद्वैतिओंने जैसे अनुमानका वेदान्तमननमें उपयोग दिखलाया, वैसे ही शुद्धाद्वैतवेदान्तमें भी उसके उपयोगकी रीति दिखाते हुवे इस चतुर्थ तरंगका उपसंहार ग्रन्थकारने किया है.

[५.प्रमाणान्तरोंका स्वीकृत प्रमाणोंमें अन्तर्भावका निरूपण] : इस तरंगमें सर्वप्रथम उपमानका चाक्षुष सादृश्यप्रत्यक्षमें अन्तर्भाव दिखानेको ग्रन्थकार कहते हैं कि सादृश्यातिदेशरूप वाक्यार्थस्मरणके सहकारवश चक्षुरादि इन्द्रियोंद्वारा होते संज्ञा-संज्ञीके परिच्छेदरूप होनेके कारण उपमानको स्वतन्त्र प्रमाण मानना आवश्यक नहीं है.

अर्थापत्तिके भी स्वतन्त्र प्रमाण न होनेके विचारमें मीमांसक नैयायिक पार्थसारथिमिश्र वेदान्तपरिभाषाकार के मतोंका विमर्श करते हुवे [१] दृष्टार्थापत्ति [२] श्रुतार्थापत्ति, इस श्रुतार्थापत्तिके पुनः दो अवान्तर प्रभेद [२/क] अभिधानानुपपत्ति और [२/ख] अभिहितानुपपत्ति प्रकारोंको अमान्य करते हुवे ग्रन्थकार कहते हैं कि ये यथायथ कभी प्रत्यक्ष तो कभी शब्द प्रमाणकी अनुग्राहिका होती हैं. अर्थात् प्रत्यक्षादिद्वारा प्रमित अर्थके ज्ञानको दृढ बनानेवाली होती हैं, अभ्यासकी तरह ही अतः इनका स्वतन्त्र प्रामाण्य अनावश्यक है.

अनुपलब्धिके स्वतन्त्र प्रमाण होनेकी धारणाका पहले ही निराकरण कर दिया गया होनेसे पुनरुक्ति अनावश्यक है.

पूर्वोक्त तैत्तिरीयारण्यक तथा भागवतपुराण के वचनोंमें निरूपित आर्ष ऐतिह्यके अलावा जो अनार्ष ऐतिह्य होते हैं, ऐसे कि जिन वचनोंके वक्ताका कुछ भी पता न चलता हो, ऐसे अनिर्णायक वचन या तो अप्रमाण होते हैं या फिर निर्णायक होनेपर उनका शाब्दप्रमाणमें अन्तर्भाव स्वीकार लेना उचित होता है.

जिसे 'सम्भव' नामक प्रमाण माना जाता है, उदाहरणतया, जब कहीं हजार संख्या प्रामाणिक हो तो तदन्तर्गत सौ संख्या सम्भव होती ही है. इसे तो अनुमानसे पृथक् माननेका कोई कारण नहीं.

लोकप्रसिद्धि तो प्रत्यक्षके ही अन्तर्गत आती है.

चेष्टा और लिपि को, क्रमशः, अनुमान और शब्द के अन्तर्गत स्वीकारना चाहिये.

अन्तमें अन्तःस्फुरणारूप प्रतिभाको तो अनिश्चायक होनेसे अप्रमाणतया मानना ही उचित होता है. फिरभी प्रतिभाद्वारा यदि किसी पारमार्थिक वस्तु या घटना के संकेत मिलते हों तो उसे शब्दके अन्तर्गत मानना चाहिये.

ऐसे निरूपणके साथ यह पांचवी तरंग समाप्त होती है.

[६.**स्वीकृत प्रमाणोंका प्रामाण्याप्रामाण्य स्वतः होता है या परतः ?**] : जैसा कि इस सम्बन्धमें मूलतः चार पक्ष उभरते हैं :

(१)प्रमाणोंका प्रमाण होना और अप्रमाणोंका अप्रमाण होना, दोनों ही स्वतोविदित होनेवाले गुण हैं.

(२)प्रमाणोंका प्रमाण होना और अप्रमाणोंका अप्रमाण होना, दोनों ही परतोविदित होनेवाले गुण हैं.

(३)प्रमाणोंका प्रमाण होना परतोविदित होनेवाला गुण है परन्तु अप्रमाणोंका अप्रमाण होना स्वतोविदित होनेवाला गुण है.

(४)प्रमाणोंका प्रमाण होना स्वतोविदित होनेवाला गुण है परन्तु अप्रमाणोंका अप्रमाण होना परतोविदित होनेवाला गुण है.

इन चारों मतोंमेंसे प्रथम तीन मतोंको तो सर्वथा अस्वीकृत ही करके चतुर्थ भाट्ट एवं प्राभाकरों के मतमें, ग्रन्थकार, इतना संशोधन प्रस्तुत करना चाहते हैं कि साध्यार्थविषयक लौकिक वाक्योंके प्रयोगके समय क्रिया भावी होती है अर्थात् विद्यमान नहीं होती. अतः [१]उत्पन्न होते ज्ञानका क्रियासे संसर्ग न होनेके कारण, [२]अभिलषित क्रियाके कारण किसी तरहका अनिष्ट नहीं होगा ऐसी केवल सम्भावनाके आधारपर ही वाक्यप्रयोग किया गया होनेसे, [३]वाक्यार्थके अपूर्व भी न होनेके

कारण, [४] ऐसे वाक्यसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अगृहीतग्राही भी न होनेसे, ऐसी स्थितिमें ऐसे ज्ञानकी ग्राहिका सामग्रीकेद्वारा जो प्रामाण्य गृहीत होता है वह अयथार्थ ही होता है. अतः ऐसे स्थलोंपर तो प्रामाण्यको परतोविदित स्वीकारना ही उचित होता है. अन्यथा स्वतोविदित स्वीकारनेमें कोई आपत्ति नहीं.

इस विवेचनाके साथ यह तरंग और प्रमाज्ञानके करणोंका स्वरूप निरूपित करनेवाला कल्लोल और स्वयं प्रमाणपरिच्छेद भी सम्पूर्ण हो जाता है.

प्रमेयपरिच्छेदान्तर्गत ब्रह्माद्वैतके निरूपक प्रथम कल्लोलका सार :

[१.ब्रह्मकी परमप्रमेयताकी उपपत्तिका निरूपण] : ब्रह्मसूत्रके उभयलिंगाधिकरण(३।२।११)के अनुसार वेदान्तमें ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रयतया स्वीकारा जाता है. क्योंकि महानारायणोपनिषद्में यह स्पष्टरूपेण कहा गया है कि एकाकी वह अव्यक्त भी रहता है और अनन्तरूप भी हो जाता है. बृहदारण्यकोपनिषद्में भी कहा गया है कि यह जो कुछ दिखलायी दे रहा है वह स्वयं परमात्मा ही है. अतः ब्रह्मके निरूपणमें उसके विरुद्धधर्माश्रय होनेके हेतुवश यह स्वीकारना पड़ता है कि यहां जो कुछ है वह यथास्थित नित्य ब्रह्मसे अभिन्न ही है. अतएव शब्दके अनुसार जैसा उसका निरूपण मिलता हो वैसा उसे स्वीकार लेना उपपत्तिपक्षके अवलंबनद्वारा ब्रह्मकी परमप्रमेयताका निरूपण है.

इस उपपत्तिपक्षकी प्रक्रियाके अनुसार किये जाते निरूपणमें ब्रह्ममें प्रकट होनेवाले नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्की अनित्यता जैसे अनुभूत होती है; वैसे ही, इन नाम-रूप-कर्मोंको धारण करनेवाले ब्रह्मके स्वरूपकी दृष्टिसे इन्हीं नाम-रूप-कर्मोंको देखनेपर, यही जगत् सदा एकरूपतया भी अनुभूत हो पाता है. क्योंकि जब सभी कुछ ब्रह्मात्मक ही

हो तो ब्रह्मसे भिन्न कोई प्रमेय रह ही नहीं जाता. अर्थात् प्रपञ्चात्मना ब्रह्म जन्यत्वादि धर्मोंवाला अनुभूत होनेपर भी ब्रह्मात्मना प्रपञ्च भी अजन्य-अविनाशी ही ब्रह्मज्ञानीको अनुभूत होता है. क्योंकि असद्वस्तुकी सत्ताका और सद्वस्तुकी असत्ताका भगवद्गीताके ''नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'' वचनमें अस्वीकार किया गया है. हमारी बुद्धिमें प्रकट होते राजसज्ञानोंके आधारपर यह प्रपंच प्राकृत तथा देश-काल-वस्तुके परिच्छेदोंमें घिरा हुवा प्रतीत होता है, वैसा ब्रह्मको साक्षात् अनुभव करनेवालोंको अथवा शास्त्रतः ब्रह्मके स्वरूपको जाननेवालोंको अवगत या मान्य नहीं हो पाता. अतएव इस जगत्को मायिक आभासके रूपमें भी स्वीकारा नहीं जा सकता है, क्योंकि ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'' जैसे वचनोंमें एक ब्रह्मके अनेकतया प्रतीत होनेमें मायाकी करणता ही निरूपित हुयी है, उपादानता नहीं. ग्रन्थकार कहते हैं कि इस विषयकी विस्तृत विवेचना सृष्टिभेदवादमें की ही गयी होनेसे विशेष कुछ जिज्ञास्य होनेपर वहीं अवलोकन कर लेना चाहिये. आद्य तरंग इस निरूपणके साथ पूर्ण होती है.

[२.मूल एक स्वरूपमेंसे लीलार्थ अनेक रूपोंकी उत्पत्तिका निरूपण] : सृष्टिको प्रकट करनेसे पूर्व सच्चिदानन्दात्मक सर्वभवनसमर्थ ब्रह्म निराकार होनेपर भी बिना किसी निमित्तान्तरके अंशतो धर्मरूपेण, बादमें क्रियारूपेण; और, अन्तमें प्रपंचरूपेण आविर्भूत हो जाता है. उत्पत्तिपक्षकी ऐसी प्रक्रियाका अवलंबन करके भी ब्रह्मसूत्रकारने ब्रह्मके अद्वैतका प्रतिपादन किया है. अतः ब्रह्मके स्वाभाविक अद्वैतकी और लीलार्थ प्रकट ऐच्छिक द्वैतकी प्रक्रियाका विचार करनेपर यथायथ मुख्य और अमुख्य उभयविध लीलाओंकी व्याख्या हो जाती है.

इस एकमेवाद्वितीय तत्त्वमेंसे अनेकविध नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्के उत्पन्न होनेकी प्रक्रियाके निरूपणार्थ ब्रह्मका निरूपण तीन तरहसे किया

जाता है :

(१)स्वरूपकोटि

(२)कारणकोटि

(३)कार्यकोटि.

सृष्टिकी उत्पत्तिप्रक्रियाका निरूपण श्रीमहाप्रभुविरचित सुबोधिनी (२।९।१)के अनुसार ग्रन्थकार यों दिखलाते हैं : धर्मरूपेण आविर्भूत होनेपर ब्रह्ममें पहले ज्ञान आनन्द काल इच्छा क्रिया माया प्रकृति और पुरुष के रूप आविर्भूत होते हैं. इनमें कालको ब्रह्मकी क्रियाशक्तिके रूपमें स्वीकारा जाता है. यहां इच्छाको अभिध्यानरूपा माना गया है. एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके अनेकताके इस अभिध्यान(सोचने)का ही उपनिषद्में उसके अनेकभावापन्न होनेके काम(चाहना)के रूपमें भी निरूपण किया गया है. अनेक रूपमें प्रकट होनेकी उसकी कामनाका निरूपण श्रुतिमें इस तरह हुवा है : (१)बहु स्यां (२)प्रजायेय.

(१)इनमें प्रथम "बहु स्यां" अंशमें प्रतिपाद्य प्रकार भेदको प्रकट करनेकी ब्राह्मिक कामना है. इसके कारण क्रिया ज्ञान और आनन्द रूपी धर्म स्वयं पृथग्भावापन्न हो कर सत् चित् आनन्द रूपी धर्मिओंमें भी भेद खड़ा करते हैं. अर्थात् अखण्डसच्चिदानन्दैकरस तत्त्वको ये धर्म क्रियावान् ज्ञानी और आनन्दी धर्मी बना देते हैं. तब वह भगवान् साकारताको प्राप्त होते हैं. इस तरह भिन्न हो जानेपर भी अपने मौलिक अभिन्नत्वके भी आलोचनरूप अभिध्यानके अक्षुण्ण रहनेके कारण वह भिन्न होता हुवा भी अभिन्न रह पाता है. फलतः "पूर्णम् अदः पूर्णम् इदं पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णमेव अवशिष्यते" श्रुतिवचनमें अखण्डैकरसपूर्ण सच्चिदानन्दमेंसे पूर्ण क्रियावान् पूर्ण ज्ञानवान् तथा पूर्णानन्दवान् के प्राकट्यका निरूपण विवक्षित है.

'सच्चिदानन्द' पदोंके साथ भाववाचक 'त्व' या 'ता' प्रत्ययोंको जोड़नेपर सत्ता चैतन्य या प्रियता के रूपमें इन्हीं 'अस्ति' 'भाति' और 'प्रिय' पदोंसे बोधित धर्मोंकी कार्यप्रपंचमें अनुगति प्रतिपादित होती है.

इस सृष्ट्याविर्भावकी ऐसी प्रक्रियामें सदंशमें क्रियाशक्ति प्रकट होती है. अतः सदंशात्मना वह नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्का उपादान कारण बनता है. चिदंशमें वह अनेक अंशात्मना प्रकट होता है तथा व्यामोहिका माया भी इसी अंशमें प्रकट होती है. इस व्यामोहिका मायाको त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके रूपमें नहीं समझ लेना चाहिये. क्योंकि त्रिगुणात्मिका प्रकृति तो जगत्कर्ता बननेवाले आनन्दांशकी शक्तिरूपा जो माया होती है उसकी अंशभूता होती है. अतः अपने सच्चिदानन्दरूपमें ही इस कार्यभूत जड़जगत्का ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण तथा अंशभूत जीवान्तर्यामिजगत्का अंशी रूप उपादान बनता है.

(२)द्वितीय 'प्रजायेय' अंशमें प्रतिपाद्य प्रकारके कारण वह स्वयंके किसी एक अंशमें उत्कर्षको तो अन्य किसी अंशमें अपकर्षको प्रकट करता होता है. यों इन तीनों अंशोंमें आनन्दांश उत्कृष्ट हो जाता है तथा चिदंश और सदंश उत्तरोत्तर अपकृष्ट. अतएव तिरोहित चैतन्य धर्मको प्राप्त करनेकी सदंशोंमें एक औत्सर्गिकी अभिवृत्ति होती है. चिदंशोंमें भी, इसी तरह, आनन्दको प्राप्त करनेकी एक औत्सर्गिकी अभिवृत्ति होती है. इसी अभिवृत्तिके परिणामरूपेण सदंशनिष्ठा क्रिया और चिदंशनिष्ठ ज्ञान आनन्दांशनियन्त्रित हो जाते हैं. अतएव चिदंशनिष्ठा व्यामोहिका माया अपने आश्रयमें व्यामोहन उत्पन्न कर पाती है. इसी व्यामोहनके विवश और आनन्दांशकी ओर प्रबल अभिवृत्तिके विवश भी प्राकृत दशविध प्राण तथा चतुर्विध अन्तःकरणग्रन्थिओंमें चिदंश उलझ कर जीवात्मा होनेके गुणधर्म धारण कर लेता है. और इसी

कारण आगे बढ़ते-बढ़ते पांचभौतिक देह और उस देहके पोषक रूप-रस-गन्धादि विषयों; और, इनके निरन्तर व्यासंगवश इनमें पनपी अहन्ता-ममताके अध्यासोंसे भी वह घिर जाता है. अतएव सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंश प्राण आदि सभी चिदंशभूत जीवात्माके बन्धनके सामान या परिकर बन जाते हैं और चिदंश बन्धनीय बन जाते हैं. सो आनन्दांश अन्तर्यामितया इन दोनों अंशोंका नियामक बन जाता है. ये तीनों ही सदंश चिदंश और आनन्दांश, अग्निमेंसे चिनगारीके तरह, ब्रह्ममेंसे ब्रह्म ही में व्युच्चरित होते हैं. इन बद्ध जीवोंमेंसे जिन्हें भगवान् पूर्ण ज्ञानशक्ति प्रदान करते हैं, वेही अपनी शक्तिरूपा व्यामोहिका मायाके चंगुलसे छुटकारा पाते है. व्यामोहिका मायाके बन्धनसे मुक्त चिदंश अपने शुद्ध स्वरूपमें अवस्थित होनेपर अपराधीन तो हो जाता है, एतावता ब्रह्मके असाधारणधर्म जगत्कर्तृत्व आदि उसमें प्रकट नहीं हो पाते. स्वयं अंशी भगवान्के साथ या आनन्दांशरूप अन्तर्यामीके साथ जुड़नेपर ही चिदंशको आनन्दकी उपलब्धि हो पाती है. यह सृष्टिकी ब्रह्मवादानुसारिणी उत्पत्ति स्थिति और मुक्ति की प्रक्रिया है.

इसके बाद ग्रन्थकार सृष्ट्युत्पत्तिकी अवान्तर प्रक्रियाओंके निरूपणमें तत्त्वार्थदीपनिबन्धोक्त षड्विध प्रक्रियाओंके विस्तारमें गये बिना संक्षेपमें दो तरहकी प्रक्रियाओंको समझाते हैं : (१)अक्रमप्रक्रिया (२)क्रमप्रक्रिया.

(१)इनमें अक्रमप्रक्रिया बृहदारण्यकोपनिषद् एवं मुण्डकोपनिषद् में वर्णित है. सदंश चिदंश और आनन्दांशोंके अन्तर्गत सदंशतया प्राण लोक देव भूतों की सृष्टि, आत्मरूपेण चिदंशोकी सृष्टि और आनन्दांशोंकी सृष्टि पूर्वोक्त अग्निविस्फुलिंगन्यायेन एक साथ ही होती है.

(२)क्रमसृष्टिप्रक्रिया, छान्दोग्योपनिषद् तथा तैत्तिरीयोपनिषद् में निरूपित हुयी है. यहां आत्मामेंसे आकाश, आकाशमेंसे वायु, वायुमेंसे अग्नि,

अग्निमेंसे जल, जलमेंसे पृथ्वी, पृथ्वीमेंसे औषधि, औषधिमेंसे अन्न; और, अन्नसे पुरुषकी उत्पत्ति निरूपित की गयी हैं.

इन दोनोंमें लक्ष्यमें रखने लायक बात यह है कि इन प्रकियाओंमें सदंशके उद्‌गममें ही अन्तर दिखलायी देता है, चिदंश और आनन्दांशों के उद्‌गममें नहीं. तैत्तिरीयोपनिषद्‌में देहप्रवेशके बाद जीवात्मा और अन्तर्यामी में भेद पड़ता दिखलाया गया है. सृष्टिके बाद कार्यका विचार करनेपर बृहदारण्यककोपनिषद्‌में नाम रूप और कर्म के भेदसे तीन तरहकी सृष्टि गिनायी गयी है. छान्दोग्योपनिषद्‌में, परन्तु, केवल नाम और रूप यों दो ही प्रकारसे सृष्टि निरूपित हुई है. अतः कर्मकी सृष्टिमें कुछ गौणता सिद्ध होती है. यों दो ही तरहकी सृष्टि सिद्ध होती है. इस तरह सृष्टिके निरूपणमें जहां केवल दो, नाम और रूप, को ही गिनाया जाता है, वहां पंचविध कारणरूपोंके अन्तर्गत —

> [१]द्रव्य=सर्वभवनसामर्थ्यरूपमाया, जो त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके रूपमें प्रकट होती हुयी अन्तमें पंचतन्मात्रा और पंचमहाभूत बन जाती है. [२]कर्म, जो लौकिकक्रियाओंद्वारा अभिव्यक्त होता है. [३]काल=भगवच्चेष्टारूप, [४]स्वभाव, जो भगवान्‌की इच्छाका लोकमें प्रकट परिणामरूप होता है. [५]जीव=पुरुष, व्यष्टि-समष्टिभेदवश द्विविध होता है.

यों रूपके इन उल्लिखित पांच प्रकारोंमें ही एक प्रकारविशेषतया कर्मकी भी परिगणना कर ली जाती है. अतः सृष्टिको 'द्विविधा' कहा जाता है. इस रूपसृष्टिमें ऊपर गिनाये गये कारणोंके अनुसार पंचविध भगवान् सृष्टिकारणतया स्वीकारे जाते हैं.

नामसृष्टिकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया कुछ इस तरह है :

भगवान् पहले सूत्ररूपेण प्रकट होकर सुषम्णामार्गसे व्यक्त होनेपर, घोषात्मक शब्दब्रह्मका रूप धारण करते हैं. यही घोष बादमें नादरूप धारण कर वर्ण पद और वाक्य बन जाता है.

इस तरह परमप्रमेयरूप ब्रह्मके अद्वैतका निरूपक कल्लोल और उसके अन्तर्गत मूल एक स्वरूपमेंसे लीलार्थ अनेकरूपोंकी उत्पत्तिका निरूपण करनेवाली यह द्वितीय तरंग भी यहां समाप्त हो जाती है.

प्रमेयपरिच्छेदान्तर्गत ब्रह्मके कोटित्रय निरूपक द्वितीय कल्लोलका सार :

[१.प्रमेयरूप ब्रह्मकी स्वरूपकोटिका निरूपण] : ब्रह्मकी स्वरूपकोटिके अन्तर्गत सर्वप्रथम (१) क्रिया (२) ज्ञान और (३) क्रिया-ज्ञानोभयविशिष्ट के अवान्तर भेदवश ब्रह्मको त्रिविध माना जाता है.

(१) वेदादिभावापन्न शब्दको प्रमुख प्रमाण मान कर चलनेवाले वेदान्तचिन्तनमें वेदके पूर्वकाण्डमें जो यज्ञादिका निरूपण है उसे, तात्पर्यवृत्तिवश, यज्ञादिरूप ब्रह्मका ही निरूपण स्वीकारा गया है. वैसे अनुष्ठानसे आरम्भ करके फलानुभूति पर्यन्त साधनतया क्रिया ही अनुभूतिगोचर होती है, फिर भी, ब्रह्मको क्रियाओंमें अन्तर्हित मान लेनेपर ब्रह्म वेदका पूर्वकाण्डार्थ कैसे हो पायेगा ? ऐसी आशंका अप्रासंगिक बन जाती है.

(२) इसी तरह द्वितीयकाण्डमें सच्चिदानन्दात्मक अनन्तरूप अनन्तगुण अनन्तशक्ति ब्रह्मका प्रतिपादन माना जाता है. वहां भी गुरूपसत्तिसे लेकर मोक्षप्रद ज्ञानकी चरमवृत्ति पर्यन्त ज्ञान ही प्रतीत होता है; फिर भी, ऐसे ज्ञानमें भी ब्रह्मको अन्तर्हित माना जाता होनेसे उत्तरकाण्डार्थ भी ब्रह्म ही केवल सिद्ध होता है.

(३) वेदोपनिषद्के उपबृंहणरूप भगवद्गीता और भागवतपुराण में तो भक्तिके विषयतया; अर्थात् भजनीयतया, क्रिया और ज्ञान से विशिष्ट साकार अनन्तगुणपूर्ण भगवद्रूपका प्रतिपादन उपलब्ध होता है. ऐसा स्वरूप परमभक्तिके कारण ही प्रकट होता होनेसे भक्ति वहां गुण बन जाती है. सो ज्ञान एवं क्रिया उभयविशिष्ट स्वरूप वह होता है. तीनों तरहके ये प्रमाणानुरोधी प्रमेय स्वरूपकोटिके अन्तर्गत आते हैं. अक्षरब्रह्मका उत्तरकाण्डमें और कर्मका पूर्वकाण्डमें निवेश स्वीकारा गया है. काल भी गुणाभिमानी ब्रह्मा आदि त्रिदेवोंसे उत्कृष्ट होनेके कारण स्वरूपकोटिके अन्तर्गत परिगणित होता है. इसी तरह स्वभावका भी स्वरूपकोटिमें अन्तर्भाव स्वीकारा गया है. अन्तर्यामिओंका वैसे तो स्वरूपकोटिमें अन्तर्भाव किया जाना उचित होता; फिरभी, जीवात्माओंके साथ कायामें प्रविष्ट होते होनेके कारण अन्तर्यामीका निवेश कार्यकोटिमें किया जाता है, स्वरूपकोटिमें नहीं.

इसके बाद ग्रन्थकार स्वरूपकोटिगत अक्षरब्रह्मका निरूपण करते हुवे कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष रूपोंमें प्रकट होनेवाले भगवद्रूपको 'अक्षरब्रह्म' कहा जाता है. यह इदमित्थतया वाङ्मनोगोचर नहीं हो पाता. यह निर्विकल्पित ज्ञानात्मक होता है. इसमेंसे प्रकृति और पुरुष प्रकट होते हैं. इसे 'ब्रह्म' 'कूटस्थ' 'अव्यक्त' 'असत्' या 'तमः' आदि पदोंसे भी निरूपित किया जाता है.

वाल्लभ वेदान्तमें स्थूल-सूक्ष्म देहोंसे अवच्छिन्न जीवचैतन्यको 'कूटस्थ' नहीं कहा जाता. अस्तु. इस अक्षरब्रह्मका अनेकधा निरूपण किया जाता है : कभी मूल साकार भगवद्रूपके चरणतया, कभी आसनतया, व्यापिवैकुण्ठात्मक लोकतया, अन्तर्यामी परमात्मासे व्याप्य आत्मतया क्योंकि जीवात्मचैतन्य अक्षरांशरूप होता है. ब्रह्मके ऐसे रूपका साक्षात्कार होना ज्ञानमार्गका फल है.

[क]काल [ख]कर्म और [ग]स्वभाव इसी अक्षरब्रह्मके अवान्तर रूप माने जाते हैं, कर्म और स्वभाव को कभी कालके अंशतया भी निरूपित किया जाता है.

[क]काल अन्तःसच्चिदानन्दरूप होनेपर भी व्यवहारमें ईषत्सत्त्वांश प्रकट करता है. यह नित्य गतिशील होता है, सभीका आश्रय तथा उद्भव रूप होता है. सूर्य आदि इस कालके आधिभौतिक रूप हैं. परमाण्वादि द्विपरार्धान्त इसके आध्यात्मिक रूप होते हैं. स्वयं भगवान् साक्षात् इसके आधिदैविक रूप होते हैं.

[ख]कर्तव्यविधायक शास्त्रके वचनोंद्वारा विहित या निषिद्ध प्रकारकी लौकिक क्रियाओंके कारण तत्तत् प्रदेशोंमें अभिव्यक्त होनेवाली व्यापक क्रियाको 'कर्म' कहा जाता है. इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मगुणतया अदृष्ट वाल्लभ वेदान्तमें स्वीकार्य नहीं है. अतः 'अपूर्व' 'अदृष्ट' 'धर्म' या 'अधर्म' पदोंके अर्थतया यहां कर्मका स्वरूप जो समझाया गया तदनुसार ही समझना चाहिये. अतः सर्वसाधारण होनेपर भी तत्तत् कर्ताओंकी तत्तत् क्रियाओंद्वारा अभिव्यक्त प्रकट हो पानेके कारण कर्मफलव्यवस्था उपपन्न हो जाती होनेसे कर्मनानात्व स्वीकारनेका कोई औचित्य नहीं रह जाता. दान-हिंसा आदि क्रियाओंके बारेमें जो 'धर्माधर्म' पदोंका प्रयोग किया जाता है, वह भी धर्माधर्मको अभिव्यक्त करनेकी प्रक्रियाके द्वारा ही उपपन्न हो जाता है.

[ग]इस सृष्टिमें प्रकट होनेवाले प्रत्येक परिणामोंको भगवान्की इच्छा के अनुरूप निभानेवाले रूपको 'स्वभाव' कहा जाता है. यह व्यापक और सभी वस्तुओंको अपने पश्चाद्वर्ती बना कर स्वयं सर्वावरकतया प्रकट होता है.

इस तरह कोटित्रयोंमें प्रथम स्वरूपकोटिका निरूपण करनेवाली

तरंग यहां समाप्त होती है.

[२.प्रमेयरूप ब्रह्मकी कारणकोटिका निरूपण] : किसी वस्तुकी कारणता गृहीत करनेकेलिये किसी कार्यविशेषकी आविर्भाविका शक्तिमत्ता उस वस्तुमें गृहीत होनी आवश्यक होती है. अतः भगवान्के जो रूप इस ब्रह्माण्डरूप कार्यको प्रकट करने आविर्भाविका शक्तिसे सम्पन्न होते हैं उन्हें कारणकोटिमें निविष्ट माना जाता है. भगवान्के जो रूप, परन्तु, सर्वसाधारण होते हैं, अर्थात् कार्यविशेषको आविर्भूत करनेकी शक्तिके द्वारा जिनके निरूपण करनेकी अपेक्षा नहीं होती, उन्हें स्वरूपकोटिमें निविष्ट माना जाता है. अतः ऐसी स्वरूपकोटिके निरूपणके बाद अब कारणकोटिका निरूपण अवसरोपात्त होनेसे कारणकोटिका निरूपण किया जाता है.

अट्ठाईस तत्त्व, अतएव, भगवान्की कारणकोटिके रूप माने जाते हैं. इन्हें 'तत्त्व' कहनेका हेतु 'तत्त्व' पदकी व्युत्पत्तिके अवलोकन करनेपर स्पष्ट हो जाता है : तत्=भगवान् + त्व=होना. अतः जिन-जिन विशेष रूपोंको आविर्भूत करनेकेलिये भगवान्ने जो-जो विशेष रूप धारण किये वे सारे रूप भगवान्के कारणकोटिके रूप गिने जाते हैं. अतः भगवान्की कारणता लोकमें अट्ठाईस रूपोंमें प्रकट हुयी सो उतने तत्त्व कारणकोटितया परिगणित होते हैं. भगवान्की आविर्भाविका शक्ति इन रूपोंमें संक्रान्त हुयी होनेसे इन्हें ब्रह्माण्डाविर्भाविका शक्तिके असाधारण आधार होनेसे भगवद्गीता और भागवतपुराण के आधारपर कारणतया स्वीकारा जाता है.

[१-सत्त्वगुण] सत्त्वगुण अनावरक होता है, प्रकाशक होता है और सुखात्मक होनेके साथ-साथ देहिओंके भीतर सुखासक्ति और ज्ञानासक्ति के द्वारा देहादिमें आसक्तिजनक होता है.

[२-रजोगुण] रजोगुण रागात्मक होता है, तृष्णा संग आदिका जनक होता है और कर्मासक्तिके द्वारा देहादिमें दृढतर आसक्तिका जनक होता है. उपलक्षणविधया लोभ सहसा प्रवृत्तिओंमें उलझ जाना आदि भी रजोगुणके परिणाम होते हैं.

[३-तमोगुण] तमोगुण आवरणशक्तिके कारण प्रकट होता है, सभी देहिओंके भीतर मोह प्रबल करनेवाला होता है और प्रमाद आलस्य निद्रा आदिद्वारा देहादिमें दृढतम आसक्तिका जनक होता है. उपलक्षणविधया अप्रकाश और अप्रवृत्ति जैसे पारिणाम भी तमोगुणवशात् ही प्रकट होते हैं.

इसके बाद स्वभाववाद या अनीश्वरवाद के अवलम्बनद्वारा कापिल सांख्यमतके अनुसार जो इन तीन गुणोंके स्वरूप दिखलाये गये हैं, उनमें इनका स्वतो अनुवर्तन, तत्तत् परिणामोंको प्रकट करनेको अन्योन्यमिथुनवृत्ति होना तथा रजोगुणकी दुःखात्मकता इतनी बातें गीता-भागवतादिसे विरुद्ध जाती होनेसे अमान्य करके अवशिष्ट बातोंको अविरुद्ध होनेसे मान्य रखा है. इसके बाद ग्रन्थकार कहते हैं कि ये गुण स्वयं भगवान्मेंसे प्रकट होते माने जाते होनेसे भगवान्के आनन्दांशकी शक्तिभूता सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाके द्वारा यह कार्य सम्पन्न होता है. इनमें रजोगुण-तमोगुणसे अमिश्रित सत्त्वगुण भगवान्के भूतलपर अवतीर्ण होनेपर अवतारशरीरतया प्रकट होता माना जाता है. इन तीनों गुणोंमें कालहेतुक क्षोभ उत्पन्न होनेपर मिश्रित त्रिगुणात्मिका प्रकृति-अवस्था इन त्रिगुणोंकी प्रकट होती है. क्षुब्धतया इतरेतरमिश्रित होनेवाले त्रिगुणोंकी इस 'प्रकृत्या'ख्य अवस्थासे सूत्र या महत् तत्त्व उत्पन्न होता है. इसके अलावा सुबोधिनी(२।५।१८)में महाप्रभुने यह विवेचना भी की है कि कैसे सच्चिदानन्दरूप भगवान्के सत् चित् एवं आनन्द के ही पहलुओंसे यथाक्रम सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण प्रकट होते हैं. वहां यह स्पष्टीकरण दिया गया है कि रुईमेंसे बननेवाला सूत रुईके रूपमें

दिखलायी नहीं देता परन्तु रुई सूतमें दिखलायी देती है. इसी तरह प्राकृतगुणरहित भगवान्‌में ये तीन गुण दिखलायी नहीं देते परन्तु भगवान्‌के सत् चित् और आनन्द इन तीन गुणोंमें अनुगत होते देखे जा सकते हैं.

[४-पुरुष] तीन गुणोंके बाद अब पुरुषकी बारी आती है. पुरुष यानि आत्मा. देह इन्द्रिय आदि सभीमें जो व्याप्त होती हो अधिष्ठित होती हो उसे 'आत्मा' कहा जाता है. इसके तीन लक्षण दिखलाये गये हैं :

(क)स्वरूपदृष्ट्या आत्मा स्वयंप्रकाशरूप होती है.

(ख)लोकमें आत्माको अनादि निर्गुण प्रकृतिनियामक और 'अहं'वित्तिवेद्य माना जाता है.

(ग)आत्माका मुक्त्युपयोगी स्वरूप इस तरह निरूपित किया गया है कि वह विश्वगत गुण-दोषोंसे रहित होनेपर भी इनके साथ संसर्ग रखनेवाली होती है.

(क)यदि आत्माको स्वयंप्रकाशरूप न माना जाये तो आत्मेतर किसी भी विषयके प्रकाशनसे रहित सुषुप्तिके समय होते स्वानुभूत्येकवेद्य निजात्मज्ञानकी व्याख्या हो नहीं पायेगी. अतएव इस विषयमें श्रीपार्थसारथिके मतकी आलोचना करते हुवे ग्रन्थकारका कहना है कि निद्राकालिक सुखको आत्माके स्वयंप्रकाश होनेके प्रमाणतया स्वीकारना आवश्यक है. अतएव बृहदारण्यकोपनिषद्‌में सुषुप्तिके आत्माके स्वयञ्ज्योति होनेके तथ्यपर भार दिया गया है.

(ख)आत्माको 'अनादि' कहनेका तात्पर्य यही है कि वह महदादि तत्त्वोंकी तरह सादि नहीं होता. काल निर्गुण होता है परन्तु वह

'अहं'वित्तिवेद्य नहीं होता. देहमें भी आध्यासिक 'अहं'वित्ति तो रहती है परन्तु देह प्रकृतिके नियामक नहीं प्रत्युत प्रकृतिनियत ही होते हैं.

(ग)अपने मूलरूपमें यह पुरुष नाना नहीं होता अर्थात् नाना जीवोंकी समष्टिरूप एक ही होता है. अतः जो पुरुषका लक्षण है वही जीवका भी लक्षण होता है. प्रकृति यदि एकविध होती तो पुरुष और जीव भी सर्वथा एकविध ही होते अर्थात् पुरुष एक और जीव नाना न होते. परन्तु प्रकृति भी द्विविध होती है : एक मूलप्रकृति और दूसरी व्यामोहिका माया. अतः कालद्वारा क्षुब्ध होनेपर इतरेतरमिश्रित हो जानेवाले गुणोंकी साम्यावस्थावाली मूलप्रकृतिमें मूल पुरुषका चैतन्य प्रतिबिम्बित होनेपर वह महत् तत्त्वको प्रकट करती है. तथा व्यामोहिका मायासे मोहित हो कर पुरुष अपने-आपकी नाना अंशात्मना विभक्तावस्था प्रकट करता है. अतएव न तो सभी जीवोंका स्वतो ही पृथक-पृथक् व्यापक होना और न प्रपञ्चका मिथ्या होना ही श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रोंसे सिद्ध होती बातें हैं. जीवात्माओंको साक्षात् अक्षरब्रह्मका अंश माना जाये अथवा अक्षरब्रह्मके पुरुषात्मना प्रकट होनेके बाद उस पुरुषका अंश माना जाये जीवात्माके भगवदंश होनेके तथ्यमें एतावता कोई अन्तर नहीं पड़ता.

इसके बाद ग्रन्थकार कापिल, पातञ्जल, भाट्ट, प्राभाकर, नैयायिक, वैशेषिक और अन्तमें विज्ञानवादी मतके अनुसार आत्मसम्बन्धी धारणाओंका विमर्श करते हैं. मायावादिओंके अनुसार जो जीवात्माका स्वरूप है उसका विचार शास्त्रार्थप्रकरण और विद्वन्मण्डन में सुविशद किया गया होनेसे यहां पुनः करना अनपेक्षित है ऐसा कह कर पुरुषनिरूपणको समाप्त करते हैं.

[५-प्रकृति] इसके बाद प्रकृतिका निरूपण करते हुवे ग्रन्थकार

कहते हैं कि यह भगवान्‌का वह मुख्य रूप है कि जिसकेद्वारा वे इस जड़जगत्‌का उपादान बनते हैं. इतरेतरमिश्रित गुणोंकी साम्यावस्था 'प्रकृति' कहलाती है. भगवान्‌के सच्चिदानन्द जैसे धर्म-धर्मिरूप उभयविध होते हैं, ऐसे ही प्रकृतिमें भी सत्त्व-रजो-तमोगुण धर्म-धर्मिभावापन्न हो जाते हैं. अतः गुणोंकी साम्यावस्थाको जैसे प्रकृति माना जाता है वैसे ही उद्गत होनेपर इन्हें प्रकृतिके गुण भी माना जाता है. अतएव प्रकृतिको 'तीन गुणोंवाली' भी कहा जाता है. प्रकृति जड़जगत्‌का प्रधान उपादान होती है यह इसका इसके भगवत्सदृश ऐश्वर्य है. कालमें नहीं प्रत्युत कालके साथ प्रकट होना इसका भगवत्सदृश वीर्य है. अतएव इस अर्थमें नित्य होना इसका भगवत्सदृश यश है. इसका सदसदात्मक अर्थात् कार्य-कारणात्मक होना इसका भगवत्सदृश श्रीगुण है. अविशेष होनेपर भी विशेषवती होना इसके भगवत्सदृश ज्ञान-वैराग्य गुण हैं. संक्षेपमें यों प्रकृतिके गुणोंका निरूपण किया जाता है.

[६-महत्] प्रकृतिके बाद उससे उत्पन्न होनेवाले महत् तत्त्वका स्वरूप दिखलाया गया है. वैसे तो प्रकृतिसे सूत्र और महत् दो रूप प्रकट होते हैं फिरभी दोनों परस्पर एकवद्‌भावापन्न हो जाते हैं. अर्थात् सूत्र क्रियाशक्तिमान् होता है और महत् ज्ञानशक्तिमान्, परन्तु, सूत्र और महत् आपसमें मिल कर ज्ञान-क्रिया-उभयशक्तिमान् एक तत्त्व बन जाता है. ऐसे सूत्रमिश्रित महत्‌के आधिभौतिक आध्यात्मिक तथा आधिदैविक भेदवश तीन लक्षण यों दिये जाते हैं : आधिभौतिक लक्षणतया महत्‌को चित्तके रूपमें समझना चाहिये. चित्तका स्वरूप निर्विषय सर्वविकारोंसे रहित ज्ञानात्मिका वृत्तिवाला होना माना गया है. इसमें लक्ष्यमें रखने लायक बात यह है कि बुद्धि कभी निर्विषयक नहीं हो पाती, मन कभी सर्वविकाररहित नहीं हो पाता, सात्त्विक अहंकार ज्ञानरूप होनेपर भी शान्त घोर विमूढ गुणवाले अहंकारसे चित्तका अन्तर समझा जा सकता है. इसी तरह शुद्ध मनसे भी. इसे 'ज्ञानस्वरूप' न कह कर 'ज्ञानात्मिका वृत्तिवाला' जो कहा उससे

आत्मासे भी चित्तका भेद समझा जा सकता है. आध्यात्मिक लक्षणके अनुसार चित्त अपने सात्त्विक रूपमें कूटस्थ होता है तथा स्वाधारविश्वका व्यञ्जक होता है, राजस लक्षणके तोरपर यह जगत्का अंकुररूप होता है; ओर, तामस लक्षणके तोरपर अतिसमर्थ तमका नाशक भी होता है. आधिदैविक लक्षण चित्तका यह है कि वह वासुदेवके आविर्भावका स्थानरूप होता है और अतएव तद्रूपतया उपास्य भी होता है.

[७-अहंकार] चित्तके बाद अहंकारकी बारी आती है. चिदाभास होनेके कारण अहंकार चिदचिद्ग्रन्थिरूप होता है. यह अपने तामसरूपमें तन्मात्राका जनक होता है, राजसरूपमें इन्द्रियोंका जनक और सात्त्विकरूपमें मनोजनक होता है. इन धर्मपुरःसर लक्षणोंके अलावा धर्मिपुरःसर लक्षणमें अहंकारको 'शान्त' 'घोर' तथा 'विमूढ' कहा जाता है. प्राण और बुद्धि इसी अहंकारके रूपान्तर होते हैं. प्राण सभी इन्द्रियोंको बल देनेवाला क्रियाशक्तिमान् तत्त्व होता है. बुद्धिका स्वरूप द्रव्यस्फुरणविज्ञानात्मक होता है. यह इन्द्रियोंकी अनुग्राहिका होती है और संशय विपर्यास निश्चय स्मृति तथा स्वाप रूप पांच वृत्तिओंवाली होती है.

इसके बाद ग्रन्थकार कहते हैं कि भूतोंकी सूक्ष्मावस्थारूप तन्मात्रायें पांच होती हैं. इन्हें निर्विशेष शब्दादि गुणोंवाले भूत होनेके रूपमें अथवा अहंकारोपादानक हो कर जो तत्त्वान्तरका उपादान बनती होनेके रूपमें परिभाषित किया जाता है. इनके विशेषलक्षण अधोनिर्दिष्ट रीतिसे दिये गये है :

[८-शब्द] कानोंसे जिसके धर्म सुनायी देते हों उसे 'शब्दतन्मात्रा' कहा जाता है. ऐसा कहनेसे शब्दोंके जो तारत्व मन्द्रत्व मृदुत्व कर्कशत्व आदि धर्म सुनायी देते हैं उनमें यह लक्षण नहीं जाता. क्योंकि ये धर्म शब्दमें होते हैं स्वयं धर्मोमें नहीं. शब्दके कारण किसीको कुछ दिखलायी देता होना जाना सकता है; उदाहरणतया, कोई व्यक्ति

अपने सामने न भी हो परन्तु 'हाथी-हाथी!' चिल्ला रहा हो तो उसे हाथी दिखलायी देता होना चाहिये ऐसा द्रष्ट्रनुमान होता है. शब्द दृश्यका भी ज्ञापक होता है; उदाहरणतया, भूमिको देखे बिना पदन्यास करनेवालेको "नीचे देखो! बिच्छुपर कहीं पैर न पड़ जाये" कहनेसे बिच्छुका ज्ञान हो जाता है. शब्द अर्थाश्रय भी होता है; परन्तु, यह उसके आधिदैविक स्वरूपका लक्षण है, तन्मात्रारूप शब्दपर वह लागू नहीं होता. इसके बाद न्यायमत एवं भाट्टमत के अनुसार शब्दके स्वरूपकी विवेचना की है.

[९-स्पर्श] यह वायुकी तन्मात्रा त्वचाद्वारा गृहीत होती है. वैसे वायुसे लेकर पृथ्वी तक चारोंमें यह गुण पाया जाता है. अतएव इसे शब्दव्याप्य गुणके रूपमें अथवा रूपव्यापक गुणके रूपमें भी पहचाना जा सकता है. इसके बाद इस बारेमें वैशेपिकोंके मतका सुविशद विमर्श किया है.

[१०-रूप] तेजकी तन्मात्रा रूप नेत्रोंसे ग्राह्य होती है. यह द्रव्यकी आकृति जैसी आकृतिवाला होती है अथवा व्यक्तिसंस्थाके समान संस्थावाले गुणके रूपमें भी इसे परिभाषित किया जा सकता है. इसे स्पर्शवाप्यगुण या रसव्यापकगुणके रूपमें भी इसे परिभाषित किया जाता है. इस विषयमें श्रीपार्थसारथिके मत एवं आलंकारिकोंके मत का भी विमर्श किया गया है.

[११-रस] जलकी तन्मात्रा रस रसनेन्द्रियसे ग्राह्य होती है. यह अव्यक्तमधुर होती है. व्यक्त और अव्यक्त के भेदसे कषाय मधुर तिक्त कटु अम्ल क्षार और मिश्र के सात भेदोंवाली होती है. इसे रूपव्याप्यगुण या गन्धव्यापकगुण के रूपमें भी पहचाना जा सकता है. जलमें यह अव्यक्तमधुर ही होती है परन्तु जलके अनेकविध

आधारोंके भेदवश जलमें रसान्तरकी प्रतीति भी होती ही है.

[१२-गन्ध] पृथिवीकी तन्मात्रा गन्ध घ्राणेन्द्रियसे ग्राह्य होती है. यह गन्ध स्वाश्रयीभूत द्रव्यसे अधिकदेशमें भी उपलब्ध हो सकता है. 'विद्वन्मण्डन' नामक ग्रन्थमेंसे इस विषयका विस्तृत उद्धरण दे कर ग्रन्थकारने सिद्ध किया है कि अवयवी द्रव्यके सूक्ष्म अवयवोंके बहिर्निःसरणके कारण नहीं किन्तु गन्धतन्मात्राके स्वयंके ही स्वाश्रयद्रव्याधिकदेशवर्ती होनेके कारण स्वाश्रयीभूत देशसे अन्यत्र भी गन्ध उपलब्ध होती है.

इसके बाद पंचमहाभूतोंका निरूपण करते हुवे ग्रन्थकार कहते हैं कि ये बहिरिन्द्रियग्राह्य विशेषगुणवान् होते हैं.

[१३-आकाश] आकाश सभी भूतोंको अवकाश प्रदान करता है. आकाशके कारण ही किसी वस्तुके बाहर या भीतर होनेका व्यवहार सम्भव हो पाता है. वैशेषिकोंके मतमें इसे जन्य नहीं माना गया है परन्तु वेदान्तमें आकाशकी भी उत्पत्ति स्वीकारी गयी है. आकाशमें नीलिमाकी प्रतीति वास्तविक होती है या भ्रान्तिरूपा? इस प्रश्नकी विवेचना करते हुवे ग्रन्थकार कहते हैं कि आकाश नीरूप ही होता है. नीलिमाकी प्रतीति भ्रान्तिरूपा ही होती है. आकाशको चक्षुकी सामर्थ्यसे अग्राह्य माननेपरभी प्रमेयबलसे चक्षुसे गृहीत होता मानना चाहिये. क्योंकि अवकाशात्मक आकाश दिखलायी देता ही है. इसका विशेष गुण शब्द होता है.

[१४-वायु] वायु नीरूप होती है. चालन, व्यूहन, गन्ध-द्रव्य-शब्दोंका स्वयंके साथ नयन, और सभी इन्द्रियोंको बल प्रदान करना इतने इसके कार्य होते हैं. इनमें 'चालन'का अर्थ होता है; उदाहरणतया, वृक्षकी शाखाओंको हिलाना, 'व्यूहन'का मतलब; उदाहरणतया ही, खिरे

हुवे वृक्षके पत्तोंको एकत्रित कर देना, गन्धको अपने आश्रयदेशसे अन्यत्र पहुंचाना, कपड़ा जैसे किसी ठोस द्रव्यको भी अपने साथ उड़ाके ले जाना, शब्दको भी उसके उत्पत्तिस्थलसे अन्यत्र ले जाना और अन्तमें सभी इन्द्रियोंको बल प्रदान करना, ये वायुके कार्य हैं. इस निरूपणमें प्राणादिरूप वायुका भी संग्रह हो जाता है. इसका विशेष गुण स्पर्श होता है और कारणसे अन्वित होनेपर शब्द भी इसका गुण होता है. अतः वायुको दो गुणोंवाला द्रव्य माना जाता है.

[१५-तेज] तेजके प्रकाशन पाचन पान हिममर्दन अदन और शोषण रूप छह कार्य होते हैं. प्रकाशन सूर्य आदि प्रकाशपिण्डोंमें स्पष्ट दिखलायी देता है. पाचन जठराग्निद्वारा खाये हुवे अन्नको पचाना या बाह्याग्निद्वारा खाद्यान्नको पकाना, फल आदिको पकानेका काम सूर्यके तेजद्वारा होता भी देखा जा सकता है. जल आदिका पान भी तेजका कार्य है. इसी तरह अन्नादिका अदन भी तेजकार्य है. 'हिममर्दन'का मतलब होता है हिमको दूर करना. 'शोषण'का अर्थ है धूपमें वस्त्रमेंसे जलका शोषण हो जाना. इसी तरह भूख और प्यास भी तेजके कार्य हैं. अतएव चेतनप्राणीद्वारा जो जलादिका पान अन्नादिका भक्षण होता है, वह भी भीतर रहे तेजका ही कार्य है. इसका विशेष गुण रूप होता है और शब्द-स्पर्श उनके कारणोंके साथ अन्वित होनेपर तेजमें उपलब्ध होते हैं. अतः यह तीन गुणोंवाला पदार्थ है.

[१६-जल] जलके क्लेदन पिण्डन तृप्ति प्रीणन आप्यायन प्रेरण तापापनोदन और भूयस्त्व इतने कार्य होते हैं. 'क्लेदन'का मतलब है वस्त्र जैसी वस्तुको भिजाना. 'पिण्डन'का अर्थ होता है किसी वस्तुके चूर्णको पिण्डीभूत करना. 'तृप्ति' भूख आदिको निवृत्त करके पुरुषको तृप्त करना है. 'प्राणन'का अर्थ होता है जिलाना. 'आप्यायन'का मतलब होता है प्राणोंका सन्तर्पण. 'प्रेरण'का मतलब होता है जलद्वारा

अपने प्रवाहकी दिशामें किसी वस्तुको बहा ले जाना. 'तापापनोदन' गरमीको दूर करना है. 'भूयस्त्व'का मतलब होता है कि जल जहां भी रहता हो वहां इकठ्ठे हो कर रहता है. इसका विशेष गुण रस होता है और शब्द-स्पश-रूप इनके कारणोंसे अन्वित होनेपर मिलते हैं.

[१७-पृथ्वी] पृथ्वी रूपवान् द्रव्य होती है तथा सबको साक्षात् धारण करनेवाली 'धरणी' होती है. पृथ्वी सभीकी आधार होनेके साथ सभी तत्त्वोंकी व्यावर्तिका भी होती है. क्योंकि पार्थिव काष्ठादि न हो तो वह्नि प्रकट नहीं हो पाती. पृथ्वीके बिना जल भी कहां भरा जा सकता है? पार्थिव व्यजनसे हवा भी मिलती ही है. इसी तरह गर्तके बिना आकाश भी हो नहीं सकता. न शरीरके बिना सभी इन्द्रियां या आत्मा आविर्भूत हो पाती है. पृथ्वीका विशेष गुण गन्ध है परन्तु अपने-अपने कारणोंके साथ अन्वित होनेपर शब्द-स्पर्श-रूप-रस भी पृथ्वीमें प्रकट होते हैं.

इसके बाद इन्द्रियोंका स्वरूप समझाते हुवे ग्रन्थकार कहते हैं कि इन्द्रियां तैजस अहंकाररूप उपादानसे प्रकट होती हैं और या तो क्रिया या ज्ञान की करण होती हैं. देहसे संयुक्त हो कर ये इन्द्रियां अपने फलद्वारा आत्माकी ज्ञापिका भी हो जाती हैं. इसके बाद मीमांसक नैयायिक आदि अनेक मतोंमें इन्द्रियके बारेमें जो विचार हैं उनका विमर्श किया गया है. मायावादिओंको जो इन्द्रियोंका भौतिक तथा मध्यमपरिमाण होना अभिप्रेत है, उसके विपरीत वाल्लभ वेदान्तमें इन्द्रियोंको अभौतिक और अणुपरिमाण माना गया है.

पांच कर्मेन्द्रियां पंचविध व्यवहारकी जनक होती हैं :

[१८-वाक्] वागिन्द्रिय शब्दोच्चारणके व्यवहारकी करण और वह्निदेवताक होती है.

[१९-पाणि] पाणीन्द्रिय शिल्पजनन व्यवहारकी करण इन्द्रदेवताक होती है.

[२०-उपस्थ] उपस्थेन्द्रिय आनन्दजनन व्यवहारकी करण और प्रजापतिदेवताक होती है.

[२१-पाद] पादेन्द्रिय गतिव्यवहारकी करण और विष्णुदेवताक होती है.

[२२-पायु] पाय्विन्द्रिय विसर्गव्यवहारकी करण और मित्रदेवताक होती है.

इसके बाद पांच ज्ञानेन्द्रियोंका निरूपण इस तरह किया गया है :

[२३-श्रोत्र] नभके विशेषगुण शब्दका ग्रहण करनेवाली श्रोत्रेन्द्रिय दिग्देवताक होती है.

[२४-त्वचा] वायुके विशेषगुण स्पर्शकी ग्राहिका त्वगिन्द्रिय वायुदेवताक होती है.

[२५-घ्राण] पृथ्वीके विशेषगुण गन्धकी ग्राहिका घ्राणेन्द्रिय अश्विदेवताक होती है.

[२६-चक्षु] तेजके विशेषगुण रूपकी ग्राहिका चक्षुरिन्द्रिय सूर्यदेवताक होती है.

[२७-रसना] जलके विशेषगुण रसकी ग्राहिका रसनेन्द्रिय वरुणदेवताक

होती है.

ये सभी लक्षण भागवतपुराणके द्वितीय और तृतीय स्कन्धोंमें मिलते इनके निरूपणके आधारपर दिये गये हैं. ये दसों इन्द्रियां ज्ञानजनक होनेके कारण सात्त्विक होनेपर भी राजस बुद्धि एवं प्राणों के आधीन हो कर अपना काम करती होनेके कारण राजस मानी गयी हैं. इसी तरह क्रियाजनक इन्द्रियां जड़पर्यवसायी होनेके कारण तामस मानी जाती हैं. यह भी भागवतके द्वितीय एवं तृतीय स्कन्धोंमें वर्णित है ही. इन इन्द्रियोंके देवताओंका जो निरूपण किया गया वह उन-उनके कार्यरूप विषयोंको अभिव्यक्त करनेके अर्थमें समझना चाहिये. सभी ज्ञानेन्द्रियां अपने ग्रहणयोग्य विषयको प्राप्त करनेपर ही उनका प्रकाशन करती हैं. कर्मेन्द्रियोंके द्वारा सम्पन्न होती तत्तत् क्रिया ही उनका व्यापार होती है. इन क्रियाओंद्वारा स्थूलशरीरका क्रियाशील बन जाना उस व्यापारका फल होता है.

[२८-मन] क्रिया और ज्ञान रूप दोनों कार्योंको करनेवाला मन उभयात्मक होता है. यह मन संकल्प-विकल्पात्मक और कामजनक होता है. बृहदारण्यकोपनिषद्के "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिः अधृतिः ह्री धीः भीः इत्येतत् सर्वं मनएव" इस वचनके अनुसार सुख दुःख द्वेष प्रयत्न स्नेह आदि अकथित अन्य भी अनेक गुण मनके ही होते हैं, आत्मचैतन्यके नहीं. मनको चन्द्रदेवताक और अणुपरिमाण माना गया है

इन अट्ठाईस तत्त्वोंके अलावा, ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिसे पूर्व इन तत्त्वोंसे पृथक्तया विद्यमान होनेके शास्त्रमें निरूपण उपलब्ध न होनेसे, संख्या आदि गुणोंकी तथा सामान्य आदि पदार्थोंकी कारणकोटिके अन्तर्गत परिगणना की नहीं जाती है. अतः वैशेषिकोंको अभिमत सात पदार्थ, नौ द्रव्य, चौवीस गुण, पांच कर्म, त्रिविध सामान्य, अनन्त विशेष,

समवाय और चतुर्विध अभावों के अन्तर्गत आते कईओंका तो इन्हीं तत्त्वोंमें यथायथ अन्तर्भाव या अस्वीकार समझ लेना चाहिये. यथा चौवीस गुणोंमेंसे शब्दादि पांच गुणोंका तो इन्हीं पांच तन्मात्राओंमें, पृथक्त्वका आविर्भावमें, संयोग गुरुत्व द्रवत्व और स्नेह का स्पर्शमें, भावना और संस्कार का ज्ञानमें, धर्माधर्मका कर्ममें, अन्तर्भाव होता है. सामान्यका आकृतिमे और व्यक्तिप्रवाहमें निवेश स्वीकारा गया है. 'विशेष' नामक स्वतन्त्र पदार्थ तो अमान्य ही है; क्योंकि, ग्रन्थकार कहते हैं कि स्वयं तत्त्वचिन्तामणिकार श्रीरघुनाथ शिरोमणिने 'पदार्थखण्डन' नामक ग्रन्थमें नित्यद्रव्योंका स्वतोव्यावृत्त होना स्वीकारा है. समवायका तो तादात्म्यमें अन्तर्भाव दिखलाया ही जा चुका है. अभावोंका तिरोभावमें अन्तर्भाव भी दिखला ही दिया गया है. अतः रह जाते हैं केवल संख्या परिमाण विभाग परत्व अपरत्व बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न स्थितिस्थापक संस्कार वेग और उत्क्षेपणादि पंचविध कर्म, अतः इनके तत्त्वान्तर होनेकी आशंका उठ सकती है. सो इन्हें उल्लिखित तत्त्वोंसे अपृथग्विद्यमान होनेके हेतुवश अट्ठाईस तत्त्वोंसे अतिरिक्त नहीं माना जा सकता. अतः सिद्ध हुवा कि तत्त्व अट्ठाईस ही होते हैं.

इस तरह अट्ठाईस तत्त्वोंके निरूपणके साथ यह दूसरी तरंग यहां समाप्त होती है.

[३.प्रमेयके अन्तर्गत कार्यकोटिका निरूपण] : ब्रह्मरूप प्रमेयकी कार्यकोटिके बारेमें, ग्रन्थकारका कहना है कि इस विषयमें वाल्लभ वेदान्त अनियतपदार्थवादी होनेके कारण कार्योंकी संख्या अनन्त मानी गयी है.

फिरभी गणशः विचार करनेपर दो तरहके कार्य होते हैं : जीवगण और जड़गण. इनके भी पुनः दो प्रभेद यों होते हैं : व्यष्टिगण और समष्टिगण. 'व्यष्टि' पदका अर्थ होता है वस्तुका ऐसा स्वरूपकी जिसकी

गणना करनी सम्भव न हो. 'समष्टि' पदका अर्थ होता है वस्तुका ऐसा स्वरूप जिसकी गणना करनी शक्य हो. क्योंकि व्यक्तिशः गणना अशक्य होनेपर भी तत्तत् समुदायके रूपमें गणना शक्य हो जाती है. हम सभी व्यष्टिरूप होते हैं तथा यह ब्रह्माण्ड हमारी समष्टि होता है. देहस्थित सजीव कोषोंकी तुलनामें हम समष्टि हैं परन्तु हम जिस समुदायके सदस्य हों उसकी तुलनामें हम व्यष्टिरूप होते हैं. इस तरह उत्तरोत्तर व्यष्टि-समष्टिभाव घट-बढ़ सकता है.

ये सभी कार्य त्रिगुणात्मक होनेके कारण त्रिविध होते हैं. गुण भी सच्चिदानन्दके भेदवशात् भगवत्स्वरूपके त्रिविध होनेके कारण त्रिविध होते हैं.

सत्त्वगुणावतार रमाविष्णुके वैकुण्ठमें [१] भगवद्देहरूप, [२] वैकुण्ठवासी जीवरूप और [३] वैकुण्ठलोकरूप के भेदवश शुद्ध सत्त्वगुण तीन तरहका होता है. इसी तरह ब्रह्मलोकमें रजोगुणावतार [१] ब्रह्माजीका देहरूप, [२] ब्रह्मलोकके जीवरूप और [३] ब्रह्मलोकात्मक शुद्ध रजोगुण भी तीन तरहका होता है. इसी तरह तमोगुणावतार रुद्रलोकमें [१] रुद्रदेहरूप, [२] रुद्रलोकके जीवरूप और [३] रुद्रलोकात्मक शुद्ध तमोगुण भी तीन प्रकारका होता है.

सच्चिदानन्दके अन्तर्गत सदंश अधिभूतरूप होता है. चिदंश अध्यात्मरूप होता है. आनन्दांश अधिदैवरूप होता है. ब्रह्मके असाधारण धर्म होने या स्वतन्त्र होने के कारण अधिदैवत्व आता है. अध्यात्मता आती है अभिमन्ता होनेके कारण. अधिभूतता आती है अधिदैवके और अध्यात्मके लिये व्यवहारहेतु बननेके कारण. वैसे तत्तन्नियामक होनेके कारण अधिदैवत्व आता है और तत्तन्नियम्य होनेके कारण भी अध्यात्मत्व और अधिभूतत्व आता है.

जैसे ब्रह्ममें [१] कृष्ण, [२] अक्षर और [३] अन्तर्यामी होनेके तीन रूपभेद माने जाते हैं, वैसे ही, ब्रह्माण्डके प्रकट होनेपर [१] पुरुषोत्तम [२] अक्षरब्रह्म

और [३] क्षर ऐसे तीन प्रभेद प्रकट होते हैं. श्रीकृष्णके अथवा समष्टि-अन्तर्यामी के ही ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र रूपी त्रिविध गुणावतार और दशविध या चतुर्विंशतिविध लीलावतार प्रकट होते हैं, ऐसा निरूपण शास्त्रोंमें उपलब्ध होता है. अवतारोंसे अवतारीके कुछ तारतम्यके कारण ही उपनिषदोंमें [१] विश्व, [२] तैजस [३] प्राज्ञ से अतिरिक्त [४] तुरीय एक चतुर्थ भेद और निरूपित हुवा है.

इन ब्राह्मिक या पारमात्मिक रूपोंकी शक्तिओंमें भी क्रमशः श्रीकृष्णकी शक्ति [१] सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया स्वीकारी गयी है. अक्षरब्रह्मकी शक्ति [२] त्रिगुणात्मिका प्रकृति स्वीकारी गयी है. और जीवात्माकी शक्ति [३] अविद्या मानी जाती है. इस अविद्याके भी पुनः तीन प्रभेद होते हैं : [१] निद्रा [२] चिन्ता और [३] इन्द्रजालता.

आत्माओंके भी पुनः प्राप्य [१] परमात्मा, सोपानभूत [२] विभूतिरूपात्मा और प्राप्ता [३] जीवात्मा यों तीन प्रभेद होते हैं. इस जीवात्माकी एक पुरुषसमष्टि होती है. अनेक जीवात्माओंके रूपमें व्यष्टि जीव अनेक होते हैं.

गुणोंमें भी तमोरजःसत्त्वोंके प्रभेदके बारेमें मैत्रायणीयोपनिषद्में यह एक स्पष्टीकरण और मिलता है कि तमोगुणसे तमोगुणके सारभूत रजोगुणकी उत्पत्ति होती है. रजोगुणसे रजोगुणके सारभूत सत्त्वगुणकी उत्पत्ति होती है. अतएव प्रणवकी तीन मात्राओंमें 'अ'कारका 'उ'कारमें लय होता है. 'उ'कारका 'म'कारमें लय होता है. इसी तरह गुणाभिमानी देवताओंके बारेमें भी समझ लेना चाहिये. कार्यरूप गुण विकारभावापन्न होनेपर प्रत्येक प्राणीमें [१] स्वभाव, [२] शरीर और [३] गुण के भेदवशात् तीन तरहके होते हैं. इनमें [१] स्वभावरूप सात्त्विक, राजस या तामस गुण तो अनुल्लंघ्य ही होते ही हैं. [२] शरीररूप सात्त्विकता, राजसता या तामसता तो आभिमानिक मूढतावश ही प्रकट हो पाती है. प्राणिओंमें [३] गुणधर्मरूप सात्त्विकता, राजसता या तामसता तो संग तथा शास्त्रों के कारण

घटती-बढ़ती रह सकती है.

शरीरके स्थूल और सूक्ष्म यों दो प्रभेद होते हैं. स्थूल शरीर पांचभौतिक होता है. अतएव पंचमहाभूतोंके उपादानरूप तामस अहंकार महत् और प्रकृति के भेदोंके आधीन स्थूल शरीरमें गुणोंकी भी उपादानता सिद्ध होती है; अतएव, कालाधीनता भी. इसीलिये शरीरप्रकृतिके अनेक प्रभेद भी सिद्ध हो जाते हैं. वैसे पंचीकरणकी प्रकियाके अनुसार भी प्रत्येक भौतिक पिण्डमें : प्रथम अर्धांश पांचमेंसे किसी एक भूतका होता है और द्वितीय अर्धांशमें अवशिष्ट चार भूतोंमेंसे प्रत्येकका एक अष्टमांश भाग होता है. अतएव गीतोक्त रीतिसे त्रिविध आहार भी वैसे-वैसे शरीरोंके पोषक हो कर वैसे-वैसे शरीरोंको प्रिय होते हैं. यह विविधता अतएव इन मौलिक शरीरघटकोंके भेदका विचार करनेपर सुसंगत हो जाती है.

इनके अलावा इन गुणसंमिश्रणोंके बारेमें यह एक और अवधेय तथ्य है कि किसी एक स्वभावका दूसरे स्वभाववश कभी उपमर्दन होता है तो कभी नहीं भी. इसमें भगवदिच्छाधीन काल-कर्म-स्वभावोंके बलाबलोंका तारतम्यको ही काम करता जानना चाहिये.

(गोस्वामि-श्रीदीक्षितात्मज-श्याममनोहर-विरचित 'प्रस्थान-रत्नाकर' नामक ग्रन्थका सार यहां सम्पूर्ण होता है)

॥ विषयानुक्रमणिका ॥

प्रमाणपरिच्छेदस्य

उपकूलम्

(१. पृष्ठात्मकम्)

प्रमास्वरूपबोधौपयिकज्ञानभेदोपभेदनिरूपके कल्लोले

(२ तः ३७ पृष्ठानि)

※ दशविधज्ञाननिरूपकः आद्यः तरङ्गः ※

क्रमो	विषयः	पृष्ठम्
१	प्रथमं सर्वात्मभूतम् अविकृतं स्वस्वरूपात्मकं नित्यम् ...	२
२	द्वितीयं धर्मरूपं नित्यम् ...	३
३	तृतीयं वेदात्मकं नित्यम् ...	४
४	तुरीयं सृष्टिबीजभावापन्नानेकशब्दरूपं नित्यम् ...	४
५	षड्विधानित्यज्ञानेषु पञ्चमं प्रमेयानन्त्येऽपि प्रमेयाश्रितत्वेन एकविधम् ...	४
६	प्रमात्राश्रितन्तु सविकल्पकम् इन्द्रियादि-पञ्चविधाश्रय-भेदात् पञ्चविधम् ...	५
७	उक्तषड्विधज्ञानस्य अनित्यत्वेऽपि स्थैर्यम् ...	६

※ बुद्ध्याश्रितज्ञानत्रैविध्यनिरूपको द्वितीयः तरङ्गः ※

१	तत्र प्रथमं सन्मात्रावगाहि सात्त्विकं ज्ञानम् ...	९

२ द्वितीयं लोकव्यवहारौपयिकं नानाकारं विकल्पावगाहि राजसं ज्ञानम् ... १०

३ तृतीयं लोकव्यवहारेऽपि विसम्वादि तामसं ज्ञानम् ... १०

※ लोकव्यवहारमूलसविकल्पकज्ञाननिरूपकः तृतीयः तरङ्गः ※

१ राजसज्ञानात् पूर्वं जायमानं तद्ग्रस्यमानं च निर्विकल्पकं सात्त्विकं ज्ञानम् ... १२

२ राजसे सविकल्पके ज्ञाने द्विविधप्रकारताहेतुकं द्वैविध्यम् ... १७

३ राजसे सविकल्पके ज्ञाने पुनः द्वैविध्यान्तरनिरूपणम् ... १८

※ पञ्चविध-बुद्धिवृत्ति-निरूपकः चतुर्थः तरङ्गः ※

१ संशय-विपर्यास-निश्चय-स्मृति-स्वाप-रूपैः अवान्तरभेदैः राजसे सविकल्पकज्ञाने पुनरपि पञ्चविधत्वप्रतिज्ञा ... २२

२ सविकल्पकज्ञाने राजसराजसज्ञानरूपः प्रथमः प्रकारः संशयः, तद्द्वैविध्यं, सम्भावनातर्कयोः च तत्रैव अन्तर्भावः ... २२

३ सविकल्पकज्ञाने राजसतामसज्ञानरूपो द्वितीयः प्रकारो विपर्यासः... २५

४ सविकल्पकज्ञाने राजससात्त्विकज्ञानरूपः तृतीयः प्रकारो निश्चयः, तस्य प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन द्वैविध्यं च ... २७

५ सविकल्पकज्ञाने राजसराजसज्ञानरूपः तुरीयः प्रकारः स्मृतिः ... ३०

६ सविकल्पकज्ञाने राजसतामसज्ञानरूपः पञ्चमः प्रकारः स्वापः, सुषुप्तिस्तु स्वप्नावान्तरभेदः ... ३३

७ चिन्तादीनाम् सिद्धान्ताभिमतं स्वरूपम् ... ३५

प्रमाकरणस्वरूपनिरूपके कल्लोले

(३८ तः १८६ पृष्ठानि)

❊ करणकारणसामान्यस्वरूपनिरूपकः आद्यः तरङ्गः ❊

१ कारणे (१)उपादानापरपर्याय-समवायि-(२)निमित्त-भेदात् द्वैविध्यम् ... ३९
२ तत्र क. उपादानकारणस्य द्वैविध्यम् ... ४४
३ ख. तत्र निमित्तकारणस्य स्वरूपम् ... ४४
४ पुनरपि प्रकारान्तरेण कारणताद्वैविध्यनिरूपणम् ... ४४
५ कारणताग्राहकयोः अन्वय-व्यतिरेकयोः निरूपणम् ... ४५
६ करणत्वौपयिकव्यापारस्वरूपम् ... ४५

❊ शाब्दप्रमाकरणनिरूपको द्वितीयः तरङ्गः ❊

१ वेदात्मकशब्दस्य सकलप्रमाणमूर्धन्यत्वम् ... ४८
२ शब्दप्रामाण्यविचारः ... ४९
३ शब्दप्रत्यक्षयोः मिथो विरोधे प्रामाण्यव्यवस्था ... ५२
४ शब्दार्थ-सम्बन्ध-स्वरूपविचारः ... ५३
५ शब्दानित्यत्ववादविमर्शः ... ६९
६ शब्दोत्पत्तितच्छ्रवणप्रक्रियाविमर्शः ... ७७
७ शब्दस्य अर्थप्रत्यायकत्वं वर्णैः पदैः वाक्यैः वा? ... ८१
८ लौकिक-वैदिक-वर्णपद-विभागः ... ९५

९	निखिल-वेदवाक्यानां भगवद्वाचकत्वम् ...	९८
१०	वैदिकपदपदार्थयोः सम्बन्धग्रहोपायः ...	९९
११	शब्दानाम् अर्थप्रत्यायकत्वे शक्ति-लक्षणादि-वृत्ति-विचारः ...	१०१
१२	मुख्यगौणीतात्पर्यभेदेन शब्दवृत्तीनां त्रैविध्यम् ...	१०७
१३	मुख्या वृत्तिः ...	१०८
१४	गौणी वृत्तिः ...	१०८
१५	तात्पर्यवृत्तिः ...	११०
१६	शब्दवृत्तीनाम् आकाङ्क्षादिधर्माणां ज्ञाततया उपकारकत्वं न स्वरूपेण ...	११३
१७	वैदिकशब्दानां प्रर्वतकत्वविचारः ...	११६
१८	स्मृत्याद्यात्मकशब्दस्वरूपविचारे प्रमाणत्वेनाभिमतस्मृति-स्वरूपम्...	११९
१९	प्रत्यक्षानुमानमूलकवाक्यप्रामाण्यमीमांसा ...	१२०
२०	विविदिषादशायां श्रुतिस्मृतिसूत्रभागवतादीनां मुख्यप्रामाण्य-व्यवस्था...	१२१
२१	विद्वद्दशायां शब्दप्रामाण्यव्यवस्था ...	१२१
२२	शब्दप्रामाण्यनिरूपणनिष्कर्षः ...	१२२

*** प्रत्यक्षप्रमाकरणनिरूपकः तृतीयः तरङ्गः ***

१	प्रत्यक्षस्य लक्षणं तत्र प्रत्यक्षे चक्षुरादिभेदेन षट् करणानि इति निरूपणम् ...	१२७
२	मनः इन्द्रियं नेति मतस्य निरासः ...	१२७
३	चक्षुरादीन्द्रिय ग्राह्यविषयाणां स्वरूपम् ...	१२८
४	केवलात्मनः इन्द्रियाग्राह्यत्वनिरूपणम् ...	१३०
५	तमःप्रतिबिम्बादिग्रहणप्रणाली ...	१३०

६ अभावस्य उपादानकारणे आविर्भावतिरोभावयोः च अन्तर्भावात् तद्ग्राहक- सामग्री-ग्राह्यत्व-निरूपणार्थम् अभाव-चतुष्टय-स्वरूप-विचारः ... १३१
७ प्रत्यक्षकरणरूपाणाम् इन्द्रियाणां षड्विध-व्यापारस्वरूपनिरूपणम् ... १३६
८ सदसदात्मकवस्तुनः असत्ताग्रहणे अनुपलब्धिः प्रमाणम् इति मतस्य विमर्शे पार्थसारथिमतम् ... १३९
९ इह केवलाद्वैतवादिनः वेदान्तपरिभाषाकारस्य मतम् ... १४०
१० इह कणभक्षाक्षपादमते ... १४१
११ अत्र स्वसिद्धान्तनिरूपणम् ... १४१
१२ सांख्यमतानुसारेण वृत्तिसामान्यस्वरूपनिरूपणं तत्र माया-वादि-नैयायिकयोः च विप्रतिपत्तेः विमर्शः ... १४३
१२ अथ उक्तपक्षयोः आलोचनपूर्वकं स्वमतनिरूपणं च ... १४५
१३ जाग्रदवस्थायां षड्विधेन्द्रियसन्निकर्षमात्रजन्यं ज्ञानं निर्विक-ल्पकं तदेव संशयादिबुद्धिवृत्त्यनुगृहीतं सत् सविकल्पकं ज्ञानं भवति इति निरूपणम् ... १४६
१४ सविकल्पकज्ञानजन्य- हानोपादानोपेक्षाबुद्धिस्वरूपाणि ... १५०
१५ स्वसिद्धान्ताभिमतसविकल्पकज्ञानजननप्रणाडी ... १५१
१६ स्वप्नात्मिकायाः बुद्धिवृत्तेः स्वरूपम् ... १५१
१७ सविकल्पकज्ञानजनने नैयायिकाभिमतसंयोगसम्बन्ध घटित-प्रणाडी-विमर्शः ... १५२
१८ उक्तविषये मायावादाभिमत-प्रतिबिम्ब-प्रणाडी-विमर्शः ... १५२
१९ भगवत्साक्षात्कारप्रणाडी ... १६०

※ अनुमितिप्रमाकरणनिरूपकः चतुर्थः तरङ्गः ※

१	विषयोपक्रमः ...	१६३
२	अनुमानादिलक्षणेषु अनुमितिप्रमाकरणलक्षणम् ...	१६३
३	अनुमितिप्रमालक्षणम् ...	१६४
४	अनुमितिलिङ्गलक्षणम् ...	१६४
५	पक्षलक्षणम् ...	१६४
६	व्याप्तिलक्षणम् ...	१६४
७	हेतुलक्षणम् ...	१६५
८	हेतुसाध्ययोः व्याप्तिघटकसामानाधिकरण्यलक्षणम् ...	१६५
९	अनुमितिद्वैविध्यम् ...	१६८
१०	केवलव्यतिरेक्यनुमाननिरूपणम् ...	१६८
११	अन्वयव्यतिरेक्यनुमाननिरूपणम् ..	१६९
१२	द्विविधायाअपि अनुमितेः स्वार्थपरार्थभेदेन अवान्तरो भेदः ...	१६९
१३	परार्थानुमानघटकावयवस्वरूपे मतवैविध्यं ...	१६९
१४	परार्थानुमानघटकप्रतिज्ञास्वरूपम् ...	१६९
१५	परार्थानुमानघटकहेतुस्वरूपम् ...	१६९
१६	परार्थानुमानघटकोदाहरणस्वरूपम् ...	१७०
१७	परार्थानुमानघटकोपनयस्वरूपम् ...	१७०
१८	परार्थानुमानघटकनिगमनस्वरूपम् ...	१७०
१९	परामर्शस्वरूपम् ...	१७०
२०	परार्थानुमानघटकावयवविषये भाट्टमताङ्गीकारः पौराणिकरीतिसंवादात्...	१७१
२१	हेत्वाभासानां निरूपणम् ...	१७१
२२	अनुमानप्रमाणस्य वेदान्तचचार्याम् उपयोगः ...	१७४

✻ स्वीकृतेतरप्रमाणानां स्वीकृतेष्वन्तर्भावनिरूपकः पञ्चमः तरङ्गः ✻

१ उपमानादीनाम् उक्तेषु प्रमाणेषु अन्तर्भावः इति निरूपणम् ... १७७

२ उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् ... १७७

३ अर्थापत्तेः प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् ... १७८

४ अनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् ... १८२

५ ऐतिह्यस्य प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् ... १८२

६ सम्भवस्य प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् ... १८२

७ लोकप्रसिद्धेः प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् ... १८२

८ चेष्टा-लिप्योः प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् ... १८२

९ प्रतिभायाः प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् ... १८३

✻ प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वतो वा परतो वेति विमर्शरूपः षष्ठः तरङ्गः ✻

१ ज्ञानप्रामाण्याप्रामाण्ययोः स्वतस्त्व-परतस्त्वे तत्र चतुर्विधाः विप्रतिपत्तयः च ... १८४

२ उभयस्वतस्त्ववादविमर्शः ... १८४

३ उभयपरतस्त्ववादविमर्शः ... १८४

४ अप्रामाण्यस्वतस्त्ववादविमर्शः ... १८५

५ प्रामाण्यस्वतस्त्ववादिषु भाट्टानां मतस्य विमर्शः ... १८५

६ प्रामाण्यस्वतस्त्ववादिषु प्राभाकराणां मतस्य विमर्शः ... १८६

७ तत्र सिद्धान्तः ... १८६

प्रमेयपरिच्छेदस्य

ब्रह्माद्वैतनिरूपके कल्लोले

(१८८ तः १९९ पृष्ठानि)

✻ ब्रह्मणः परमप्रमेयतानिरूपकः आद्यः तरङ्गः ✻

१ सर्वस्य ब्रह्माभिन्नत्वाद् ब्रह्मैव प्रमेयम् ... १८८

२ अनित्यत्वहेतुकस्य ब्रह्मजगद्भेदस्य निरासः ... १८८

३ प्राकृतत्वहेतुकस्य ब्रह्मजगद्भेदस्य निरासः ... १८९

४ मायिकत्वहेतुकस्य ब्रह्मजगद्भेदस्य निरासः ... १८९

✻ मूलस्वरूप-लीलार्थप्रकटितरूपयोः भेदनिरूपकः द्वितीयः तरङ्गः ✻

१ सृष्टिप्रक्रियायाम् उत्पत्त्युपपत्तिभेदेन पक्षद्वयम् ... १९२

२ उत्पत्तिपक्षानुसारिणी सृष्टिप्रक्रिया ... १९२

३ सृष्ट्याविर्भावस्य अवान्तरप्रक्रिया ... १९६

प्रमेयरूपब्रह्मणः कोटित्रयनिरूपके कल्लोले

(२०० तः २०६ पृष्ठानि)

✻ प्रमेये स्वरूपकोटिनिरूपकः आद्यः तरङ्गः ✻

१ स्वरूपकोटौ (१)क्रिया-(२)ज्ञान-(३)तदुभयवैशिष्ट्य-भेदेन त्रैविध्यम् ... २००

२ तत्र स्वरूपकोटिगताक्षरब्रह्मस्वरूपनिरूपणम् ... २०१

३ तत्र कालस्वरूपनिरूपणम् ... २०२
४ तत्र कर्मस्वरूपनिरूपणम् ... २०५
५ तत्र स्वभावस्वरूपनिरूपणम् ... २०५

※ प्रमेये कारणकोटिनिरूपको द्वितीयः तरङ्गः ※

१ विषयोपक्रमः ... २०६
२ गुणत्रयलक्षणनिरूपणम् ... २०७
३ पुरुषस्वरूपनिरूपणम् ... २१०
४ प्रकृतिस्वरूपनिरूपणम् ... २२३
५ महत्स्वरूपनिरूपणम् ... २२५
६ अहंकारस्वरूपनिरूपणम् ... २२७
७ पञ्चतन्मात्रानिरूपणम् ... २२८
८ उक्तानां पञ्चतन्मात्राणां विशेषलक्षणानि ... २२९
९ शब्दः ... २२९
१० स्पर्शः ... २३१
११ रूपम् ... २३५
१२ रसः ... २३८
१३ गन्धः ... २३८
१४ पञ्चमहाभूतलक्षणानि ... २४१
१५ आकाशः ... २४१
१६ वायुः ... २४७
१७ तेजः ... २४८
१८ जलम् ... २४८
१९ पृथ्वी ... २५०
२० इन्द्रियाणां लक्षणानि ... २५३
२१ कर्मेन्द्रियाणि ... २५५

२२ ज्ञानेन्द्रियाणि ... २५५
२३ मनः ... २५८
२४ तत्त्वान्तरनिरासपूर्वकः कारणकोटिनिरूपणोपसंहारः ... २५९

※ प्रमेये कार्यकोटिनिरूपकः तृतीयः तरङ्गः ※

१ जडजीवयोः व्यष्टि-समष्टिभेदेन कार्यद्वैविध्यम् ... २६२
२ कार्यस्य त्रिगुणात्मकत्वेन त्रैविध्यम् ... २६२
३ सच्चिदानन्दांशानां आधिभौतिकत्वाध्यात्मिकत्वाधि-दैविकत्वानिः ... २६२
४ कृष्णाक्षरान्तर्यामि-पुरुषोत्तमाक्षरक्षर-भेदाभ्यां त्रैविध्य-व्यवस्था ... २६३
५ कृष्णादित्रयाणां मायादिशक्तित्रैविध्यम् ... २६३
६ जीवेऽपि पुरुष-व्यष्टि-समष्टि-भेदेन तमआदि गुण-त्रैविध्यम् ... २६३
७ स्वभाव-शरीर-गुणभेदेन कार्यरूपगुणानां त्रैविध्यम् ... २६३
८ स्थूलसूक्ष्मभेदेन शरीरद्वैविध्यम् ... २६४
९ ग्रन्थोद्धृतवचनानाम् आकरस्थलनिर्देशानुक्रमणिका ... २६६

प्रस्थानरत्नाकरकाराणां प्राचीनचित्रानुकृतिः

॥ ग्रन्थकृन्निजहस्ताक्षरालेखितम् अ मातृकायाः आद्यपृष्ठम् ॥

[illegible]

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥ सोऽस्माननंदयत्वाशुप्रभः स्वभक्तानुकंपया ॥ शम्भ्रावद्दः स्वनाथातु मोचयत्वातुरान्जनान् ॥ १ ॥ यत्प्रमेय
मुरुधा ॥ करेस्थितं नोपपादितमुतोपपादितं ॥ विप्रकीर्णमितिन्यनीषयोऽहमुक्तिभिरिहोपपद्यते ॥ ॥ तत्र तावत्प्र
माणतो यस्मिन्नशब्दस्थानेऽर्थे प्रमाणं एव स्वीकृत्य तत्र तदेव प्रमेयं अतस्तदेवाऽत्रापि पूर्वं निरूपणीयं ॥ तत्र प्रमाणशब्दो भाव
व्युत्पत्त्या ॥ ज्ञानं तत्तेन वाध्यो यस्यति रिक्तेच ॥ करणव्युत्पत्त्या तु तद्राज्ञानं करणं ॥ अतः क्रमाद्द्विविधा
तत्करणस्यापि द्वैविध्यमिति तद्विरादीकृत्य प्रथमतः स्वपरिकरं ज्ञानं निरूप्यते ॥ तत्र सत्यं ज्ञानं तत्र ज्ञातिश्चेत्यर्थः
स्वरूपमेव तत्तत्प्रयोगवान्सिद्धं तदानदाविर्भावोऽनेकधा भवति ॥ एवं मानं त्यपि तद्द्विराधा भवति ॥ तत्र
नित्यं चतुर्धा ॥ नित्यं तु सिद्धात्मा स्वाश्रयाश्रयत्वाभ्यां चतुर्धा ॥ यदात्मा उक्तः सर्वात्मा सुखैकरसः सर्वभूता
राय स्थितः तद्रूपतीत्यादौ चोक्तः तत्सर्वात्मभूतं सर्वोपास्यं मुख्यमविकृतं स्वस्वरूपात्मकमेकं तत्र ब्रह्मेत्याद्यभिधाय
ते ॥ ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्तत्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः इत्यादिश्रुतेः ॥ सत्त्वशुद्ध्यर्थं उपासनादीनां कर्तव्य
नः ॥ सिद्धं तत्प्रकारस्तु वक्ष्यते ॥ जीवानामपि सनातनं ॥ यत्वादः [illegible] त्रैवनिवेशानेव योगसाधितेन मनसा भगवद्दृष्ट्या
दिव्यदृष्ट्या च प्रकाशते ॥ तत्र त्रैयोगुणात्मावेत्सावेदितव्यो यस्मिन्नाणः पंचधा संविशति श्रुतेर्मनसा दृष्टं ॥ तच्च योगेन साधि

[illegible]

तमेव पश्यत्यतस्तेव पश्यतीति श्रुतेः तत्प्रयोहि परमोऽर्थं योगे नात्मदर्शनमित्यादिस्मृतेश्च [illegible] मात्रेयमने
[illegible] दिव्यदृष्ट्या भगवद्दि
[illegible]
[illegible] सर्वं दृष्ट्या च बहिरंतश्च स्वदेहान्निःक्रांतमात्मानं तिरोदधत्पश्यतां सर्वलोकानामलोकं समपद्यतेति
वाक्ये देवासुरसंग्रामसमयिकदेवादीनां दिव्यदृष्टिदानमेव सर्वलोकपदेन परामर्शति ॥ तत्र मार्ग्ये छंदोगाः
तेजोऽतिवौ खुदेवमुर्वी विशत्पश्यतां सर्वलोकानां छुद्धेवमुर्विरवाच्युतेति वाक्ये समभास्यानां भगवतेप
श्यतामेव सर्वलोकपदेनोक्तत्वात् ॥ ज्योतिःपदवाच्यत्वं प्रकाशकत्वादेव जीवस्यचेत्यनुगोपि जीवाविना
भूतत्वान्नत्रैव निविशते ॥ पूर्वोक्तमेव ज्ञानं यत्प्रकाशकस्तूपेणाविर्भवति यथा सूर्यप्रकाशस्तदाभगं कुरुते
नोच्यते ॥ ज्ञानमेव राज्यमोऽश्वेव यत्सा भगवतीरणेत्यादौ ॥ तद्भगवतीति जीवे कुमार्यादिषु कुत्र द्वत्रैसमा
याति ॥ सुकृतभंगेः स्वैरितरत्रवाध्रुवे ॥ तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मद्रनुग्रहादित्यादिवाक्येभ्यः ॥ इतिहासी
यं ॥ इदमेव सद्दृष्ट्यर्थं यद्यदेव शरीरं गृहीत्वा पतितमात्तीयं ॥ तादृशशरीरविशिष्टमपि रूपं विग्रहं अनंतं तद्

[illegible]

तच्च सत्यजीवो विवरप्रकृतिरित्यादिनैकादशेऽध्याये उक्तं तत्सृष्टिश्च शब्दतिवेनात्मः प्रवना
[illegible] ॥ ॥ [illegible]

॥ ग्रन्थकृन्निजहस्ताक्षरालेखितं अ मातृकायाः अन्त्यपृष्ठम् ॥

विरहोपीति दिक् ॥ ॥ एवं प्रमाणविषयेनुपपादितं यद्यद्विप्रकीर्णमुपपादितमाकरेषु । संगृह्य तदुद्धृतमत्र मया तथान्यथा संगि कं च सुजनव्रजतोषणाय ॥ १ ॥ इति श्रीमद्दुर्जनदर्शनचरणकृतानुशासनपीठवरतनुजश्रीपुरुषोत्तमविरचिते प्रमाणरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदः समाप्तः ॥ ॥ श्रीः ॥ ॥ श्रीः ॥

॥ ग्रन्थकर्त्रिजहस्ताक्षरालेखितटिप्पणयुपेतम् आ मातृकायाः आद्यपृष्ठम् ॥

॥श्रीकृष्णायनमः॥ ॥श्रीगोपीजनवल्लभायनमः॥ ॥सोऽस्मानानंदयत्वाशुपः स्वभक्तानुकंपया दास्यावद्दुःखनाम्नातुमोचयत्यातुरान्जनान् १ यत्प्रमेयमुद्धाऽऽकरेस्थितंनोपपादितमुतोपपादितं विप्रकीर्णमितिनन्मनीषयोद्दुःखयुक्तिभिरिहोपवर्ण्यते २ तत्रतावत्भगवतामासेनशब्दस्मानपेक्षेप्राभाण्यंस्वीकृत्यचतुर्लक्षणांप्रथमेशब्दस्वरूपविचारेणैवप्रमेयनिर्णयः शास्त्रतः प्रमेयप्रमाणधनफलानिविचारितानीत्याचार्यैरपितथैवसुबोधिन्यादौनिरूप्यते। उचितंचैतत्। मानाधीनामेयसिद्धिरित्यन्यत्रापितथाऽंगीकारेणविप्रतिपन्नत्वात्। अतस्तदेवात्रापिपूर्वंनिरूपणीयं। तत्रप्रमाणशब्दोभावप्रत्यन्नोऽधिकरणेचेतेतेकथ्येयप्रतिरिक्तेच। करणाव्युत्पन्नस्तुतादृशज्ञानकरणे। अतः प्रमाद्वैविध्यात्तत्करणस्यापिद्वैविध्यमितितद्विशदीकर्तुंप्रथमतःसपरिकरंज्ञानंनिरूप्यते। तत्रसत्यंज्ञानमनंतंब्रह्मेतिश्रुतेर्ब्रह्मस्वरूपमेवतत्। यदाभगवान्सिसृक्षतितदाविर्भावोऽनेकधाभवति। एवंमानंत्वेपितद्दृशधाभवति। तत्रनित्यंचतुर्धा। तेषुसर्वात्मास्वात्मयात्मयद्दस्वात्मयलक्षणोयश्चात्माउक्तः अहमात्मागुडाकेशसर्वभूताशयस्थितइतिगीतायांचोक्तः तत्सर्वात्मभूतंसर्वाशयंमुख्यमविकृतंस्वस्वरूपात्मकमेकं। तच्चैवंरूपोऽभिव्यज्यते। ज्ञानप्रसादेनविशुद्धसत्वस्ततस्तुतंपश्यतेनिष्कलंध्यायमानइत्यादिश्रुतेः सत्वशुद्धार्थउपासनादीत्येकदेशिनः। सिद्धांतेप्रकारस्तुवक्ष्यते। डीयोनामपिसज्ञातीयत्वाद्वैवनिवेशः। तेचत्रो

१

रूढोवा

नियुत्पादितंतत्रपक्षेध सुबोधिन्याअर्थतद्दुर्जातादृश्यत्र X ८

X श्रौतोपासनादिरूपया २

X साधनत्र करण ९ = तत्क्षणवाक्यार्थ। आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकक्लेशतितयज्ञातत्वीनिधिश्रीः। सप्रमाणश्रद्दत्यत्रत्वाश्रयश्चात्तवाक्यनहितकर्मधारयसुबोद्दयविधेयतात्कत्वरूपकश्चन

श्रीकृष्ण०

१

सुदिनलक्षणिदेशः

॥ ग्रन्थकृन्निजहस्ताक्षरालेखितटिप्पण्युपेतम् आ मातृकायाः अन्त्यपृष्ठम् ॥

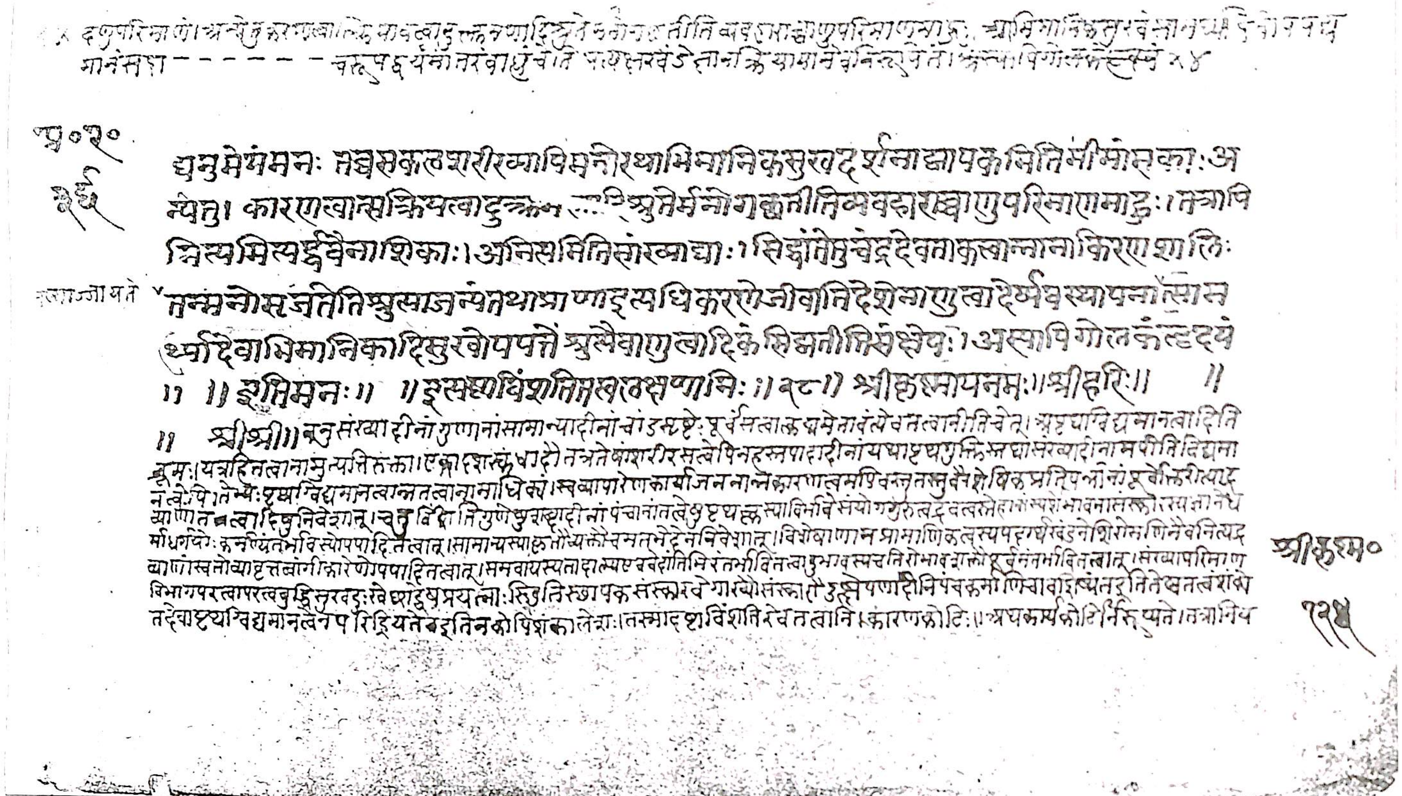
ह्यनुमेयं मनः तच्च सकलशरीरव्यापि मनोरथाभिमानिकसुखदर्शनाद्यापकमिति मीमांसकाः अ
न्ये तु। कारणत्वात् सक्रियत्वात् ... श्रुतेर्मनो गच्छतीति श्रवणात् अणुपरिमाणमाहुः। तत्रापि
नित्यमित्येके वैनाशिकाः। अनित्यमिति सांख्याद्याः। सिद्धान्ते तु वैकृतदेवताकत्वान्नाना किरणशालिः
तन्मनो सृजतेति श्रुत्या जन्यं तथाप्राणाद्यधिकरणे जीवातिदेशेनाणुत्वादेर्व्यवस्थापनात् ...
... दिवाभिमानिकादि सुखोपपत्तेः स्थूलत्वाणुत्वादिके भिन्नतीर्थविक्षेपः। अस्यापि गोलकं हृदयं
॥ ॥ इति मनः ॥ ॥ इत्यष्टाविंशतितत्त्वलक्षणानि ॥ २८ ॥ श्रीकृष्णायनमः ॥ श्रीहरिः ॥ ॥

प्रस्थानरत्नाकर
प्रथमपरिच्छे

॥ प्रस्थानरत्नाकरस्य ग मातृकायाः आद्यपृष्ठम् ॥

१

श्रीकृष्णायनमः॥ ॥सोऽस्मानानंदयत्वाद्युपःस्वभक्तानुकंपया।रामाबहुःस्वनाम्ना
तुमोचयत्यासुरान्जनान्॥१॥ दृष्टप्रमेयमुद्धाकरेस्मितंनोपपादितमुतोपपादि
तं॥विप्रकीर्णमितितन्मनीषयोद्धृत्ययुक्तिभिरिहोपवर्ण्यते॥२॥तत्रतावद्भगवता
व्यासेनशास्त्रस्यानपेक्षंप्रामाण्यंस्थीकृत्यचतुर्लक्षण्यांप्रथमेशास्त्रबलविचारेलेव
प्रमेयनिर्णयःकृतस्ततःप्रमेयसाधनफलानिविचारितानीत्याचार्यैरपितथैवसुषो
धन्यादौनिरूपतोऽचितंचैतत्।मानाधीनामेयसिद्धिरित्यत्रापितथांगीकारेणवि
प्रतिपन्नत्वात्।अतस्तदेवात्रापिपूर्वंनिरूपणीयंतत्रप्रमाणशास्त्रोभावस्यस्पष्टोरु
ल्लेखाःबाधितत्वानेवर्त्ततेबाधयोग्यव्यतिरिक्तेचाकरणव्युत्पन्नस्तुताहरज्ञानकर

१

(अ)

संतव्यं। तथासति प्रमाणांतरेस्मरणत्वापत्त्या तत्पमुक्तिरजतज्ञानतुल्यता पत्तिः प्रत्य
क्षिमामर्थ्यानुपपत्तिश्च। अतएव दृष्टस्थले परतोप्यत्रस्वतस्त्वर्थजरतो मेव पुक्तामुत्पत्ति
मः। एवं च मपूर्वोक्तयुक्तिगमनाच्चिरहेपीति दिक्॥ ॥एवं प्रमाणविषयेनुपपादितं य
द्विप्रकीर्णमुपपादितमाकरेषु संगृह्य तदिदं नमत्रमया तथा प्रस्थानसंगिकं चमुजनव्रजतो
मणाय॥॥ ॥इति श्रीमद्वल्लभनंदनवरणैकतानश्रीपीतांबरतनुजश्रीपुरुषोत्तम
विरचिते प्रस्थानरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदः समाप्तः॥ ॥श्रीरस्तु॥ ॥श्री॥ ॥

॥ प्रस्थानरत्नाकरः ॥

प्रमाणपरिच्छेदः

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

सोऽस्मानानन्दयत्वाशु[पा.भे.१] यः स्वभक्तानुकम्पया ॥
दाम्ना बद्धः स्वनाम्ना तु मोचयत्यातुरान् जनान् ॥१॥
यत्प्रमेयमुरुधाऽऽकरे स्थितं नोपपादितमुतोपपादितम् ॥
विप्रकीर्णमिति तन्मनीषयोद्गृह्य युक्तिभिरिहोपवर्ण्यते ॥२॥

॥ उपकूलम् ॥

तत्र तावद् भगवता व्यासेन, शब्दस्य अनपेक्षं प्रामाण्यं स्वीकृत्य, चतुर्लक्षण्यां प्रथमे शब्दबलविचारेणैव प्रमेयनिर्णयः कृतः; ततः प्रमेयसाधनफलानि विचारितानीति, आचार्यैरपि तथैव सुबोधिन्यादौ निरूप्यते. उचितञ्च एतत् ''मानाधीना मेयसिद्धिर्'' इति अन्यत्रापि तथाङ्गीकारेण अविप्रतिपन्नत्वाद्. अतः तदेव अत्रापि पूर्वं निरूपणीयम्.

तत्र 'प्रमाण'शब्दो (१)भावव्युत्पन्नो रूढो वा[पा.भे.२] अबाधितज्ञाने वर्तते बाधयोग्य-व्यतिरिक्ते च, (२)करणव्युत्पन्नस्तु तादृशज्ञानकरणे. अतः प्रमाद्वैविध्यात् तत्करणस्यापि द्वैविध्यमिति तद् विशदीकर्तुं प्रथमतः सपरिकरं ज्ञानं निरूप्यते.

॥ पाठभेदावली ॥

१. सोऽस्मानानन्दयत्याशु इति **क** पाठः. २. रूढो वा इति **अ क** पाठयोः नास्ति. ग्रन्थकृदितरहस्ताक्षरोपेतायां **आ** मातृकायां ग्रन्थकृद्धस्ताक्षरैरेव संशोधितायां समुपलभ्यमानत्वात् निवेशः, तथैव **ख ग ङ** मातृकास्वपि उपलभ्यमानत्वेन.

॥ प्रमास्वरूपबोधौपयिकज्ञानभेदोपभेदनिरूपकः कल्लोलः ॥

❊ तत्र दशविधज्ञाननिरूपकः आद्यः तरङ्गः ❊

तत्र "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति.उप.२।१।१) इति श्रुतेः ब्रह्मस्वरूपमेव तत्. यदा भगवान् सिसृक्षति तदा-तदा आविर्भावो अनेकधा भवति, एवम् आनन्त्येऽपि तद् दशधा भवति इति[गा.भे.१] व्युत्पादितं तृतीयस्कन्धसुबोधिन्याम् "अथ ते तदनुज्ञाताः" (भाग.पुरा.३।४।१) इत्यत्र.[गा.भे.२] तत्र नित्यं चतुर्धा :—

प्रथमं सर्वात्मभूतम् अविकृतं स्वस्वरूपात्मकं नित्यम् :

(१)तेषु "स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः"[टि.१] (भाग.पुरा.२।१०।९) इति आश्रयलक्षणे यः आत्मा उक्तः "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः" (भग.गीता.१०।२०) इति गीतायां च उक्तः, तत् सर्वात्मभूतं सर्वोपास्यं मुख्यम् अविकृतं स्वस्वरूपात्मकम् एकम्. तच्च श्रौतोपासनरूपया[गा.भे.३] अभिव्यज्यते, "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" (मुण्ड.उप.३।१।८) इत्यादिश्रुतेः. "सत्त्वशुद्ध्यर्थम् उपासनादि" इति एकदेशिनः, सिद्धान्ते प्रकारस्तु साधनप्रकरणे[गा.भे.४] वक्ष्यते.

जीवानामपि सजातीयत्वाद् अत्रैव निवेशः. तेच योगसाधितेन मनसा, भगवद्दृष्ट्या, दिव्यदृष्ट्या च प्रकाशन्ते. तत्र, "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संनिवेश" (मुण्ड.उप.३।१।९) इति श्रुतेः, मनसः द्रष्टृत्वम्.

ग्रन्थकृद्भिः श्रीपुरुषोत्तमचरणैरेव योजिताः टिप्पण्योहि 'अ'-'आ'मातृकयोः उपलभ्यन्ते ताः (अ/आ) कोष्ठकान्ताः, तथान्यास्वपि मातृकासूपलभ्यमानाः अनिर्दिष्टकर्तृकाः काश्चन (क-ख-घ-ङ-च) कोष्ठकान्ताः, मदुपज्ञाश्च (श्या) कोष्ठकान्ता-अपि इह संगृह्यन्ते : १. लक्षणवाक्यार्थस्तु "आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकव्यतिरिक्तत्वे सति तत्-त्रितय-ज्ञातृत्वम्" इति सिध्यति. 'स्वाश्रयाश्रयः' इत्यत्र "स्वाश्रयश्च असौ आश्रयश्च" इति कर्मधारयएव, उद्देश्यविधेयभावात्, स्वरूपकथनपूर्वकलक्ष्यनिर्देशः(अ-आ).

तच्च योगेन साधितमेव पश्यति अन्तरेव च पश्यति इति श्रुत्यन्तराद्[टि.१], "अयंहि परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्"[टि.२] (याज्ञ.स्मृ.१।१।८) इत्यादिस्मृतेः च अवसीयते.

दिव्यदृष्ट्या भगवदीक्षणसमर्थदृष्ट्या च बहिः "वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तमात्मज्योतिरीन्दम पश्यतां सर्वलोकानामलोकं समपद्यत" (भाग.पुरा.६।१२।३५) इति वाक्ये देवासुर-संग्राम-सामयिक-देवादीनां दिव्यदृष्टिवतामेव 'सर्वलोक' पदेन परामर्शात्. तथा "चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत् पश्यतां सर्वलोकानामुल्केव भुवि खाच्च्युता" (भाग.पुरा.१०।७४।४५) इति वाक्ये सभास्थानां भगवन्तं पश्यतामेव 'सर्वलोक' पदेन उक्तत्वात्.

'ज्योतिः' पदवाच्यत्वञ्च प्रकाशकत्वादेव. जीवस्य चैतन्यगुणोऽपि जीवाविनाभूतत्वात् तत्रैव निविशते. तत्स्वरूपन्तु उत्तरार्धे "जीवस्यानुस्मृतिः सती" (भाग.पुरा.१०।८५।१०) इत्यत्र विवृतं "पूर्वापरानुसन्धानरूपा स्मृतिः या सा तद्" (सुबो.१०।८५।१०) इति. व्युच्चरणात् पूर्वम् अभेदेन, व्युच्चरणोत्तरम् अविद्यासम्बन्धात्, प्राक्कालवर्तिनो ज्ञानस्य "सोऽहम्" इति पूर्वापरानुसन्धानरूपस्यैव सिद्धत्वात्, "तत्त्वमस्या"द्युपदेशोत्तरमपि तथैव प्रतिसन्धानाद्, अजपायामपि[टि.३] तथात्वात् तादृशत्वस्यैव निश्चेयत्वात्, विद्यया स्वरूपलाभोऽपि[गा.भे.५] पूर्वोक्तरूपएव, विस्मृतकण्ठमणिन्यायेन तस्यैव पुनः प्रतिसन्धानात्, "सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" (छान्दो.उप.७।२६।२) इति तद्ध्रौव्यस्यैव श्रावणात् च. एतस्य पूर्वानुभवजन्यत्वेऽपि आकारमात्रस्यैव[टि.४] भेदात् स्वरूपतो नित्यत्वम्.

द्वितीयं धर्मरूपं नित्यम् :

(२)पूर्वोक्तमेव[टि.५] ज्ञानं यदा प्रकाशरूपेण[टि.६] आविर्भवति, यथा

---

१. द्रष्ट. : श्वेता.उप.१।१३-१४,४।२० इत्यादिरूपात्(श्या). २. "इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्, अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्" इति उपलभ्यमाने स्मार्तपाठे(श्या). ३. उपासनाविशेषः(क). ४. "अहं ब्रह्म" - "सोऽहम्" इति "अयं घटः" - "सोऽयं घटः"इतिवत्(आ). ५. 'सोऽहम्' इत्याकारकम्(आ). ६. धर्मात्मकप्रकाशरूपेण इति अर्थः(अ-आ).

सूर्यप्रकाशः, तदा 'भगवद्गुण'त्वेन उच्यते, "ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा" (विष्णुपुरा.६।५।७४) इत्यादौ. तद् भगवति नित्यं जीवेषु पार्षदादिषु तु भगवद्दत्तं[पा.भे.६] समायाति, "युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः" (भाग.पुरा.२।९।१६) "तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्" (भाग.पुरा.२।९।३१) इत्यादिवाक्येभ्यः. जीवगुणरूपं[पा.भे.७] ज्ञानम् अत्रैव निविशते. इति द्वितीयम्.

तृतीयं वेदात्मकं नित्यम् :

(३)इदमेव[टि.१], सृष्ट्यर्थं[टि.२] यदा भगवन्मनोमयादिप्रणाड्या वेदशरीरं गृह्णाति, तदा तृतीयम्. तच्च "स एष जीवो विवरप्रसूतिः" (भाग.पुरा. ११।१२।१७) इत्यादिना एकादशे स्कन्धे उच्यते. ततः सृष्टिश्च "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" (ब्र.सू.१।३।२८) इति सूत्रे स्फुटा, तद् अग्रे व्युत्पाद्यम्. तादृश-शरीर-विशिष्टमपि रूपं विराडिव अनन्तं, तदपि तैत्तिरीयब्राह्मणे इन्द्रभरद्वाजसंवादे स्फुटम्, "तं[पा.भे.८] त्रीन् गिरिरूपान् अविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार. तेषांह एकैकस्माद् मुष्टिम् आददे. सहोवाच 'भारद्वाज!' इति आमन्त्र्य वेदावा एते. अनन्तावै वेदाः" (तैत्ति.ब्राह्म.३।१०।१-१।४) इति तत्र श्रुतेः.

तुरीयं सृष्टिबीजभावापन्नानेकशब्दरूपं नित्यम् :

(४)तदेव शरीरविशिष्टं पश्चाद् बीजताम्[टि.३] आपद्यते. तदा व्यष्टयइव[टि.४] विकृताः सर्वे शब्दाः तत्र 'आसकरवाल'इत्यादि-पदरूपाः आदिसृष्टौ भवन्ति. तद् अग्रे स्फुटीभविष्यति. एतद् भगवदाश्रितमेव तुरीयम्. एतत् चतुर्विधं नित्यम्.

षड्विधानित्यज्ञानेषु पञ्चमं प्रमेयानन्त्येऽपि प्रमेयाश्रितत्वेन एकविधम् :

(५)ततः तादृश-द्विविध-शब्दात्मक[पा.भे.९]-शरीर-विशिष्टमेव तत् लोके

१. धर्मरूपसर्वविषयकज्ञानमेव (अ-आ). २. नामसृष्ट्यर्थं वैदिकसृष्ट्यर्थं वा (आ). ३. विशिष्टशक्तिकं भवति इति भावः (अ-आ). ४. अस्मदादिशरीराणीव इति अर्थः (च).

प्रकटीभवितुं लौकिकं प्रमातारं प्रमेयं च आश्रयते[टि.१]. तत्र शब्दशरीर-विशिष्टस्यप्रमात्राश्रयणं 'पश्यन्त्या'ख्यया शब्दावस्थया तद्बोधकश्रुत्या[टि.२] च अवसीयते. तथाच आनुभविकोक्तिः "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते" (वाक्प.१।११५) इति. तत्र प्रमेयाश्रयं[टि.३] प्रमेयानन्त्याद्, अनन्तमेव; परं, प्रमेयरूपतया[टि.४] एकविधमिति 'एकम्' इति उच्यते. पूर्वोक्तरीत्या ज्ञानस्य शब्दानुविद्धत्वात्, शब्दस्य च नित्यम् अर्थसम्बद्धत्वात्, शब्दविशिष्टस्यैव तस्य प्रमेयाश्रयत्वम्. इदमपि अनुव्यवसायाकारादेव[टि.५] निश्चीयते. परम् अत्र[टि.६] शब्दो अर्थः च न्यग्भूतो[टि.७] भासते, पूर्वत्रतु ज्ञानं न्यग्भूतम् इति विशेषः[टि.८]. नच अनेडमूकीयज्ञानस्य शब्दावैशिष्ट्यं शङ्क्यम्, अभिनयस्यैव तत्र शब्दस्थानापन्नत्वात्. शब्दविशेषम् अनुसन्धायैव बोधकेन अभिनयप्रदर्शनात् परम्परया शब्दवैशिष्ट्यस्य तत्रापि सत्त्वात्. इदं पञ्चमम्.

प्रमात्राश्रितन्तु सविकल्पकम् इन्द्रियादि-पञ्चविधाश्रय-भेदात् पञ्चविधम् :

प्रमातरितु अन्तःकरणेन्द्रियाश्रयणात् पञ्चधा :—

(६)तत्र इन्द्रियेषु एकधा[टि.९], तद् अग्रे व्युत्पाद्यम्.

अन्तःकरणेतु[पा.भे.१०] चतुर्धा :—

(७)तत्र मनसा जनितं संशयात्मकं, तस्य सङ्कल्पविकल्पात्मकत्वात्. तच्च तदाश्रितमेव, अतएव[टि.१०] शङ्कापिशाच्याः अनिवृत्तिः. आत्मानन्तु दौरात्म्यनिवृत्तौ प्रमिणोती[टि.११]ति अदोषः.

---

१. समवायित्वेन प्रमातारं निमित्तत्वेन प्रमेयं च उपजीवति इति अर्थः(अ-आ). २. चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणाः ये मनीषिणः गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति (ऋक्संहि.१।१६४।४५)इति श्रुतिः(क-च). ३. व्यापकत्वात् प्रमेयावच्छिन्नं (आ). ४. घटाद्याकारतया इति अर्थः(अ). ५. अनुव्यवसायाकारस्य स्वरूपं "घटमहं जानामि-पटमहं जानामि" इति बोध्यम्(च). ६. "घटमहमनुभवामि" इति अनुव्यवसायाकारे(आ). ७. विशेषणीभूतः(आ). ८. पञ्चमत्वप्रयोजको धर्मः इति अर्थः(अ-आ). ९. निर्विकल्पकत्वेन एकधा(आ). १०. मनसः संकल्पविकल्पात्मकत्वादेव(आ). ११. जानाति इति अर्थः(आ).

(८)शरीराभिमतिस्तु अहंकारेण कृता बुद्ध्याश्रया; एवम्, अन्येऽपि विपर्यास-निश्चय-स्मृति-रूपाः बुद्धिवृत्तिरूपत्वाद्, बुद्ध्याश्रयाः. मोक्षशास्त्रीयसाधनैः शरीराभिमतिः शिथिलीभवन्ती यदा नश्यति तदा तन्मूलाः तेऽपि तथा भवन्ति. ज्योतिर्ब्राह्मणे आत्मज्योतिष्ट्वम् उपक्रम्य "स समानः सन्'(बृह.उप.४।३।७) इति अहंकारसादृश्यम् उक्त्वा "सधी स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति" (बृह.उप.४।३।७) इति श्रुत्या अहंकारसमानत्वेन सधियः स्वप्नात्मक-बुद्ध्यवभासकतया स्वप्नात्मकत्वाद् [पा.भे.११].

(९)अहंकारो बुद्ध्या सहितः स्वापं पश्यतीति, स्वप्नज्ञानम् अहंकाराश्रयम्.

(१०)चित्तन्तु आत्मानमेव सुषुप्तौ पश्यति ऐक्येन, अन्यदा [टि.१] तु लीनमिति निर्विषयं ज्ञानं चित्ताश्रयम्.

एवं दशधा [पा.भे.१२], एतत् [टि.२] लीलातिदेशेन [टि.३], निरूपणं ज्ञानस्य सृष्टि-स्थिति-प्रलयोपयोगितया भगवल्लक्षणत्वज्ञापनार्थम्.

उक्त(५-१०)षड्विधज्ञानस्य अनित्यत्वेऽपि स्थैर्यम् :

तत्र अनुपदोक्तं षड्विधमपि ज्ञानं कार्यरूपम् अन्तःकरणधर्मः, "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मनएव" (बृह.उप. १।५।३) इति श्रुतेः. शाण्डिल्यभाष्येतु अनुमानं दर्शितं "सुखादयः करणसमवेताः घ्राणादीन्द्रियाग्राह्यगुणत्वात् स्पर्शशून्येन्द्रियग्राह्यगुणत्वाद् वा शब्दवत् [पा.भे.१३]" (!?) इति. इदञ्च [टि.४] स्थिरं घटादिवत्, नतु त्रिक्षणावस्थाय्येव इति नियमः, "प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते" (भग.गीता.२।६५) "स्थिरबुद्धिरसंमूढः" (भग.गीता.५।२०) "ज्ञानं यथा न नश्येत" (भाग.पुरा.११।७।३९) इत्यादिशास्त्रात्. नच * स्थिरत्वे सर्वदा एकज्ञानापत्तिः * इति शङ्क्यं, विषयान्तरज्ञानसामग्र्या जातेन

१. जाग्रत्स्वप्नयोः इति (आ) २. तृतीयस्कन्धे इति (आ). ३. "अन्यत्रैव प्रतीतियाः कृत्स्नायाः धर्मसन्ततेरन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशोऽभिधीयते"(क). ४. जन्यज्ञानम्(अ).

ज्ञानान्तरेण[पा.भे.१४] ज्ञानेन तस्य तिरस्कारे 'संस्कारा'ख्यसूक्ष्मरूपेण तस्य अवस्थानोपगमात्[पा.भे.१५]. नच * योग्यस्य तस्य स्थितौ अनुव्यवसायापत्तिः * इति शङ्क्यं, गृहादौ व्याप्तस्यापि गन्धस्य घ्राणेन ग्रहणएव स्फुरणवत्, मनसा तस्य ग्रहणएव स्फुरणम् इति कार्यबलादेव[टि.१] सिद्धेः. नच * गन्धस्य आगन्तुकत्वेन कदाचिद् ग्रहणम् उचितं, ज्ञानस्यतु मनोधर्मस्य स्थिरत्वे कथं कदाचिद्ग्रहणम् * इति शङ्क्यं, रजसा व्यापारान्तरावेशेन उपपत्तेः[टि.२] तमसा तदावरणात् च तथा. नच एवं स्मृत्यजनकबुद्धे[पा.भे.१६]रपि स्थिरत्वापत्तिः, इन्द्रियैः बुद्धिजननोत्तरं पौनःपुन्याद्यभावेन दाढ्र्याभावात्[टि.३]. शरीरस्य अन्नवत् लोक[पा.भे.१७]शास्त्रादिभिः ज्ञानस्य पोषे अभ्यासेन च दाढ्र्ये तस्य स्थिरत्वसिद्धेः[टि.४]. नच * स्थापकस्य आधारस्य[पा.भे.१८] च अनिर्वाच्यत्वेन स्थितिः अशक्यवचना * इति वाच्यं, जीवप्रयत्नेन व्यापारेण अन्तःकरणे स्थापितत्वात्. नच * एवं सति तन्नाशानुपपत्तिः * शङ्क्या, विहितानां देशकालादीनां तत्पोषकत्ववत् निषिद्धानां तेषां नाशकत्वात् तस्यापि सिद्धेः. नच अत्र[टि.५] विनिगमकाभावः, मायायाः ज्ञानतिरस्करिणीत्वात्, तदाश्रय[टि.६]भूतानां कलि-मगध-मद्य-दैत्य-शाक्त-निषिद्ध-क्रियाणां तथात्वस्य औचित्यात्. तत्रापि यथायथं द्वाभ्यां-द्वाभ्यां स्वरूपतः स्थानतो गुणतः च नाशः, तत्र स्वरूपतो नाशे पुनः अस्मरणं, स्थानतो नाशे विपर्ययरूपता, गुणतो नाशे ततः सत्फलाभावइति क्वापि न शङ्कालेशः.

अस्य ज्ञानस्य जनितस्य शब्दाः विषयाः च उद्दीपकाः. अजनितस्यतु जननएव सामग्रीरूपाः. एतदेव कोशेषु 'बुद्धि'-'चेतना'दि-शब्दैः अभिधीयते.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदे प्रमास्वरूपबोधौपयिक-
ज्ञानभेदोपभेदकल्लोले दशविधज्ञाननिरूपकः
आद्यः तरङ्गः समाप्तः[टि.७]

---

१. स्फुरणरूपकार्यबलादेव इति अर्थः(च). २. ग्रहणकादाचित्कत्वस्य उपपत्तेः इति अर्थः(च). ३. दाढ्र्यं च स्थितिजनको धर्मविशेषः (अ आ). ४. अनुव्यवसायापत्त्यभावस्य सिद्धेः इति अर्थः(च). ५. निषिद्धानां नाशकत्वे इति अर्थः(अ). ६. मायाश्रयाः

इति (आ). ७. इतःआरभ्य कल्लोल-तरङ्गविभाजिकाः सर्वाअपि पुष्पिकाः न ग्रन्थकृद्योजिताः किन्तु विषयबोधसौकर्याय मया ग्रन्थसम्पादनसमये योजिताः इति सुधिभिः आकलनीयम् (ग्या).

पाठभेदावली

१. 'इति...दशधा भवति' इति **अ** पाठे पादटिप्पणतया योजितो ग्रन्थकृतैव **आ** पाठे मूले सन्निवेशितः. २. इह 'लीलावद्'...इति **अ** पाठे मूलएव आसीत् किन्तु **आ** पाठे स ग्रन्थकृतैव निरस्तो दृश्यते. ३. श्रौतोपासनादिरूपया इति **अ-आ**पाठीयं संशोधनम्. ४. प्रकारस्तु साधनप्रकरणे इति **अ** पाठे नासीत् पश्चाद् ग्रन्थकृतैव **आ** पाठे मूलसंशोधनम्. एतेन अस्मिन्ग्रन्थे 'प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल'रूपप्रकरणचतुष्टयनिर्माणं ग्रन्थकृन्मनीषितम् आसीदिति अनुमीयते. ५. स्वरूपलाभेपि इति **क** पाठे. ६. तद्दत्तम् इत्यत्र भगवद्दत्तम् इति **आ** संशोधनम्. ७. ''जीवगुणरूप...निविशते'' इति **ग** पाठानुसारेण, **अ आ** पाठयोः इयं पंक्तिः नास्ति. ८. सम्पूर्णम् एतद् वचनम् **आ** पाठे उदाहृतम्. ९. 'शब्दाद्यात्मक...' इति **ख** पाठे — कारणकार्यात्मकम् इति **आ** पाठे. १०. तु इति **आ ख** पाठयोः नास्ति. ११. स्वप्नात्मकत्वकथनाद् इति**क ग च** पाठेषु. १२. एवं दशधा 'तृतीयस्कन्धे' एतल्लीला...इति **आ** पाठीया टिप्पणी प्रमादात् मूले **ख** पाठे सन्निविष्टा. १३. स्पर्शशून्यग्राह्यगुणत्वाद्वा इति **अ क ग च**पाठेषु नास्ति. १४. ज्ञानसामग्र्या जातेन ज्ञानान्तरेण इति **आ** शोधनिका **अ** पाठे नासीद्. १५. तस्य अवस्थानोपयोगाद् इति **क** पाठस्तु अशुद्धएव. १६. उपेक्षाबुद्धेः इति **च** पाठः. १७. शरीस्य 'अन्नवत् लोके' इति **क** पाठे. १८. स्थापकाल्पाधारस्य इति **क** पाठस्तु अशुद्धएव.

✻ बुद्ध्याश्रितज्ञानत्रैविध्यनिरूपको द्वितीयः तरङ्गः ✻

इदञ्च सात्त्विकादिभेदेन त्रिविधम्.

तत्र प्रथमं सन्मात्रावगाहि सात्त्विकं ज्ञानम् :

तत्र सात्त्विकं ज्ञानं प्रमारूपमेव, सत्त्वगुणहेतुसामग्र्या सत्त्ववृद्धौ अन्तःकरणेन प्रमितेरेव जननात्, सत्त्वलये तयैव सामग्र्या भ्रमजननात्. अतो अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सत्त्वस्यैव प्रमाणत्वविनिश्चयात् तज्जन्यमेव ज्ञानं प्रमाणम्. ''अबाधितज्ञानत्वं'' ''बाधयोग्यव्यतिरिक्तत्वं'' वा तल्लक्षणम्[टि.१]. गुणहेतुसामग्रीतु ''आगमोऽर्थः[पा.भे.१] प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च, ध्यानं मन्त्रोऽथ[पा.भे.२] संस्कारो दशैते गुणहेतवः, तत्तत् सात्त्विकमेवैषां यद्यद् वृद्धाः प्रचक्षते निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तदुपेक्षितम्'' (भाग.पुरा.११।१३।४-५) इति एकादशस्कन्धे उक्ता.

तच्च[टि.२] एकविधमेव[पा.भे.३], अव्ययैकभावावगाहित्वात्. तद् उक्तं गीतायाम् एकादशस्कन्धे च ''सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते, अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं सात्त्विकं स्मृतम्'' (भग.गीता.१८।२०) इति ''कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानम्'' (भाग.पुरा.११।२५।२४) इति भगवद्वाक्येषु. गीतावाक्ये 'ज्ञानम्' इति करणे 'ल्युट्'. तेन अत्र मनःपरिणामविशेषः सात्त्विको 'ज्ञान' पदेन उच्यते. ततः तज्जन्यज्ञानमपि तथा इति सिद्ध्यति. इदञ्च अनुमिति-शाब्दादिरूपं[पा.भे.४] विकल्पान् न्यक्कृत्य एतादृगेव भवति, एकादशस्कन्धे ''आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात्, पुनश्च प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सद्'' (भाग.पुरा.११।१९।१६) इति तद्विषयाकारानुमानप्रकारयोः उक्तत्वात्. प्रयोगस्तु ✻ विमताः भावाः सदभिन्नाः आद्यन्तमध्येषु सदनुगतत्वाद् यद् एवं यदनुगतं तत् तदभिन्नं सौवर्ण-कुण्डल-कटकादिवत्, सदवशेषत्वात् च तथा ✻ इति द्विधा सिद्ध्यति. इदमेव च भावाद्वैतं[पा.भे.५] ''कार्य-कारण-वस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवद् अवस्तुत्वाद् विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते'' (भाग.पुरा.७।१५।६३) इति सप्तमस्कन्धात्. ''तत्त्वमसि''[पा.भे.६] (छान्दो.उप.६।८।१०) इत्यादौ ''सदेव सौम्य'' (छान्दो.उप.६।२।१) इति

१.प्रमाणलक्षणम् इति अर्थः (आ). २.सात्त्विकज्ञानं च इति अर्थः (आ).

उपक्रमेण "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" (छान्दो.उप.६।८।७) इति उपसंहारेण च [पा.भे.७] सदात्मकत्वस्य [पा.भे.८] श्रावणात् च.

द्वितीयं लोकव्यवहारौपयिकं नानाकारं विकल्पावगाहि राजसं ज्ञानम् :

राजसन्तु पूर्वोक्त्या राजससामग्र्या नानाकारं भवति, "पृथक्त्वेनतु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्" (भग.गीता.१८।२१) इति, "रजो वैकल्पिकं...स्मृतम्" (भाग.पुरा.११।२५।२४) इति च [पा.भे.९] भगवद्वाक्यात्. इदञ्च व्यवहारोपयोगि. व्यवहारस्तु अहम्ममाभिमानात्मक [पा.भे.१०]-मानस-सन्निपात-जन्यो देहेन्द्रियादि-स्वाभाविक-व्यापारात्मकः सन्निपातः. "शमो दमस्तितिक्षा" (भाग.पुरा.११।२५।२) इत्यादिभिः सत्त्वादिगुणत्रयवृत्तीः उक्त्वा, "सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्भव या मतिः, व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः" (भाग.पुरा.११।२५।६) इति भगवद्वाक्यात्. मोक्षशास्त्रीयस्तु न तथा, शास्त्रात् पुरुषस्य 'अहं-मम' इति-बुद्धिनिवृत्तौ रजस्तमसोः क्षीयमाणतया अप्राबल्येन मिश्रणाभावे केवलसात्त्विकत्वाद्, औषधाद् जायमानस्य भावस्य सन्निपातनिवर्तकत्वात्. तत्र पृथग्बुद्धेः विद्यमानत्वेऽपि प्रबलेन सत्त्वेन तस्याः ग्रस्यमानतया अकिञ्चित्करत्वात्. अतो लौकिकएव तथा. अतएव राजस्याः प्रमायाअपि परमार्थतो न प्रामाण्यम्.

तृतीयं लोकव्यवहारेऽपि विसम्वादि तामसं ज्ञानम् :

तामसन्तु अप्रमाणमेव, "यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्, अतत्त्वार्थवद् अल्पं च तत् तामसमुदाहृतम्" (भग.गीता.१८।२२) इति, "प्राकृतं तामसं ज्ञानम्" (भाग.पुरा.११।२५।२४) इति च भगवद्वाक्यात्. तच्च पामराणां बाह्यानां च तामससामग्र्या भवति. शिष्टनिन्दितत्वाच्च तद् हेयम्. लोकव्यवहारेऽपि भ्रमबहुलं राजसभेदज्ञानेनैव गतार्थं च.

अतो व्यवहारोपयोगाय साम्प्रतं राजसभेदानेव प्रदर्शयामः.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदे प्रमास्वरूपबोधौपयिक-

ज्ञानभेदोपभेदकल्लोले बुद्ध्याश्रितज्ञानत्रैविध्यनिरूपको द्वितीयः तरङ्गः समाप्तः

पाठभेदावली

१. 'आगमोऽपः' इति प्रचलितः पाठः. २. 'मन्त्रोप्यसंस्कारः इति **क** पाठस्तु अशुद्धः. ३. 'एकविधमेव च तद् ज्ञानम्' इति **क ग घ ङ च** पाठाः. ४.अनुमितिशाब्दादि-'रूपविकल्प' इति **क** पाठस्तु अशुद्धः. ५. इदमेव च 'भावाद्वैतं' इति **क** पाठे नास्ति. ६. 'तत्त्वमसी'त्यारभ्य 'श्रावणाच्चे'त्यन्तो भागः **अ** पाठे पूर्वं व्युत्क्रमेण लिखितो अक्षराणामुपरि १ २ ३ अतिसूक्ष्मैः क्रमसंख्यासूचकैः अङ्कैः शोधितोऽपि अनुलिपिकाराणां दृष्टिपथे नायातइति **ङ च** पाठयोः स्वस्थानभ्रंशाद् ''प्रयोगस्तु विमताः भावाः'' इत्यादेः पूर्वम् उपलभ्यते. ७. उपसंहारेण 'च' इति **अ आ** पाठयोः. ८. सदात्मकस्य इति **आ क ख** गृहीतस्तु **अ** पाठानुरोधात्. ९. स्मृतम् इति 'च' इति **क** पाठे नास्ति. १०. ''मनोमात्रेन्द्रियप्राणानां व्यापारः. सच लौकिकः सन्निपातरूपो, 'अहं-मम' इति-बुद्धिमूलत्वाद्'' इति **अ क च** पाठेषु, 'अहम्ममे'त्यारभ्य 'वृत्तीरुक्त्वे'त्यन्तं संशोधनं **आ** पाठे ग्रन्थकृद्धस्ताक्षरेणैव तदेव **ख** पाठेऽपि.

✻ लोकव्यवहारमूलसविकल्पकज्ञाननिरूपकः तृतीयः तरङ्गः ✻

तत्र राजसं ज्ञानं सविकल्पकमेव.

राजसज्ञानात् पूर्वं जायमानं तद्ग्रस्यमानं च निर्विकल्पकं सात्त्विकं ज्ञानम् :

ततः पूर्वञ्च इन्द्रियेषु सात्त्विकम् उत्पद्यते निर्विकल्पकम्. तच्च सन्मात्रावगाहि एकविधमेव, जाग्रद्वृत्तेः सात्त्विकत्वेन प्रथमतएव सत्त्वानुग्रहे इन्द्रियैः प्रथमं तस्यैव उत्पादनात्. नच ✻सविकल्पकस्यापि इन्द्रियजन्यत्वात् कथम् 'एकधैव'[पा.भे.१] इति उच्यते✻ इति शङ्क्यं, तस्य तथात्वेऽपि अन्तःकरणाश्रितत्वात्, "कामः सङ्कल्पः" (बृह.उप.१।५।३) इति श्रुतौ कामादीनां विशेषवृत्तीनाम् उल्लेखेन तथा[पा.भे.२] निश्चयात्. शाण्डिल्यभाष्योक्तानुमानाभ्यां सिद्धे करणसमवेतत्वे सविकल्पकव्यतिरिक्तस्य इन्द्रियसमवेतत्वाङ्गीकारे बाधकाभावात्. तस्य सन्मात्रावगाहित्वञ्च वस्तुमात्रविषयकत्वाद्, विकल्पन्यक्कारे सत्येव वस्तुत्वपर्यवसानाद्,[पा.भे.३] अतएव च सात्त्विकत्वम्. यद्यपि "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्" (भग.गीता.१४।१७) इति वाक्याद् हेतुविचारेण ज्ञानमात्रस्य सात्त्विकत्वम् आयाति, तथापि विभाजकवाक्येषु विषयविचारेण त्रैविध्यकथनाद्, अत्र विषयविचारेणैव तथात्वं ज्ञातव्यम्. तत्सत्त्वेच इन्द्रियमेव प्रमाणं, रजोऽननुवेधे 'अस्ति' इति उपलम्भस्य सर्वजनीनत्वात्. तदनुवेधेतु बुद्ध्यनुग्रहाद् विकल्पस्फूर्तिशैघ्र्यात् तदनुपलम्भइति न किञ्चिद् अनुपपन्नम्. एतस्य सविकल्पकात् पूर्वभावेऽपि न तत्कारणत्वं प्रमाणाभावाद्[पा.भे.४] इति.

भाट्टास्तु ✻अक्षिसन्निपातानन्तरम् अविविक्तसामान्यविशेषविभागं[पा.भे.५] सम्मुग्धवस्तुमात्रगोचरम्[टि.१] आलोचनज्ञानं तत्[टि.२]. तदभावे विकल्पसम्मोहएव न जायेत[पा.भे.६]. विकल्पयताहि[पा.भे.७] पूर्वानुभूतं जातिविशेषं संज्ञाविशेषं वा[पा.भे.८] अनुस्मृत्य तेन-तेन पुरःस्थितं वस्तु विकल्पयितव्यम्. नच अर्थम् अदृष्टवतः[पा.भे.९] तत्स्मरणम् उपपद्यते. तस्माद् अस्ति निर्विकल्पमपि ज्ञानम्✻ इति आहुः.

१.सम्मोहविषयः इति अर्थः(अ). २. एतेन वैशिष्ट्यानवगाहि त्रिप्रकारकं वा इति फलति(क).

सिद्धान्तेतु इदं मानसं सामान्यसंशयात्मकं वस्तुमात्र-विषयक-ज्ञानानन्तर-भावित्वेन पर्यवस्यति.

बाह्यास्तु * स्वलक्षणमात्रगोचरं निर्विकल्पकम् * **इच्छन्ति.**

तत् **मीमांसकाः** न क्षमन्ते. तथाहि : * प्रतीयतेहि सम्मुग्धाकारं वस्तु सहसैव [पा.भे.१०] यत् ; पश्चाच्च (क)जाति-(ख)द्रव्य-(ग)गुण-(घ)क्रिया-(ङ)नामभिः पञ्चधा विकल्पेन, विकल्प्यते :—

(क)''गोः अयम्''
(ख)''दण्डी अयम्''
(ग)''शुक्लो अयम्''
(घ)''गच्छति अयम्''
(ङ)''डित्थो अयम्''
इति.

तत्र निर्विकल्पकम् अनेकाकारं वस्तु सम्मुग्धं गृह्णाति. सविकल्पकन्तु एकैकाकारं जात्यादिकं विविच्य विषयीकरोति. स्वलक्षणमात्रविषयत्वेतु विवेकस्य आनन्तर्यं न स्यात्, त्वन्मते जातिद्रव्यादेः अभावाद् * इति.

वेदान्तपरिभाषाकारस्तु * संसर्गानवगाहि ज्ञानं निर्विकल्पकम्. तच्च ''सोऽयं देवदत्तः'' इति वाक्यादपि भवति. नच * वाक्यजन्यज्ञानस्य कथं निर्विकल्पकत्वम् * इति शङ्क्यं, वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वे पदार्थसंसर्गस्य अतन्त्रत्वात्. तन्त्रत्वे अनभिमतस्यापि [टि.१] संसर्गस्य विषयत्वापत्तेः; किन्तु, तात्पर्यविषयत्वमेव तथा. तथाच तत्र संसर्गत्वेन संसर्गानवगाहात् न तस्य तथात्वं दुर्घटम् * इति **आह.**

तत् न रोचते, अनेकार्थशब्दके ''सुरभिमांसं भुंक्ते'' इत्यादिवाक्ये

१. ''पुत्र आगच्छति राजपुत्रो अपसार्यताम्'' इति [आ].

तात्पर्याविषयस्यापि गोसंसर्गस्य संसर्गत्वेनैव शब्दाद् भानदर्शनेन [पा.भे.११] तस्य विषयतायाः दुर्वारत्वात्, "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यजन्यस्य सन्मात्रविषयकत्वेन निर्विकल्पकत्वसिद्धेः च.

नैयायिकास्तु * वैशिष्ट्यानवगाहि निष्प्रकारकं वा ज्ञानं निर्विकल्पकम्. यद्यपि तत्सत्त्वे न इन्द्रियं प्रमाणं तथापि "अयं घटः" इति विशिष्ट-ज्ञान-रूप-कार्यानुमेयम्. तथाहि : "अयं घटः" इति ज्ञानं विशेषणज्ञानपूर्वकं, विशिष्टज्ञानत्वात्. यद्-यद् विशिष्टज्ञानं तद् विशेषणज्ञानपूर्वकं यथा "दण्डी पुरुषः" इति ज्ञानम् इति. तच्च अत्र जन्मान्तरीय-भगवदीय-विशिष्टज्ञानयोः व्यवहितत्व-वैय्यधिकरण्याभ्यां विशेषणज्ञानत्वासम्भवाद् 'घटः' इति ज्ञानात् पूर्वं वैशिष्ट्यानवगाहि जायते इति मन्तव्यं, तदेव निर्विकल्पकम् इति दिग् * इति **आहुः**.

प्राभाकरास्तु * निर्विकल्पकं ज्ञानमेव न, विशेषणविशेष्ययोः समान-संवित्संवेद्यत्वाद् *[टि.१] इति **आहुः**.

वयन्तु : विशिष्टज्ञानं प्रति यद् विशेषणज्ञानस्य कारणत्वं नियतं, तद् इन्द्रियेण गृह्यमाणस्यैव तस्य, अन्यथा दण्डनिर्विकल्पकानन्तरं 'दण्डी' इति बुद्धिः स्यात्. नच * विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धिं प्रति गृह्यमाणविशेषणज्ञानत्वेन कारणता केवलविशिष्टबुद्धिं प्रतितु अगृह्यमाणेनापि तेन सा * इति वाच्यं, दृष्टान्ताभावेन तादृङ्नियमे प्रमाणाभावात्.

तर्हि प्राथमिकं 'घटः' इति ज्ञानं कथम्? इति चेद्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षे द्रागेव रजोऽनुवेधेन तद्वाचक-शब्द-स्फुरणाद् इति बुद्ध्यस्व. नच एवं विशिष्टबुद्धिं प्रति विशेषणज्ञानत्वेन कारणत्वनियमव्याहतिः, 'विशिष्टबुद्धि' पदेन

१. वस्तुतस्तु "द्रव्य-जाति-गुणेषु इन्द्रियसंयोगोत्था सा प्रत्यक्षा प्रतीतिः... क्वचिद् द्रव्याग्रहणेऽपि रूपादीनां ग्रहणं, रूपाद्यग्रहणेऽपि द्रव्यस्येति नास्ति द्रव्यगुणयोः ग्रहणं प्रति नियमः. द्विविधाच इयं द्रव्यादिप्रतीतिः : 'सविकल्पाऽविकल्पा च प्रत्यक्षा बुद्धिरिष्यते, आद्या विशिष्टविषया स्वरूपविषयेतरा' इति. प्रथमंहि स्वरूपमात्रग्रहणं द्रव्य-जाति-गुणेषु उपपद्यते. समाहितमनस्कोहि विषयान्तरानुसन्धानशून्यः इन्द्रियसंयुक्तं वस्तु साक्षाद् उपलभ्यते इति स्वसंविदेव अत्र प्रमाणम्" इति प्रकरणपञ्चिकास्थप्रमाणपरायणवचनविरुद्धत्वाद् अनवधानमूलं विधानं प्रतिभाति (श्या).

विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धेः ज्ञातव्यत्वात्. नच * रजतम् अदृष्टवतः शुक्तिदर्शनेऽपि "इदं रजतम्" इति रजतत्वप्रकारकभ्रमो न उत्पद्यतइति, विशिष्टबुद्धावपि विशेषणज्ञानस्य हेतुता मन्तव्यैव * इति वाच्यं, वाचक-शब्दास्फूर्तिस्फूर्तिभ्यामेव उपपत्तेः तस्याः अनावश्यकत्वाद्. "घटो द्रव्यम्" इतिवद् "इदम् रजतम्" इत्यस्यापि "एकविशिष्टे अपरवैशिष्ट्यम्" इतिविषयताक-विशिष्ट-वैशिष्ट्यबुद्धित्वात् तत्र विशेषणज्ञानस्य गृह्यमाणस्यैव हेतुत्वेन भ्रमोपपत्तेः सुवचत्त्वात् च. अतो [पा.भे.१२] अनुमानस्य अर्थान्तरपर्यवसन्नत्वात् नैयायिकोक्त-रीत्या न तादृशनिर्विकल्पकसिद्धिः [पा.भे.१३] इति दिक्.

नास्तिकास्तु * "वैशिष्ट्यानवगाहि ज्ञानं साक्षात्कारः" इति स्वीकृत्य तदेव परमार्थसत्, सविकल्पकन्तु अलीक-घटत्वादिसामान्य-विषयकत्वाद् भ्रान्तम् इति * आहुः.

तेतु, घटत्वादि-सामान्य-सत्त्वस्य [पा.भे.१४] अग्रे वक्ष्यमाणत्वात्, तत्प्रक्रियाजन्यज्ञानस्य [पा.भे.१५] तामसत्वात् च, निरसनीयाः.

तस्माद् उभयविधमपि ज्ञानं निर्बाधम्.

निर्विकल्पक-सात्त्विक-ज्ञानोत्तरं जायमानं सविकल्पकं राजसं ज्ञानम् :

तत्र इन्द्रियाश्रितं निर्विकल्पकं सात्त्विकमपि द्रागेव रजसा ग्रस्यतइति राजसकोटौ निवेश्यते. तस्मात् सविकल्पकमेव राजसं ज्ञानम्. तच्च "पृथक्त्वेन..." (भग.गीता.१८।२१) इत्यादि भगवद्वाक्यात् सद्विकल्पावगाहि [पा.भे.१६]. विकल्पाः सतो अवान्तरविशेषाः तद्विषयम् इति अर्थः.

नैयायिकास्तु * वैशिष्ट्यावगाहि सप्रकारकं सविशेष्यकं वा ज्ञानं सविकल्पकम् * इति आहुः.

तदपि उक्तात् न अतिरिच्यते. प्रकारता-विशेष्यतेच "अयं घटः"

इत्यादिज्ञाने विशेषण-विशेष्ययोः घटत्व-घटयोः 'विशेषणत्वा'-'ऽऽधारत्वा'ऽप-रनामानौ विषयताविशेषौ. विषयताच ज्ञानार्थयोः स्वरूपसम्बन्धविशेषः. सच स्वरूपसम्बन्धो, ज्ञाने 'विषयिता' पद-वाच्यो — अर्थे 'विषयता' पद-वाच्यः. एवं प्रकारताद्यपि बोध्यम्.

अपरेतु * "भासमान-वैशिष्ट्य-प्रतियोगित्वं प्रकारत्वम्" इति लक्षयित्वा, भासमानं यद् वैशिष्ट्यं तत्प्रतियोगित्वं प्रकारत्वं; यथा[पा.भे.१७], "अयं घटः" इति ज्ञाने घटत्वस्य वैशिष्ट्यं समवायो भासते तत्प्रतियोगी च घटत्वम् * इति आहुः.

*तद् न[पा.भे.१८], 'दण्ड-पुरुष-संयोगाः' इति समूहालम्बने "दण्डी पुरुषः" इतिवद् दण्डस्य प्रकारतापत्तेः. संयोगोहि दण्डस्य वैशिष्ट्यं भासते तत्प्रतियोगी च दण्डः * इति **मञ्जरीकारः**[टि.१].

अन्येतु * "भासमानं यद् वैशिष्ट्यप्रतियोगित्वम् तत् प्रकारत्वम्" इत्येवं समासो अत्र विवक्षितः. एवञ्च उक्तसमूहालम्बने प्रतियोगित्वस्य अभानात्[पा.भे.१९] न तत्साधारण्यम्. *ननु एवमपि 'दण्ड-पुरुष-संयोग-तत्प्रतियोगित्वानुयोगित्वानि' इति समूहालम्बनसाधारण्यात् न इदं सङ्गच्छते * इति चेत्, न, स्वरूपतो भासमानस्य वैशिष्ट्य-प्रतियोगित्वानुयोगित्वस्य प्रकारत्वविशेष्यत्वस्य वाच्यत्वात्. समूहालम्बनेहि तत्प्रतियोगित्वानुयोगित्वम् अतिरिक्तं भासते, न स्वरूपतो[पा.भे.२०], विशिष्टबुद्धौतु तथेति न दोषः * इति आहुः.

तदपि न, प्रतियोगित्वादेः स्वरूपसम्बन्धरूपत्वेन अतिरिक्तत्वे मानाभावात्. तथात्वे विशिष्टबुद्धावपि स्वरूपतो भानासम्भवादिति प्रकारत्व-विशेष्यत्वे विषयताविशेषावेव इत्येव युक्तम्.

---

१. न्यायसिद्धान्तमञ्जरीकारो भट्टाचार्यचूडामणिः जानकीनाथः (व्या).

राजसे सविकल्पके ज्ञाने द्विविधप्रकारताहेतुकं द्वैविध्यम् :

* तत्र विशेषणत्वोपलक्षणत्वभेदात् प्रकारता द्विधा : (१) तत्र विशेष्यतावच्छेदकत्वे सति व्यावर्तकत्वं विशेषणत्वं; यथा, ''दण्डी पुरुषः'' इत्यत्र दण्डित्वम्. (२) तदनवच्छेदकत्वे टि.१ सति व्यावर्तकत्वम् उपलक्षणत्वम्; यथा, ''जटाभिः तापसः'' – ''काकवद् देवदत्तस्य गृहम्'' इत्यत्र जटाकाकौ. प्रत्याय्यव्यावृत्त्यधिकरणत्वञ्च विशेष्यत्वम् * इति **नैयायिकाः**

* कार्यान्वयित्वं विशेषणत्वं, तदनन्वयित्वम् उपाधित्वं; तदेव च उपलक्षणत्वम् * इति **मायावादिनः**.

भाट्टास्तु * ''ज्ञातो घटः'' इति प्रतीतेः, ज्ञानजन्यो विषयनिष्ठः 'प्राकट्य'ऽपरनामा पदार्थो ज्ञातता. सैव च विषयता, विषयविषयिणोः सम्बन्धस्वरूपा, अवश्यम्मन्तव्याच इयम्. कथम् अन्यथा ज्ञानकर्मत्वम् घटादेः ? क्रियाजन्यफलशालित्वाभावाद् * इति **आहुः**.

अत्र **केचिद्** * न एतद् युक्तं, विनष्टे घटे 'ज्ञातः' इति प्रतीतेः. नहि तत्र ज्ञानम् किञ्चिद् जनयितुं शक्नोति, तस्यैव असत्त्वात्. नच समवायिकारणं विना भावकार्योत्पत्तिः सम्भवति. तत्र स्वरूपसम्बन्धविशेषएव प्रतीतेः विषयः इति चेद्, अन्यत्रापि सएव अस्तु! कृतम् अधिकेन, कर्मत्वस्यापि तद्वदेव उपपत्तेः * इति **आहुः**.

तत् तुच्छं, विषयविषयिणोः विषयविषयिभावात्मकस्वरूपमेव सम्बन्धः इति वादिमतेऽपि विनष्टघटस्य असत्त्वात्, स्वरूपसम्बन्धस्य अभावेन ज्ञानविषयत्वाभावापत्तेः. नच * 'शशशृंगम्' इतिवद् असन्नपि भवति ज्ञानविषयः * इति वाच्यं, 'शशशृंगम्' इति ज्ञानस्य भ्रमत्वाद्, अस्यापि तुल्यविषयतया भ्रमत्वापत्तेः. किञ्च भ्रमेहि यावन्तः पदार्थाः भासन्ते ते अन्यत्र

१. ''अवच्छेदकत्वञ्च अन्यूनाधिकदेशवृत्तित्वम्'' (ततः) 'सत्यन्ता'नुपादाने उपलक्षणे अतिव्याप्तिः, 'व्यावर्तकत्वा'नुपादाने अन्योन्याश्रयापत्तेः (आ).

प्रसिद्धाएव. अन्यथा अप्रसिद्धस्यापि भ्रमः स्यात्. तथाच न भ्रमोऽपि असद्विषयकः इति फलति. तथा सति कुतस्तरां प्रमायां तथात्वम् ? * ननुतथापि भ्रमप्रमावैलक्षण्याय असदेव वैशिष्ट्यं भ्रमे सदुपरागेण भासते इति मन्तव्यमेव * इति चेत्, तर्हि प्रकृतेऽपि कपालोपरागेण असन्नेव घटो भासतइति भ्रमत्वमेव मन्तव्यम्. * ननु सदुपरागेण भानं भ्रमप्रयोजकं न भवति, अभावप्रतीति-मात्र-बाधापत्तेः [पा.भे.२१], प्रतियोगिसत्तामेव आदाय तत्र सत्ताङ्गीकारात्. अतो दोष-बाधावेव प्रयोजकाविति तदभावात् न अस्य भ्रमत्वम् * इति चेत्, न, एतस्य प्रतिवाद्यनादरणीयत्वात्. मतान्तरे सत्तायाः धर्मान्तरत्वेन अभावेऽपि तत्सत्त्वे बाधकाभावात्. अतः सत्तयैव अभावप्रतीत्युपपत्तेः सदुपरागस्यापि भ्रमप्रयोजकत्वं वाच्यमेवेति पूर्वोक्तज्ञाने भ्रमत्वापत्तिः दुर्वारिव. किञ्च सदुपरागेण भानं वदता असतएव भानम् अङ्गीकृतम्. तत्तु [पा.भे.२२] भ्रमेऽपि अनुपपन्नमेव, ज्ञान-प्रयोजक-सन्निकर्ष-व्याप्ति-वृत्त्यादेः असति अभावात्. प्रयोजकम् अन्तरेण ज्ञानाङ्गीकारे सर्वदा भ्रमः स्यात्. अतो भ्रमोऽपि सद्विषयकएव. नच प्रमावैलक्षण्यानुपपत्तिः, अन्यख्यातिवादेन दोष-बाधाभ्यामेव उपपत्तेः. एवं सति प्रमायां सुतरां सत्तापेक्षेति विनष्टघटस्थलेऽपि सूक्ष्मरूपेण घटसत्त्वम् अङ्गीकार्यमेवेति, ज्ञाततोत्पत्तौ बाधकाभावाद् गौरवमात्रमेव ज्ञाततापक्षे दूषणम्, अर्थप्रकाशातिरिक्तप्राकट्यस्य अत्र वक्तुम् अशक्यत्वात् च ज्ञाततास्वरूपस्यापि असिद्धिः इतिच. तेन न्यायमतमेव[टि.१] अत्र सम्यग् इति दिक्.

राजसे सविकल्पके ज्ञाने पुनः द्वैविध्यान्तरनिरूपणम् :

प्रकृतम् अनुसरामः [पा.भे.२३]. उक्तरूपं सविकल्पकं द्विधा : (१)विशिष्ट-बुद्धि-(२)समूहालम्बनभेदात्.

(१)तत्र आद्यं तत्प्रकारकबुद्धित्वं; यथा, "अयं [पा.भे.२४] घटः" इति. "दण्डी पुरुषः" इत्यादिरूपा. विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धिस्तु तस्याः भेदः.

१. "वस्तुतस्तु सत्कार्यवादस्य श्रुतिसिद्धत्वात् सदपि आविर्भावापरपर्यायतया अङ्गीक्रियतइति भाट्टमतं प्रमाणिकत्वात् न दोषावहम्" इति अ पाठे अनुपलभ्यमाना इयं पंक्तिः क पाठे पादटिप्पणतया, अन्येषुतु आ ख ग घ ङ च पाठेषु मूले उपलभ्यमाना पंक्तिरियं नूनम् औत्तरकालिकी स्वोक्तनिरसनात्मकसंशोधनरूपा इति कथञ्चिद् ऊहनीयम्(ग्या).

(२)द्वितीयन्तु तद्विशेष्यकबुद्धित्वं; यथा, 'दण्ड-पुरुष-संयोगाः' इति. 'घट-पट-स्तम्भाः' इति विशिष्टसमूहालम्बनमपि तस्यैव भेदः.

साम्प्रदायिकनैयायिकास्तु * तत्र विशिष्ट-वैशिष्ट्य-बुद्धौ विषयताच-तुर्विधाः—

(१)''एकत्र द्वयम्'' इति एका.
(२)''एकविशिष्टे अपरवैशिष्ट्यम्'' इति इतरा.
(३)''विशिष्टस्य वैशिष्ट्यम्'' इति अन्या.
(४)''विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम्'' इति चतुर्थी.

(१)तत्र यत्र एकस्मिन् विशेष्ये युगपदेव विशेषणद्वयं भासते सा 'एकत्र द्वयम्' इति नाम्नी. उदाहरणं ''कृष्णो दण्ड-कुण्डल-वान्'' इति ''घटत्व-द्रव्यत्व-वद् इदं'' इति वा. (२)यत्र पुनः एकविशिष्टे अपरवैशिष्ट्यं भासते सा ''विशिष्टे वैशिष्ट्यम्'' इति यथा ''कृष्णः श्यामः कुण्डली'' — ''भूतले घटः'' इत्यादि. एतयोः विशेष्यतावच्छेदक-प्रकारक-निश्चयत्वेन विशेषण-ज्ञानस्य [पा.भे.२५] हेतुता. (३)यत्रच एकविशेषणविशिष्टस्य अन्यत्र वैशिष्ट्यं भासते सा ''विशिष्टस्य वैशिष्ट्यम्'' इति. उदाहरणं ''चारुवेणुमान् [पा.भे.२६] कृष्णः'' — ''नीलघटवद् भूतलं'' — ''रक्तदण्डवान् देवदत्तः'' इति. अत्र विशेषणतावच्छेदक-प्रकारक-निश्चयत्वेन हेतुता. (४)यत्रतु [पा.भे.२७] पूर्वं मुख्यं विशेष्ये विशेषणं भासते; ततः तत्र विशेषणान्तरं, सा ''विशेष्ये [पा.भे.२८] विशेषणं तत्र विशेषणान्तरम्'' इति; यथा, ''भूतलं घटवद् (न वा [पा.भे.२९])'' इति ''रक्तदण्डवान् न वा'' इति च. अत्र विशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चयत्वेन [पा.भे.३०] हेतुता * इति आहुः.

रामनाथस्तु [पा.भे.३१] * विशिष्टस्य वैशिष्ट्यम् इत्यतो विषयवैलक्षण्या-भावात् प्रयोजनाभावात् च तुरीया न प्रामाणिकी * इति अवदत्.

तत् तुच्छं, "रक्तदण्डवान् न वा"—"भूतलं घटवत् न वा" इत्यादिसंशयस्य विशिष्टवैशिष्ट्य-मिति-विषयताकत्वेन गृह्यमाणस्य तत्त्वाभावापत्तेः. विशेषणतावच्छेदक-प्रकारक-निश्चयाभावाद्, "विशिष्टस्य वैशिष्ट्यम्" इति विषयतायाः तत्र वक्तुम् अशक्यत्वाद्, यद्यपि विषयः तुल्यः तथापि अनुभवभेदाद् भेदः. अन्यथा "घटवद् भूतलं"–"भूतले घटः" इत्यनयोरपि विषयभेदाभावाद् विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमपि [पा.भे.३२] न सिध्येत्. अतएव "अनुभवसिद्धोहि अयं विशिष्ट-वैशिष्ट्य-बुद्धीनां विषयताविशेषः" (त.चि.म.दीधि. परामर्शप्रकरणे)[टि.१] इति दीधितिकृता उक्तम्. इदम् अत्र प्रसङ्गाद् उक्तम्.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदे प्रमास्वरूपबोधोपयिक-ज्ञानभेदोपभेदकल्लोले लोकव्यवहारमूल-सविकल्पक-ज्ञाननिरूपकः तृतीयः तरङ्गः समाप्तः

---

१. "अनुभवसिद्धो ह्ययं विशिष्ट-वैशिष्ट्य-बुद्धीनां विशेषणताविशेषः" इति पाठः चौखम्भामुद्रितायां जागदीशीसहितायां दीधित्याम् उपलब्धते ७६६तमे पृष्ठे (व्या).

पाठभेदावली

१. एकविधैव इति **क** पाठः. २. उल्लेखनतया इति **क** पाठस्तु अशुद्धएव. ३. वस्तुपर्यवसानाद् इति **क** पाठः. ४. प्रमाणाभावाद् 'इति' इति **क** पाठे नोपलभ्यते. ५. अविविक्तसामान्यविशेष'भागम्' इति **आ ख** पाठयोः **अ** पाठे शास्त्रदीपिकायामपि 'विभागम्' एव. ६. एव न 'जायते' इति **क** पाठः. ७. विकल्पितं हि इति **क** पाठस्तु अशुद्धः. ८. चानुस्मृत्य तेन पुरःस्थितम् इति **क च** पाठयोः. ९. नचार्थमदृष्टं यतः इति **क** पाठस्तु अशुद्धएव. १०. सहसैव पश्चात् इति **क** पाठः. ११. ज्ञानदर्शनेन इति **ख** पाठः. १२. सुवचत्वात् च. 'ततः' इति किञ्चित् **ख आ** पाठयोः संशोधनमिव भाति. १३. तादृशनिर्विकल्पसिद्धिः इति **क** पाठः. १४. घटत्वादिसामान्यस्य इति **क** पाठः. १५. तत्प्रतिक्रियाजन्यज्ञानस्य इति **क** पाठः. १६. सविकल्पावगाहि इति **क** पाठः. १७. 'यथा...घटत्वम्' इति पंक्तिः **क** पाठे नोपलभ्यते. १८. इति आहुः. 'तत्र' इति **क** पाठस्तु अशुद्धः. १९. प्रतियोगित्वस्य 'अभावात्' इति **क घ** पाठौतु अशुद्धौ. २०. स्वरूपतो 'भासते' इति **क ग च**पाठेषु अधिकः. २१. अभावप्रतीतिमात्रस्य भ्रमत्वापत्तेः इति

च पाठः. २२. तच्च शब्देन विषयो धर्मरूपएवेति च पाठः. २३. प्रकृतम् अनुसरामः इति क ग ङ च पाठेषु नोपलभ्यते. २४. यथा 'अयं' इति क च पाठयोरेव. २५. विशेषणज्ञानस्य इति क ग घ ङ च पाठेषु नोपलभ्यते. २६. एतत्संख्यांकिते 'चारु'...'नील' इति उदाहरणे अ आ ख पाठेषु नोपलभ्येते. २७. यत्र 'तु' इति क पाठे नोपलभ्यते. २८. विशेषणान्तरं 'सविशेष्ये' इति ख पाठः. २९. घटवत् 'न वा' इति पाठो अर्थानुरोधेन च पाठानुरोधेन 'च' निवेशितोऽपि अन्येषु पाठेषु नोपलभ्यते. अस्यामेव पंक्तौ अ पाठे 'न' इति शोधनं क्वचिद् द्योतितं किन्तु कुत्र इति न निर्दिष्टम्. ३०. विशेषणतावच्छेदकप्रकारक'ज्ञानत्वेन' इति सर्वे पाठाः. गृहीतस्तु अर्थानुरोधेन. ३१. रामनाथभट्टाचार्यास्तु इति क ग घ ङ पाठाः. ३२. विशिष्टस्य 'वैशिष्ट्यमियमपि' इति अ आ क ग घ ङ च पाठास्तु सर्वथा अशक्यान्वयत्वाद् अशुद्धाएव भान्ति गृहीतस्तु ख पाठानुसारेण.

❊ पञ्चविध-बुद्धिवृत्ति-निरूपकः चतुर्थः तरङ्गः ❊

प्रकृतम् अधुना अनुसरामः :

संशय-विपर्यास-निश्चय-स्मृति-स्वाप-रूपैः अवान्तरभेदैः राजसे सविकल्प-कज्ञाने पुनरपि पञ्चविधत्वप्रतिज्ञा :

पूर्वोक्तं सविकल्पकन्तु पञ्चविधं : (१) संशय-(२)विपर्यास-(३)निश्चय-(४)स्मृति-(५)स्वाप्न[पा.भे.१]-भेदात्. तेच तृतीयस्कन्धे उद्दिष्टाः "संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथग्" (भाग.पुरा.३।२६।३०) इति. यद्यपि इदं बुद्धिलक्षणं, तेन बुद्धिवृत्तिरूपाः एते भवन्ति नतु ज्ञानभेदाः, तथापि "बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी" (भाग.पुरा.२।१०।३२) इति बुद्धेः स्वरूपलक्षणाद् विशिष्टज्ञानसमानाकारा बुद्धिरिति तेनैव विशिष्टज्ञानभेदाअपि सिद्ध्यन्तीति अदोषः.

अथ एषां लक्षणानि उच्यन्ते, धर्मित्वेन विवक्षितस्य इतरभेदज्ञापको धर्मोहि लक्षणमिति बोधसौकर्यार्थं तस्य आवश्यकत्वात्.

सविकल्पकज्ञाने राजसराजसज्ञानरूपः प्रथमः प्रकारः संशयः, तद्द्वैविध्यं, सम्भावनातर्कयोः च तत्रैव अन्तर्भावः :

तत्र "एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्ध[टि.१]नानाकोट्यवगाहि ज्ञानं संशयः." समूहालम्बने अतिव्याप्तिवारणाय "एकस्मिन् धर्मिणि" इति, "इमे चूताः पनसाः वा", "एतौ नरौ स्थाणू वा" इत्यादौतु धर्मितावच्छेदकैक्यम् आदाय धर्मिणः एकत्वमिति अदोषइति. "इदं रजतम्" इत्यादि-विशिष्ट-वैशिष्ट्य-निश्चय-ज्ञान-वारणाय 'विरुद्धे'ति, इदन्ता-रजतत्वयोः अविरोधात्. भ्रमे अस्ति विरोधः इति चेत्, न, तत्र मायिकस्यैव इदमंशस्य भानेन पारमार्थिकस्य[पा.भे.२] अप्रमेयत्वात्. अन्यथा ज्ञानस्य सांशत्वापत्तेः.

१. सहावस्थानायोग्याः इति अर्थः(अ).सहानवस्थानयोग्यम् इति (आ)

विशेषास्फूर्तिहेतुकं विरुद्धनानाकोट्यवगाहि ज्ञानं वा, नतु एकधर्मिक-भावाभाव-कोटिक[पा.भे.३] -ज्ञानं तत्, तत्तदभाव[टि.१] समूहालम्बने अतिव्याप्तेः. नापि विरोधसंसर्गकं ज्ञानम् इति, स्थाणुत्व-पुरुषत्वयोः संसर्गत्वेन विरोधस्य अभानात्. धर्मिणितु उभयोः प्रकारतया धर्मिणा सह विरोधस्यैव अभावात्. संशये प्रकारतया भानेऽपि दोषविशेषघटितसामग्र्या यत्कोट्यां विरोधविशिष्टतया भानं तत्रापि विरोधस्य पूर्वं तद्विशेषणतयैव प्रमिततया तदापि तथैव भाननिश्चयेन संसर्गतया भानस्य अशक्यवचनत्वात्. नच * अत्र संसृष्टप्रतीतेः जायमानत्वात् तदुपपादनाय विरोधस्य संसर्गत्वं कल्प्यते * इति वाच्यं, कोट्योः पर्यायेण प्रतीत्या तस्याएव अभावात्[पा.भे.४]. तस्मात् पूर्वोक्तमेव लक्षणम्.

सच द्विविधः : (१)समः (२)उत्कटकोटिकः च.

(१.समः) तत्र संस्कारतेजसोः, विरुद्धयोः संस्कारयोः तेजसोः शब्दयोः वा तुल्यप्रकाशकत्वे विशेषास्फूर्तौ समो; यथा, ''इदं रजतं न वा?'' ''स्थाणुः न वा?'' ''वसनम् उज्ज्वलं न वा?'' ''परमाणुरूपा भूः नित्या अनित्या वा ?'' इत्यादि.

अयमपि (१ क)शुद्ध(१ ख)सङ्कीर्णभेदाद् द्विविधः.

तत्र शुद्धः उक्तः :—

(१ क)''स्थाणुः वा पुरुषो वा?'' इतितु.

(१ ख)सङ्कीर्णो, भावान्तरधर्मेण साङ्कर्यात् पुनरपि द्विविधः :—

(१ ख)साधारणधर्मदर्शनजन्मा
(१ खा)विप्रतिपत्तिजन्मा च.

---

१. घट-घटाभावसमूहालम्बने इति अर्थः (श्या).

तत्र —

(१ ख)आद्यः सङ्कीर्णात्मा.

(१ खा)द्वितीयस्तु "परमाणुरूपा भूः नित्या अनित्या वा?" पा.भे.५ इति, पुराणादौ अनित्यत्वस्य न्यायदर्शनादौ परमाणूनां नित्यत्वस्य च उक्तेः.

केचित्तु * सकल-निश्चित-नित्यानित्य-व्यावृत्तेन, गन्धवत्त्वेन तादृश-शब्दत्वादि-विशिष्ट-शब्द-ज्ञानेन च असाधारण-धर्म-दर्शन-जन्मानं तृतीयमपि * आहुः, तत् न रोचते, असाधारण-धर्मदर्शनस्य संशयोत्पादकत्वे मानाभावात्.

(१ खा)"गन्धवती भूः नित्या अनित्या वा?", "वर्णात्मा शब्दो नित्यो अनित्यो वा?" इत्यादिस्तु विप्रतिपत्तिजनितएव पृथिवीशब्दयोः अनित्यतायाः प्रत्यक्षसिद्धत्वेन सकलानित्य-व्यावृत्तत्वाभाव-निश्चयात्, गन्धवत्त्व-शब्द- त्वादि-हेतुकानुमानेन परमाणु-वर्णयोः अनित्यतायाः शक्यसाधनत्वाद् इति.

प्रत्यक्षसंशये धर्मेन्द्रिय-सन्निकर्षेणैव निर्वाहाद्, धर्मिज्ञानस्य कारणत्वं[टि.१] **मीमांसकाः न इच्छन्ति.** अन्वयव्यतिरेक-सिद्धत्वात्, **नैयायिकास्तु इच्छन्ति.**

(२.उत्कटकोटिकः) सामग्रीसंस्कारयोः[टि.२] अन्यतरस्य प्राबल्ये तेजआ-दिभिः सहकारिभिः तदनुगुणधर्मप्रकाशने अल्पविशेष-स्फूर्तौ उत्कटकोटिको भवति. भूयो विशेषस्फूर्त्यभावेन द्वितीयलक्षणेऽपि न अव्याप्तिदोषः. सम्भावनापि उत्कटकोटिक-संशयविशेषएव. अतएव "सम्भावितं सर्वमेव अप्रमाणम्"

१. धर्मिज्ञानस्य धर्मेन्द्रियसन्निकर्षं जनयित्वैव उपक्षीणत्वेन अन्यथासिद्धेः. अन्यथा विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानमिव विशेष्यज्ञानमपि कारणं स्याद् इति अर्थः(क). २. उच्चैस्त्वादिविशिष्ट-धर्मिज्ञानं यदि जायते तदैव "अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा?" इति संशयः उत्पद्यते अन्यथा नेति यथानुभवम् धर्मिज्ञानस्य कारणत्वम् कल्प्यते. एवञ्च प्रात्यक्षिकएव संशयो नैयायिकानां मते, नतु अनुमित्यादिरूपः, कारणाभावात् निश्चयसामग्र्या संशये प्रतिबन्धकता च इति अर्थः(क).

(सुबो.३।२६।३०) इति तृतीयस्कन्धे व्युत्पादितम्. **तर्कोऽपि** तथा, सम्भावनान्तर्गतत्वात्, ''स्वोत्प्रेक्षिता युक्तिः तर्कः'' इति तल्लक्षणात्[पा.भे.६]. अनिष्टप्रसञ्जनरूपत्वेऽपि तदनपायात्, प्रयोगे सम्भावनार्थक-'लिङ्'[पा.भे.७]-घटित-वाक्य-प्रयोगात् च. व्याप्तिमूलभूतस्यतु[पा.भे.८] फलं निश्चयः, नतु स्वयं निश्चयरूपइति न कापि अनुपपत्तिः. नच *तत्र कोट्यन्तरास्फुरणात् सम्भावानायाः कथं संशयान्तःपातित्वम्* इति वाच्यं, न्यग्भूतस्फूर्तेः तत्रापि सत्त्वात्. अन्यथा ''अयं प्रायः पुरुषः'' इत्यादौ प्रायस्त्वास्फुरणापत्तेः इति दिक्.

<u>सविकल्पकज्ञाने राजसतामसज्ञानरूपो द्वितीयः प्रकारो विपर्यासः :</u>

विपर्यासस्तु ''सम्प्रयुक्त-भिन्नार्थमात्र-प्रतिपादकं बाह्यं ज्ञानम्''. 'मात्र'पदं संशयवारणाय. 'बाह्यम्' इति स्मृतिस्वापयोः वारणाय. अयञ्च विषयदोषात् करणदोषात्[पा.भे.९] च भवति; यथा, ''इदं रजतम्''इति, ''शंखः पीतः''इति,''घटो भ्रमति''इति बहवः. वस्तुतस्तु आवश्यकत्वात् लाघवात् च करणदोषादेव इति निश्चयः.

केचन *''शंखः पीतः'' इत्यादौ गृह्यमाणारोपम्* **आहुः**.

तदपि त्रिक्षणिक-ज्ञान-वादि-मते न सङ्गच्छते, परेण गृह्यमाणस्य आरोपे अतिप्रसङ्गापत्तेः. स्वयं तत्र गृह्यमाणत्वे आरोपस्यैव बाधात्, स्वयम् अन्यत्र गृह्यमाणस्य तु आरोपदशायां ग्रहणस्य नाशेन गृह्यमाणत्वस्य अशक्यवचनत्वात् च. अतो जपारुणस्फटिक-मुखप्रतिबिम्बादिकमेव तत्र उदाहरणीयम् इति दिक्.

अत्र बहवः ख्यातिवादाः. तत्र[पा.भे.१०] पूर्वोत्पन्नस्य अनुभवस्य संस्कारात्मना स्थितस्य उद्बोधकैः प्राबल्ये मायिकार्थाकारवती बुद्धिवृत्तिः मायया बहिः क्षिप्यते तदा सा पुरोवर्तिनं सर्वतो अंशतो वा आवृत्य बहिः अवभासते इति मायिकस्य अन्यस्यैव ख्यानाद् 'अन्यख्यातिः' इति

अत्र व्यवह्रियते.

नैयायिकास्तु * चाकचक्याद्युद्बुद्ध-संस्कार-सहकृतेन दोषोपहितेन्द्रियेण सम्प्रयुक्ता शुक्तिरेव रजतात्मना गृह्यतइति सम्प्रयुक्तस्य अन्यथा भानाद् अन्यथाख्यातिरेव इयम् *[टि.१] इति आहुः.

भाट्टास्तु *कर्तृगतैः दोषैः प्रमुष्टतत्ताका स्मृतिरेव अत्रेति अ(न्यथा!)ख्यातिवादम्*[टि.२] आहुः.

प्राभाकरास्तु * प्रमुषिते स्मरणाभिमाने अगृहीतासंसर्गकं ज्ञानद्वयम् अत्र इत्येवम् अख्यातिवादम् * आहुः.

मायावादिनस्तु * तत्र अविद्यया अनिर्वचनीयं रजतम् उत्पद्यतइति अनिर्वचनीयख्यातिम् * आहुः.

बौद्धास्तु * असदेव रजतं ख्यायतइति असत्ख्यातिम्[टि.३] * आहुः. **विज्ञानवादिनस्तु** * क्षणिकविज्ञानरूपः आत्मैव बहिः ख्यायतइति आत्मख्यातिम्[टि.३] * आहुः.

१.द्रष्टव्यं : तस्माद् दोषकलुषिताद् इन्द्रियात् पुरोऽवस्थितधर्मि...विशेषावमर्शनकौशलशून्यात् सामान्यधर्मसहचरितपदार्थान्तरगतविशेषस्मरणोकृताद् भवति विपरीतप्रत्ययः.(न्यायमञ्ज.तृती.आह्निके). २. नैतद् भाट्टमतं किन्तु विपरीतख्यातेः अख्यातौ पर्यवसानं द्योतनायैवैवं निरूपणं स्याद्. तथाहि : (१)सम्बन्धिदर्शनंहि सदृशदर्शनवत् संस्कारम् उद्बोधयते. क्लृप्तंहि तत्र तस्य कारणत्वम्. संस्कारश्च उद्बोधितः स्मृतिं जनयति इति अविवादम्. स्मृतेश्च प्रमोषः शुक्तिरजतादिवेदनेषु क्लृप्तएव (शा.दी.अनुमाननिरूपणे प्रभाकरमतविमर्शे). (२)सर्वत्र संसर्गमात्रम् असदेव अवभासते. संसर्गिणस्तु सन्तएव. सेयं विपरीतख्यातिः इति उच्यते मीमांसकैः, असत्ख्यातिवादिनस्तु संसर्गिणोऽपि अपलपन्ति इति विशेषः. शुक्तिरजतवेदनेऽपि विद्यमानैव रजतत्वजातिः विद्यमानस्यैव शुक्तिकाशकलस्य अनात्मभूतैव आत्मतया अवगम्यते (शा.दी.विज्ञानवादखण्डने). (३)एकान्तसत्त्वे का भ्रान्तिः असत्त्वे किं प्रभासताम्? द्वयानुगुण्याद् वृद्धानां सम्मता ख्यातिरन्यथा (विभ्र.विवे.कारि. ४७) (श्या). ३. एवमेव एतयोः ख्यातिवादयोः जैनब्राह्मणग्रन्थयोः प्रसिद्धिः. मन्ये "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्, अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना...तस्य विषयः स्वलक्षणं, यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत्स्वलक्षणं, तदेव परमार्थ सद्"(न्यायबि.४-१४)"धियो नीलादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किम्प्रमाणको धियोऽनीलादिरूपत्वे स तस्यानुभवः कथम्? यदा संवेदनात्मत्वं न सारूप्यनिबन्धनं सिद्धं तत्स्वतएवास्य किमर्थेनोपनीयते?" (प्रमा.वार्ति.१।४३३-३४) इत्येवमादिवचनमूलेयं प्रसिद्धिः बौद्धग्रन्थेषु एतत्सन्दर्भो मृग्यः (श्या).

सांख्यास्तु * सदसती ख्यायेते-इति सदसत्ख्यातिम् *[टि.१] आहुः.

तेषां दूषणं ख्यातिवादे प्रपञ्चितमिति न इह विस्तरः.

* ख्यात्यन्तरे संसर्गो असन्नेव भासते. असत्ख्यातौतु संसर्गिणोऽपि असन्तः * इति पार्थसारथिमिश्राः.

सविकल्पकज्ञाने राजससात्त्विकज्ञानरूपः तृतीयः प्रकारो निश्चयः, तस्य प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन द्वैविध्यं च :

निश्चयो 'यथार्थानुभवः'. अयमेव 'प्रमा' इति व्यवह्रियते. 'याथार्थ्य'ञ्च अर्थानतिवर्तित्वम्. सम्प्रयुक्तार्थं देशादिपूर्वकं विषयीकृत्य जायमानत्वम् इति यावत्. तेन संशयविपर्यासस्वापानां निरासः, संशयेऽपि कोट्यन्तरे अर्थातिक्रमात्, विपर्यासे स्वापे च अर्थाभावेनैव अतिक्रमात्. नच * रजतरङ्गयोः "इमे रङ्गरजते" इति विपरीतभ्रमे सम्प्रयुक्तार्थातिक्रमाभावाद् अतिव्याप्तिः *, देशातिक्रमेण सम्प्रयुक्तार्थातिक्रमस्य तत्रापि सत्त्वात्. एवमेव भ्रमान्तरेऽपि उन्नेयम्.

नच * इन्द्रियासंसृष्टेऽपि[गा.भे.११] वह्नौ तदनुमितेः सम्प्रयुक्तार्थातिक्रमेण जायमानतया तत्र अव्याप्तिः * शङ्क्या, तत्रापि धूमादिरूपाव्यभिचरित-सम्बन्धि-द्वारा अर्थसंसर्गस्य सत्त्वात्. नच * अतीतानागतहेतुस्थले या अनुमितिः तत्र अव्याप्तिः * इति शङ्क्यम्, अतीते हेतौ पुरुषेण अदृष्टे अनुमितेरेव अनुदयात्. यत्र पुनः धूमः पूर्वं दृष्टः, ततो नष्टः, तदनन्तरं च वह्न्यनुमित्सा, तत्रापि धूमध्वंसाधिकरणस्य अदर्शने तस्याः अनुदयात् क्व अव्याप्तिः! वह्न्यर्थिप्रवृत्तिस्तु सम्भावनयैव, दानसम्भावनया अर्थिप्रवृत्तिवत्. सम्भावानाच व्याप्तिस्मरणात्. भूतलादिरूप-धूमाधिकरण-मात्रदर्शनेतु वह्निसाक्षात्कारो वा

१. "सदसत्ख्यातिः बाधाबाधात्" (सांख्यप्रवचनसूत्रे ५।५६) इति. न्यायकुमुदचन्द्रोदयकारः प्रभाचन्द्राचार्यस्तु सांख्यानां मते प्रसिद्धार्थख्यातिवादः इति वर्णयति[श्मा].

सम्भावना वा विलक्षणोच्छूनभस्मादिना वा अनुमितिः, नतु धूमध्वंसेन, तस्य अधिकरणव्यंग्यत्वेन तदधिकरणस्य च धूमावयवरूपत्वेन योग्यानां तेषां धूमानतिरिक्तत्वात्, ततएव अनुमितिजननात्. अथ दरदग्धेन्धनादिरेव धूमाधिकरणत्वेन विवक्षितः, तर्हि आवश्यकत्वात् लाघवाद् दृष्टानुरोधित्वात् च तेनैव अनुमितिः नतु धूमध्वंसेन. तस्यच अस्त्येव अर्थसम्बन्धित्वम्, अतो न अव्याप्त्यवकाशः. एवमेव अनागतस्थलेऽपि प्रागभावव्यञ्जकस्य अनुमापकत्वमिति तत्रापि तथा. धूलीपटले धूमभ्रमेण या अनुमितिः सातु अलक्ष्येति न तत्र अव्याप्तिः दोषाय. कदाचिद् वह्निप्राप्तिस्तु पा.भे.१२ काकतालीयत्वात् न तस्याः प्रमात्वनिर्वाहाय अलम् इति दिक्.

उपमितिस्तु सादृश्यादिसहकृतेन्द्रियार्थ-संसर्गजन्यैव.

शाब्दमपि, शब्दस्य नित्यम् अर्थसम्बद्धत्वात् — तेन पा.भे.१३ चक्षुरादिवत् पदार्थोपस्थितेः, शब्दार्थजन्यमेवेति — न क्वापि अव्याप्तिः. इति सुष्ठुः.

केचित्तु ✻ तद्वति तदवगाहित्वं याथार्थ्यम्. तच्च तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकत्वम्. नच * एवं वह्नि-गुञ्जापुञ्जयोः "इमौ गुञ्जापुञ्जवह्नी" इति विपरीतभ्रमे वह्न्यंशे वह्नित्ववद्-विशेष्यकत्वस्य गुञ्जांशे वह्नित्वप्रकारकत्वस्य च सत्त्वात् तत्रापि प्रमात्वापत्तिः * शङ्कया, तद्वन्निष्ठ-विशेष्यता-निरूपित-तन्निष्ठ-प्रकारता-शालित्वस्य विवक्षितत्वात्. एवं शुक्तावपि कालिकादिसम्बन्धेन रजतत्ववत्त्वस्य सत्त्वाद् रजतभ्रमे "रजतं संयोगसम्बन्धेन रजतत्ववद्" इति सम्बन्धभ्रमे च अतिव्याप्तिवारणाय उभयत्र तत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वमपि निवेशनीयम्. तथाच तत्सम्बन्धावच्छिन्न-तद्वन्निष्ठ-विशेष्यता-निरूपित-तत्सम्बन्धावच्छिन्न-तन्निष्ठ-प्रकारताशालि-ज्ञानत्वं तदर्थः फलति ✻ इति **आहुः** पा.भे.१४

तत् न, संशयस्यापि यथार्थत्वापत्तेः नच * तदंशे सोऽपि यथार्थएव * इति वाच्यं, तथासति अवशिष्टांशे भ्रमत्वमेव तस्येति संशयोच्छेदापत्तेः.

नच *भ्रमप्रमासाधारणज्ञानस्य संशयत्वात् न उच्छेदः* इति वाच्यं, ज्ञानस्य गुणत्वात् निरंशत्वेन एकस्य उभयात्मकतायाः वक्तुम् अशक्यत्वात्. अतएव शाखावच्छेदेन कपिसंयोगवति वृक्षे "मूले वृक्षः कपिसंयोगी" इति प्रत्ययस्यापि न[टि.१] अनया दिशा प्रमात्वं किन्तु 'एकदेशविकृत'[टि.२] न्यायेन इति बोध्यम्. अन्यथा पुरोवर्तित्वसमूहालम्बनाद्यंशे भ्रममात्रस्य तद्वति तदवगाहित्वेन अंशतः प्रामाण्यस्य सत्त्वात् केवलभ्रमः उदाहर्तुम् अशक्यएव स्यात्. नापि तद्वति-तन्मात्रप्रकारावगाहित्वं तद्वति-तत्प्रकारकनिश्चयत्वं वा तत्, निर्विकल्पके अव्याप्तेः, तस्य धर्मस्वरूपमात्रावगाहित्वेन तद्वत्ताद्यनवगाहित्वाद्[पा.भे.१५], अवगाहे निर्विकल्पता-हानिप्रसङ्गात्. नच *तस्य न लक्ष्यत्वम्* इति वाच्यम्, अयथार्थत्वापत्तेः. नच इष्टापत्तिः, तज्जन्यसविकल्पकस्यापि तथात्वापत्तेः. तस्माद् उक्तमेव लक्षणम् इति निश्चेयम्.

नच एवं स्मृतेः अयथार्थत्वापत्तिः, परम्परया तस्याअपि अर्थम् अनतिक्रम्यैव जायमानत्वात्. नच तथा सति तस्याः प्रमाणत्वापत्तिः, अर्थाङ्गाभावात्[पा.भे.१६], ज्ञानस्य अर्थप्रकाशरूपत्वेन अर्थस्य तदर्थाङ्गत्वात्. अतो अन्तरविद्यमानानामपि अनुभूतसमानानां पदार्थानां[पा.भे.१७] मायया अन्तः उपस्थापने तस्याः तत्सहकृतत्वाद्. यथा शिरोऽतिरिक्तसर्वावयवसम्पूर्णः क्रियां कुर्वन्नपि देहः शिरोहीनत्वात् कबन्धएव, तथा स्मृतिः ज्ञानरूपापि प्रवृत्त्यादिकार्यं जनयन्त्यपि अर्थाभावात् न निश्चयरूपेति 'अनुभव' पदेन तस्याअपि निरासः.

अनुभवस्तु स्मृतिभिन्नं ज्ञानं, साक्षात्प्रमाणजन्यं[पा.भे.१८] ज्ञानं वा. साक्षात्त्वञ्च क्लृप्तद्वारातिरिक्तानन्तरितत्वम्. तेन न अनुमित्यादौ अव्याप्तिः,

---

१. तथाच उक्तं न्यायशास्त्रे. तथाहि तर्कग्रन्थे चिन्तामणिना उक्तं "सत्तर्काद् व्याप्तिप्रमा. तदाभासात् तदप्रमा" इति. वह्निव्याप्यधूमे असत्तर्कः प्रवृत्तो "धूमो यदि वह्निव्यभिचारि द्रव्यं स्याद्" इत्याकारः. तेन धूमे व्याप्तिप्रमा तेन जनिता. तस्याम्... तर्कस्य च अव्यभिचारः इति आक्षिप्तं तदुपरि समाहितं "मुख्यविशेषे प्रमात्वघटकसम्बन्धेन विशेषणवत्तैव प्रमात्वप्रयोजिकेति न सत्तर्कव्यभिचाराद्" इति. तद्ग्रन्थोपरि अग्रे भवानन्दभट्टाचार्यैः लिखितं "तदङ्गादौ करादिमत्ताग्रहकालेऽपि करादिव्याप्यपुरुषवत्ताज्ञानात्मकविशेषदर्शनप्रमेया पुरुषत्वप्रमा निराबाधा" इति. अंशतोऽपि भ्रमात्मकस्यापि ज्ञानस्य प्रमात्वमेव भवानन्दैः अभ्युपेतं सङ्गच्छते[(आ)]. २. "एकदेशविकृतम् अनन्यवद् भवति"(द्र. : भुव.लौकि.न्या.सा.३५०)[(श्या)].

'साक्षात्' पदेनैव च स्मृतेरपि निरासः. अनुभवसूक्ष्मावस्थारूपस्य संस्कारस्य अनुभव-तद्ध्वंसयोः च क्लृप्तद्वारानन्तःपातित्वात्. द्वाराणितु अग्रे तत्तत्प्रस्तावे वाच्यानि. 'प्रमाण' पदञ्च ज्ञानकरणपरं, तेन संशयादेः संग्रहः. नच *स्मृतिनिरासाय चेद् 'अनुभव'पदं, तर्हि "स्मृतिभिन्नं ज्ञानम् अनुभवः" इत्येव लक्षणं लघुत्वाद् आदरणीयम्* इति वाच्यं, "संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः" इति स्मृतिलक्षणानङ्गीकारस्य अग्रे प्रपञ्चनीयत्वेन गुरुत्वम् अङ्गीकृत्यैव अस्य आदरणाद् इति दिक्.

तच्च निश्चयात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन द्विविधम्. तत्र इन्द्रियार्थसत्सम्प्रयोगजन्यं[टि.१] ज्ञानं[पा.भे.१९] प्रत्यक्षम्. एतदेव लोके 'साक्षात्कार' पदेन उच्यते. ईश्वरज्ञानन्तु न लक्ष्यम्. शब्दाद् अपरोक्षञ्च न युक्तिसहम् इति उपपादयिष्यते. "सन् च असौ सम्प्रयोगः[पा.भे.२०] च" इति समासः — मायिक-विषयग्राहक-सामग्र्यप्रतिहतः इति अर्थः. तेन संशयादेः निरासः. तत्र सत्सम्प्रयोगस्य[पा.भे.२१] असत्त्वाद् दुष्टत्वाद् इति अर्थः. यत्तु "प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभेदः प्रत्यक्षम्" इति मतं तद् उपरिष्टाद् ज्ञानोत्पत्तिप्रक्रियायां[पा.भे.२२] निरसनीयम्.

तस्माद् उक्तमेव प्रत्यक्षलक्षणम्. संशयादौ प्रत्यक्षत्वव्यवहारस्तु सादृश्यनिबन्धनो गौणः. तत्सञ्जिघृक्षायान्तु 'सत्' पदं त्याज्यम्. तद्भिन्नं ज्ञानं परोक्षम्. एतयोः भेदाः अग्रे वाच्याः.

सविकल्पकज्ञाने राजसराजसज्ञानरूपः तुरीयः प्रकारः स्मृतिः :

स्मृतिस्तु "संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम्". निद्राबहिरिन्द्रियाजन्यत्वे[पा.भे.२३] सति संस्कारजन्यम् इति यावत्. तेन न वृत्त्यन्तरे अतिव्याप्तिः. यद्वा[पा.भे.२४] संस्कारत्वेन संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः. प्रत्यभिज्ञादेः सहकारित्वेन संस्कारजन्यत्वात् न तत्र अतिव्याप्तिः. नच *भावनासंस्कारस्य सिद्धान्ते अनङ्गीकाराद्

१. "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्यतत्प्रत्यक्षनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वादिति" (१।१।४) जैमिनिसूत्रेऽपि इदमेव लक्षणं सिध्यति(क).

असम्भवः * इति शङ्क्यम्, अनुभवसूक्ष्मावस्थारूपस्य संस्कारस्य अङ्गीकाराद् इति उक्तम्. नच * "सद्योनष्टस्मृतिर्गोपी" (भाग.पुरा.१०।८।४४) इत्यत्र अनुभवाव्यवहितोत्तरमपि स्मृत्यङ्गीकारात् तदानीं च सूक्ष्मावस्थानुपपत्तेः तादृशव्यक्तौ अव्याप्तिः * इति वाच्यं, तस्याः अलौकिकलीलान्तःपातित्वेन अत्र अलक्ष्यत्वात्. तस्याअपि लक्ष्यत्वेतु "अनुभवभिन्नं ज्ञानं स्मृतिः" इति लक्षणम्. *ननु एवंसति स्मृतिजनकतावच्छेदका[टि.१] ननुगमः * इति चेत्, न, अनुभवत्वस्यैव अवच्छेदकत्वाद्, अवस्थायाः स्वरूपभेदानापादकत्वात्. नच * अवच्छेदकगौरवम्! * इति वाच्यं, प्रामाणिकत्वात् पदार्थान्तररूप-संस्कारानङ्गीकारेण प्रत्युत लाघवात् च. * ननु अनुभवाव्यवहितोत्तरक्षणे या स्मृतिः सा उपनीतभानरूपैव अङ्गीकार्या. नच 'स्मृति' पदविरोधः, "स्मृति(प्रति)लम्भेः सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः"[पा.भे.२५] (छान्दो.उप.७।२६।२) इति श्रुतौ 'स्मृति' पदस्य मोचकसाक्षात्कारपरत्वेनापि व्याख्यानेन अन्यत्रापि[पा.भे.२६] तथा वक्तुं शक्यत्वाद् * इति चेत्, न, लाक्षणिकत्वाद्, आर्जवेन सिद्धौतदङ्गीकारस्य अयुक्तत्वात्. किञ्च अत्र उपनीतभानत्वाङ्गीकारे स्मृतित्वोच्छेदप्रसङ्गः, भावनासंस्कारोपनीतत्वस्य सर्वत्र वक्तुं शक्यत्वात्. नच * ज्ञानातिरिक्तस्य उपनायकत्वाभावात् न तथा * इति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वात्, क्लृप्तमानाद्यभावेऽपि ज्ञानजनकत्वस्य उपनायकत्वेन संस्कारेऽपि तत्सत्त्वात्. * ननु एवं स्मृतेः उपनीतभानरूपत्वे अनुभावान्तःपातित्वेन 'अनुभवामि' इति अनुव्यवसायापत्तिः * इति चेत्, न, अनुभवत्वसामान्येऽपि अनुमित्यनन्तरम् 'अनुमिनोमि' इति अनुव्यवसायाद्, 'अनुभवामि' इत्यस्य अभावात् च, तथा आपादयितुम् अशक्यत्वात्. अतः उपनीतभानत्ववारणाय अनुभवभिन्नत्वस्यैव रूपस्य 'स्मरामि' इति अनुव्यवसायप्रयोजकत्वेन उपेयत्वात्. तस्यच अनुभवाव्यवहितोत्तर[पा.भे.२७]भाविन्यामपि तुल्यत्वात्, तस्यापि न उपनीतभानत्वम्. प्रकृतायास्तु अनुव्यवसीयमानत्वाभावेऽपि वाक्यप्रामाण्यादेव स्मृतित्वम् अवसीयतइति न शङ्कालेशः.

किञ्च, अतिरिक्त-संस्कार-वादि-मतेतु संस्कारस्य असिद्धिरेव. तथाहि

१. नियामकम्[(अ)].

संस्कारवादिना सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणत्वेन अदृष्टस्यापि स्मृतिहेतोः वक्तव्यत्वे आवश्यकत्वात् लाघवात् च तदेव अस्तु,[टि.१] कृतं संस्कारेण अतिरिक्तेन.

ननु अनुभवजन्यम् अदृष्टं, स्मृतिजनकम् उत अनुभवजनकं? न आद्यः, अनुभवस्य अदृष्टजनकत्वेन अविहितत्वाद्, अविहितेनापि दुरदृष्टवद् अङ्गीकारेऽपि, सहकारिणो अन्यस्य अभावेन अनुभवस्य च नष्टत्वेन स्मृत्यनुदयप्रसङ्गात्[पा.भे.२८]. न द्वितीयो, अनुभवं विनापि स्मृतिप्रसङ्गात्. अतो अन्यथानुपपत्त्या अनुभवव्यापारत्वेन संस्कारसिद्धिः इति चेत्, न, अनुभव-तद्ध्वंसयोः अन्यतरस्य सहकारित्वसम्भवात्, त्वयापि सदृशादेः अननुगतस्यैव उद्बोधकस्य[टि.२] अङ्गीकारात्. नच *प्रतियोगि-तदभावयोः एककार्याजनकत्वात्[टि.३] न एवम्* इति वाच्यं, व्यक्तिभेदेन अदोषात्. नच *एकजातीयेऽपि तथा[टि.४]* इति वाच्यं, ज्ञानजातीये तदभावात्, घटतदभाव-समूहालम्बनदर्शनात्. *ननु तत्र तयोः विषयत्वेन कारणत्वम् अतो न दोषः, प्रकृतेतु[पा.भे.२९] न तथेति तत्तद्रूपेणैव[पा.भे.३०] कारणत्वं वाच्यं, तथा सति कारणीभूताभाव-प्रतियोगित्वस्य प्रतिबन्धकपदार्थत्वेन स्मृतिकारणीभूत-ध्वंस[पा.भे.३१]-प्रतियोगिनो अनुभवस्य स्मृतिप्रतिबन्धकत्वापत्तिः* इति चेत्, न, प्रतिबन्धकसंसर्गाभावत्वेनैव प्रतिबन्धकाभावस्य हेतुतया तस्य संसर्गाभावत्वेन प्रतिबन्धकशरीरघटकत्वात्, प्रकृतेच ध्वंसत्वेन[पा.भे.३२] कारणत्वाद् ध्वंसप्रतियोगिनो अनुभवस्य स्मृतिकारणत्वानपायात्. नच *अनुभवत्वेन कारणत्वे उपेक्षात्मकानुभवादपि* स्मृत्यापत्तिः, उपेक्षान्यत्वस्यापि तत्र विशेषणीयत्वात्. *ननु चाक्षुषत्वादिना साङ्कर्याद् उपेक्षात्वस्य एकस्य अभावेन तत्तद्व्यक्तित्वाव-च्छिन्न-प्रतियोगिताक-भेदकूटस्यैव निवेशनीयतया स्मृतिजनकतायां सर्वांशोपेक्षा-भेदे आंशिकोपेक्षाभेदानाम् एकत्र निवेशप्रसङ्गेन तेषां मिथो विशेषणविशेष्यभावे विनिगमना[पा.भे.३३] विरहेण कार्यकारणभावानन्त्यप्रसङ्गात् — संस्काराङ्गीकारेतु संस्कारजनकतावच्छेदककोटौ सर्वांशोपेक्षाभेदानां स्मृतिजनकतावच्छेदककोटौ च आंशिकोपेक्षाभेदानां निवेशेन एकत्र तेषाम् अनिवेशात् लाघवमिति —

१. अदृष्टमेव कारणम् अस्तु (आ). २. सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः (क). ३. एकव्यक्त्यजनकत्वात् (आ). ४. प्रतियोगितदभावोभयजनकताभावः इति अर्थः (अ). एकजातीये घटादौ तथा एककार्याजनकत्वम् (आ).

लाघवबलेन संस्कारः सेत्स्यति* इति चेत्, न, सिद्धे संस्कारे तज्जनकविचारदशायां बुध्यमानस्य तदवच्छेदकलाघवस्य तदसिद्ध्यैव पराहतत्वात्. गुरोरपि कार्यकारणभावस्य धर्मत्वेन तदपेक्षया[पा.भे.३४] धर्मीभूत-संस्कार-कल्पनायाएव प्रत्युत गुरुत्वाद्[टि.१], उपेक्षात्वस्य अखण्डोपाधित्वाङ्गीकारे[पा.भे.३५] तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य[पा.भे.३६] एकत्वात्, कूटानिवेशेन संस्कारानङ्गीकर्तुरेव लाघवात् च.

किञ्च[टि.२] एवं जनकतावच्छेदकभेदे सर्वांशोपेक्षा[पा.भे.३७] न्यानुभवस्य स्मृत्यजनकत्वात् सर्वांशस्मृतिरपि न स्यात्. तथाच प्रत्यक्षविरोधः तादृशसंस्कारात् सेत्स्यति इति चेत्, तर्हि आगतमेव व्यापारित्वेन तादृशानुभवस्य जनकत्वमिति अपार्थः प्रयासः. अखण्डोपाधित्वानङ्गीकारेतु प्रवृत्तिनिवृत्त्यजनकादिरूपादपि अनुभवात् स्मृतिदर्शनेन, तदतिरिक्तोपेक्षासत्त्वएव मानाभावाद्, अनुभवत्वेनकारणत्वम् अप्रत्यूहमेवेति कृतं संस्कारेण इति दिक्. नच एवं यागजापूर्वासिद्धिः, श्रुत्या यागस्य करणत्वबोधनेन तदभावस्य तथात्वायोगात्. वस्तुतस्तु लौकिकक्रियया यागस्य अभिव्यक्तिः, नतु क्रियैव यागः, "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति.ब्राह्म.१।२।५।१) इति श्रुतेः इति अन्यत्र विस्तरः. अतो अतिरिक्तसंस्काराभावात् न नैयायिकोक्तं लक्षणम्.

सविकल्पकज्ञाने राजसतामसज्ञानरूपः पञ्चमः प्रकारः स्वापः, सुषुप्तिस्तु स्वप्नावान्तरभेदः :

प्रकृतम् अनुसरामः. स्वापस्तु "स्वप्नसृष्टिविषयकं ज्ञानं," तेन न पूर्वोक्तेषु अन्तर्भावः[पा.भे.३८]. नच *जाग्रद्दृष्टानामेव स्वप्नेऽपि दर्शनात् न सा अन्या* इति शङ्क्यं, स्वशिरच्छेददर्शनादिविरोधात्. नच *कर्तृकरणाद्यभावात् सा नास्ति* इति वाच्यं, "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" (बृह.उप.४।३।१०) इत्यादिश्रुतिभिः सन्ध्यस्थानेसृष्टिकथनाद्, भगवतएव तत्र कर्तृत्वात् मायायाः च करणत्वात्

१. लाघवबलेन संस्कारसाधने असिद्धिपराहतिः नास्तीत्यतो दूषणान्तरं गुरोरपि इति (क). २. पदार्थगौरवेऽपि प्रतिपत्तिलाघवम् अस्तीत्यतो दूषणान्तरम् (क).

तस्याएव च उपादानत्वात्. नच *दीक्षितेन स्वप्ने अन्नभोजने कृते प्रायश्चित्तविधानात् कथं तस्याः मायिकत्वम्* इति वाच्यं, शास्त्रेण यज्ञकर्मण्येव कर्तृत्वे नियमिते निषिद्धस्य भोजनस्य प्रतिच्छायरूपेऽपि तस्मिन् आरोपितम् आभिमानिककर्तृत्वमपि दोषावहम् इति अभिप्रायेण तदुक्तेः. नच *संवादि-देवताज्ञादि-दर्शनात् न मायात्वम्* इति शङ्क्यं, जीवानाम्, इन्द्रादीनाम् योगादिसामर्थ्यवताम्, अन्तर्हृदि प्रवेशात्; सर्वसमर्थस्य भगवतः च व्यापकत्वेन विद्यमानत्वात्, तदाज्ञादेः अमायिकत्वेऽपि प्रमेयबलादेव तादृग्ज्ञान-सम्भवेऽपि सर्वत्र अमायिकत्वस्य आपादयितुम् अशक्यत्वात्. जागरिते दोषवशात् क्वचित् मायिकस्येव स्वप्नेऽपि उक्तगुणवशात् सत्यस्यापि क्वचित् दर्शनसिद्धेः च. तस्मात् स्वाप्निकी सृष्टिः मायामात्रं न वस्तुभूता इति निश्चयः. तद् उपपादितं सन्ध्याधिकरणे (ब्र.सू.३।२।१) व्यासपादैः.

माध्वास्तु, *तद्विषयकं ज्ञानं मिथ्या इति वदन्तः, स्वप्नसृष्टिं सत्यां निरुपादानिकां च (ब्र.सू.मा.भा.३।२।१-४) आहुः. यथाहि : चिन्तामणि-कामधेनु-कल्पतर्वादिभ्यः पदार्थाः चिन्तामात्रात् निमित्ताद् उत्तिष्ठन्ते, तत्र न चिन्तामण्यादीनाम् उपादानत्वं, विक्रियायाः अदर्शनात्, तथा स्वप्नेऽपि* इति (**प्रतिपादयन्ति!**).

तद् अशोभनं, तथा सति चिन्तामण्याद्युत्पन्नानामिव स्वाप्निकानामपि चिरकालस्थायित्वापत्तिः, स्वप्ने स्वशिरच्छेदद्रष्टुः दर्शनस्य मिथ्यात्वेऽपि छेदस्य तात्त्विकत्वात् मरणापत्तिः च, अनुपादानकत्वेन अन्यस्य शरीरस्य अङ्गीकारेऽपि अर्थक्रियान्तराभावाद् अचिरस्थायित्वात् सन्ध्याधिकरण (ब्र.सू.३।२।१) विरोधाद् ऐन्द्रजालिकादिष्वपि सत्यत्वापातात् च. अतः तत्र अयस्कान्त[टि.१] न्यायेन तत्तत्समवाय्याकर्षकत्वमेव वाच्यम्. ज्ञानन्तु तद्विषयकं सत्यमेव तस्य आत्मरूपत्वाद्. अत्र आत्मा "स्वयञ्ज्योतिर्भवति" (बृह.उप.४।३।९,१४) इति श्रुतेः इति दिक्.

सुषुप्तिस्तु स्वप्नस्यैव अवान्तरभेदः. तत्र आत्मस्फुरणन्तु स्वतएव.

१. अयम् न्यायः उदासीनत्वे कर्मप्रवर्तकत्वविवक्षायाम् अवतरति...(भु,लो.न्या.सा.९१९) (व्या).

चिन्तादीनाम् सिद्धान्ताभिमतं स्वरूपम् :

चिन्तातु विकल्पसम्मोहात्मिका सम्भावनायाम्, ऊहापोहात्मिका मानससंशये[पा.भे.३९], ध्यानात्मिका स्मरणे, निविशतइति न अतिरिक्ता.

ह्रीभीप्रभृतयस्तु अहंकारवृत्तयो न ज्ञानविशेषाः.

''सोऽयं देवदत्तः'' इत्यादिप्रत्यभिज्ञातु निश्चयएव. अभ्यासजन्ये दृढप्रतीतिरूपे ज्ञाने यथा पूर्वानुभवसंस्कारः सहकारी तथा प्रत्यभिज्ञायां स्मृतिः सहकारिणी, विशेषणतावच्छेदक-प्रकारकनिश्चयत्वार्थं[पा.भे.४०] तस्याः अवश्यम् अपेक्षणात्. अतो यथा अनुग्राहकान्तरप्रवेशेऽपि यथार्थानुभवत्वानपायाद् अभ्यासज्ञानं निश्चयरूपं तथा स्मृत्या विषयेण च पूर्वस्थितज्ञानस्य[पा.भे.४१] उद्दीपनात् प्रत्यभिज्ञापि इति ज्ञेयम्. प्रत्यभिज्ञायाः संस्कारजन्यत्वपक्षेऽपि तस्याःअनुग्राहकत्वेन संस्कारजन्यत्वात्, स्मृतेस्तु संस्कारत्वेन संस्कारजन्यत्वात्, 'मात्र' पदादानेऽपि स्मृलिक्षणस्य न अतिव्याप्तिः इत्यपि ज्ञेयम्.

भ्रमप्रमासमूहालम्बनन्तु ''एकदेशविकृतम् अनन्यवद् भवति'' (भुव.लौकि.-न्या.सा.३५०)इति न्यायेन भ्रमाधिक्ये विपर्यासएव प्रमाधिक्ये च निश्चयः. एवञ्च यत्र[पा.भे.४२] शाखावच्छेदेन वृक्षे कपिसंयोगो मूलावच्छेदेन च कपिसंयोगप्रत्ययः तत्रापि पूर्वोक्तन्यायात् प्रमारूपतैव नतु नैयायिकोक्तरीत्या.

एवञ्च दारुदन्तादिनिर्मितमूर्तौ चित्रादौ च या तुरङ्गप्रतीतिः सापि प्रमाधिक्यात् निश्चयरूपैव नतु आभ्यो अधिका.

तथैव नटेऽपि[पा.भे.४३] या सामाजिकानां रामादिप्रतीतिः सा अनुकार्यराहित्येऽपि यथाशास्त्र-वेशक्रियानुकृति-निमित्तकत्वात् सामाजिकरसो-द्बोधकत्वात् च प्रमाधिकेति प्रमारूपैव. एतेनैव देवताप्रतीतिरपि व्याख्याता ज्ञेया.

यत्रतु ''इमे रङ्गरजते'' इति साम्यं तत्र पूर्वोक्तन्यायस्य[पा.भे.४४] तूष्णीकत्वाद्

भ्रमप्रमान्यतररूपता न वक्तुं शक्येति समानरूपतया सम्भावनावत् संशयः इति संक्षेपः.

॥ इति प्रमाप्रसङ्गेन ज्ञानभेदाः विचारिताः ॥

इति प्रस्थानरत्नाकरस्य प्रमाणपरिच्छेदे प्रमाणस्वरूपबोधौपयिकज्ञान-भेदोपभेदकल्लोले पञ्चविध-बुद्धिवृत्ति-निरूपकः चतुर्थः तरङ्गः प्रथमः कल्लोलश्च सम्पूर्णः

पाठभेदावली

१. स्वापभेदाद् इति **क ग घ ङ** पाठेषु. २. साहजिकस्यैव इति **च** पाठः. ३. कोटिक इति **क ग च** पाठेषु. ४. तस्याएव 'भावात्' इति **ख** पाठस्तु अशुद्धः. ५. शुद्धात्मा इति **च** पाठे. ६. तर्क इति 'लक्षणात्' इति **क** पाठः. ७. सम्भावनार्थक'लिंग' इति **क** पाठस्तु अशुद्धः. ८. व्याप्तिमूलभूतस्य'तु' इति **अ क ख** पाठेषु अनुपलभ्यमानोऽपि **ग घ ङ च** पाठानुसारेण गृहीतः. ९. कारणदोषात् इति **आ ख** पाठयोः. १०. तत्पूर्वोत्पन्नस्य इति **आ ख घ ङ च** पाठेषु. ११. इन्द्रियसंसृष्टेऽपि इति **ख** पाठस्तु अशुद्धः. १२. वह्निव्याप्तिस्तु इति **ख** पाठस्तु अशुद्धः. १३. तेनच इति **ग च** पाठयोः. १४. आहुः इति **ग घ च** पाठेषु. १५. तद्वत्ताद्यवगाहित्वात् इति **ख** पाठस्तु अशुद्धः. तद्वत्ताद्यनवगाहात् इति **क** पाठः. १६. अर्धांगीभावात् इति **ख** पाठस्तु अशुद्धः. १७. पदार्थानाम् इति **ख** पाठे नोपलभ्यते. १८. साक्षात्प्रमाणजन्यं 'ज्ञानं' इति **क** पाठे नोपलभ्यते. १९. सत्संप्रयोगजन्यं 'ज्ञानं' इति **क** पाठे नोपलभ्यते. २०. 'सन् चासौ प्रयोगश्च' इति **क** पाठस्तु अशुद्धः. २१. तत्र संप्रयोगस्य इति **अ क च** तत्सम्प्रयोगस्य इति **आ ख** ससम्प्रयोगस्य इति **घ ङ** पाठेषु वैविध्यम्. २२. ज्ञानोत्पत्तिक्रियायाम् इति **क** पाठस्तु असमीचीनः. २३. बहिरिन्द्रियाजन्यत्वे सति 'संस्कारजन्यत्वम्' इति **क** पाठः. २४. 'यद्वा...अतिव्याप्तिः' इत्येतावती पंक्तिः **अ** व्यतिरिक्तेषु सर्वेष्वपि पाठेषु **आ** पाठीयसंशोधनमूलिका. २५. स्मृतिप्रतिलम्भे...प्रविमोक्षः इति सर्वेषु पाठेषु गृहीतस्तु प्रसिद्धः औपनिषदपाठः. २६. व्याख्यानेन 'अत्रापि' इति **क** पाठः. २७. अनुभवाय विहितोत्तर इति **क** पाठस्तु अशुद्धएव. २८. स्मृत्यनुपदप्रसङ्गाद् इति **क** पाठस्तु अशुद्धः. २९. प्रकृते 'तु' इति **क** पाठे नोपलभ्यते. ३०. तद्रूपेणैव इति **क** पाठः. ३१. स्मृतिकरणीभूततद्ध्वंस इति **क** पाठस्तु अशुद्धः. ३२. तद्ध्वंसत्वेन

इति क पाठः. ३३. विनिगमाविरहेण इति क पाठः. ३४. तदपेक्षा इति आ ख पाठयोः. ३५. अखण्डोपाधितांगीकारे इति क पाठः. ३६. तदवच्छिन्नप्रतियोगिताभेद इति क पाठस्तु अशुद्धः. ३७. सर्वांशोपेतान्यानुभवस्य इति क पाठः. सर्वांशोपेक्षान्यानुभवस्मृत्यजनकत्वाद् इति आ ख पाठयोः. ३८. पूर्वोक्तेऽन्तर्भावः इति क पाठः. ३९. मानससंशयो इति ख पाठस्तु अशुद्धः. ४०. विशेषणतावच्छेदकप्रकारकं'निश्चयार्थ' इति ख पाठः. ४१. ज्ञानस्यैव इति क च पाठे. ४२. एवं च 'यत्र' इति क पाठे नोपलभ्यते. ४३. नरेऽपि इति क पाठस्तु सर्वथा अशुद्धः. ४४. पूर्वन्यायस्य इति क पाठः.

।। प्रमाकरणस्वरूपनिरूपको कल्लोलः ।।

✻ करणकारणसामान्यस्वरूपनिरूपकः आद्यः तरङ्गः ✻

इदानीं करणं तस्याः वक्तुं करणमुच्यते ।।[टि.१]

तत्र तावद् "व्यापारवद् असाधारणं कारणं[पा.भे.१] करणम्". कारणत्वञ्च आविर्भावकशक्त्याधारत्वम्[पा.भे.२]. उपादानस्थं[पा.भे.३] कार्यं या व्यवहारगोचरं करोति सा शक्तिः आविर्भाविका. आविर्भावश्च व्यवहारयोग्यत्वं, तिरोभावश्च तदयोग्यत्वम्. ते द्वे यद्यपि भगवतः शक्ती "आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः" ( ) इति "मयूराश्चित्रिता येन" ( ) इति च वाक्याद् आविर्भावयतीति 'आविर्भावः' इति अर्थात्, तथापि भगवता विभज्य तत्र-तत्र स्थापितइति तस्य-तस्य तत्तदाविर्भावकत्वात् तत्तच्छक्तित्वम्[पा.भे.४] उच्यते. तथात्वञ्च एकादशस्कन्धे उक्तम् "अब्जयोनि"म् उपक्रम्य "विशिलष्टशक्तिर्बहुधेव भाति बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वद्" (भाग.पुरा.११।१२।२०) इति कथनात्. एवञ्च व्यवहारे यत्र यदाविर्भाविका शक्तिः तत् तस्य कारणं, यस्य च यतो व्यवहारयोग्यत्वं तत् तस्य कार्यम्. इदञ्च यथा तथा आविर्भावतिरोभाववादे प्रपञ्चितम् अस्माभिः. एतेनैव कुलालपितुरपि न कारणता इति सिद्धं, फलोपधानाभावात्.

यत्तु "अनन्यथासिद्ध-नियतपूर्ववर्तित्वं कारणत्वम्" आहुः[टि.२] तत् न, पूर्ववर्तित्वस्य कार्यसापेक्षत्वात् कार्यस्य च नियतपश्चाद्भावित्वाद् अन्योन्याश्रयग्रासाद्. अनन्यथासिद्धत्वस्य अन्यथासिद्धभिन्नत्वेन, अन्यथासिद्धेः च अन्यत्र गृहीतकारणताकत्वरूपत्वेन, तत्रापि अस्यैव कारणलक्षणस्य वक्तव्यत्वाद् आत्माश्रयापत्तेश्च. नापि 'कारणं-कारणम्' इति अनुगताकार-

१."विचारयितुमुद्यमः" इत्यस्मिन् स्थाने "वक्तुं करणमुच्यते" इति अ आशोधनिका. तेन प्रमायाः करणं वक्तुं करणसामान्यस्वरूपम् उच्यते इति अर्थः (व्या). २.नैयायिकाः (क).

प्रतीति-साक्षिक-जाति-विशेषः तद्, अभावेऽपि [पा.भे.५] तस्य अङ्गीकारेण जातेरेव अशक्यवचनत्वाद्. अखण्डोपाधित्वन्तु अगतिकगतिः. नापि कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकित्वं तत्, मूलकारणे आकाशादो च अव्याप्तेः [पा.भे.६]. तत्तन्मते तस्य-तस्य नित्यविभुत्वेन कालतः देशतः च अव्यतिरेकात्. नच *यत् कारणत्वेन विद्वद्भिः व्यवह्रियते तद् आदाय लक्षणसङ्गतिः* इति वाच्यं, तथापि उक्तदोषानपायात्. तस्माद् [पा.भे.७] उक्तमेव कारणलक्षणम्.

कारणे (१)उपादानापरपर्याय-समवायि-(२)निमित्त-भेदात् द्वैविध्यम् :

तच्च कारणं द्विविधं : (१)समवायि- (२)निमित्त-भेदात्.

(१)तत्र तादात्म्यसम्बन्धेन [पा.भे.८] यदाश्रयं कार्यं भवति तत् समवायिकारणम्. समवायश्च तादात्म्यस्यैव नामान्तरम्.

वैशेषिकास्तु *अयुतसिद्धानाम् आधाराधेयभूतानाम् 'इह' प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवायः. यथा "इह तन्तुषु पटः" "इह पटे शुक्लत्वम्" "इह गवि गोत्वम्" इति कार्य-कारणयोः गुण-गुणिनोः सामान्य-विशेषयोः [टि.१] सच सर्वेषाम् एको नित्यो व्यापकः च* इति आहुः.

तद् अन्ये न क्षमन्ते—

तत्र **पार्थसारथिमिश्राः** *"इयं गौः" इति प्रत्ययात् "इह गोत्वम् अस्ति" इति प्रत्ययाभावात् च न पूर्वोक्तलक्षणः समवायः किन्तु येन सम्बन्धेन आधेयम् आधारे स्वानुरूपां बुद्धिम् आधत्ते, स्वाकारेण बोधयति इति यावत्, स सम्बन्धः समवायः* इति आहुः.

तत् चिन्त्यं, गुण-गुणिनोः क्रिया-क्रियावतोः यः सम्बन्धः तस्य असमवायत्वापत्तेः, गुण-क्रियाभ्यां स्वाकारेण गुण-क्रिया-वतोः अबोधनात् [टि.२].

---

१. जातिव्यक्त्योः इति अर्थः (अ आ). २. तथाच विकल्पद्वयेऽपि अव्याप्तिदोषाद् व्यापकत्वैकत्वप्रतिज्ञाभङ्गः इति अर्थः (अ आ).

अथ "अयुतसिद्धयोः यः सम्बन्धः स समवायः, अयुतसिद्धौ च तौ ययोः द्वयोः अनश्यद् एकम् अपराश्रितमेव अवतिष्ठते" इति, तदपि जघन्यं, तथा सति प्रलये जातिस्थितिः काले वक्तुम् अशक्या स्यात्, कालसमवेत-बुद्ध्यापादकत्वात्. नच *तत्र जातिः स्वरूपेण कालिकेन वा सम्बन्धेन तिष्ठति* इति वाच्यं, मानाभावाद्[टि.१] ॐ आहुः[टि.२].

श्रीहर्षमिश्रास्तु *अपराश्रितत्वं नाम अपरसम्बन्धित्वम्. तत्र को असौ सम्बन्धः, संयोगः समवायोः वा? न आद्यः, समवायापलापप्रसङ्गात्. न द्वितीयो, अपराश्रितत्वस्य समवायघटितत्वेन समवायिनिरूपणे आत्माश्रय[टि.३] प्रसङ्गाद्* आहुः.

वस्तुतस्तु कार्यमात्रस्य प्रलये नाशं वदद्भिः वैशेषिकैः तादृश-गुण-क्रिया-प्रतियोगिकस्य तादृश-व्यक्त्यनुयोगिकस्य च समवायस्य प्रतियोग्यादिनाशात् प्रमातृणां बाह्यकरणनाशात् च प्रतीत्यभावेन कालिकादिसम्बन्धेन कालादौ सत्तामपि उपपादयितुम् अशक्नुवद्भिः स्वमुखेनैव प्रतिज्ञा भज्यते[टि.४] इति ज्ञेयम्.

ब्रह्मसूत्रानुसारिणस्तु *यथा अयुतसिद्धयोः आधेयाधारयोः विशेषणविशेष्यभावोपपत्तये समवायो अङ्गीक्रियते तथा समवायस्यापि आधेयत्वेन विशेषणत्वात् तदर्थं सम्बन्धान्तरस्य समवायान्तरस्य वा अपेक्षायां तदनवस्थापत्तिः नित्यत्वहानिः अनित्यता[टि.५] च स्यात्. अनपेक्षायां समवायस्य असम्बद्धत्वप्रसङ्गः तथा सति असम्बद्धः कथं सम्बन्धिनौ सम्बन्धयेत्! स्वतएव स्वस्थितिनियमने तेनैव न्यायेन आधेयान्तरस्यापि स्थितिसिद्धौ समवायस्यैव असिद्धिः. नच *तस्य सम्बन्धत्वात्[पा.भे.९] स्वस्थितिनियामकत्वं सम्बन्धिनान्तु न तथा इत्यतो न दोषः* इति वाच्यं, संयोगस्यापि सम्बन्धत्वेन एतत्साम्यात् तस्यापि

१. तथाच अस्मिन् विकल्पे नित्यत्वप्रतिज्ञायाः असिद्धिः इति अर्थः (अ). २. के एवम् आहु; इति कर्तृस्पष्टता न भवति (श्या). ३. तथाच अनिर्वाच्यत्वाद् असिद्धिः इति अर्थः (अ आ). ४. तथाच वदद्व्याघातात् नित्यत्वप्रतिज्ञाभङ्गः इति अर्थः (अ आ). ५. तथाच असिद्धिः साधारोत्पत्तिनाशकृतम् उत्पत्तिशालित्वं नाशशालित्वं च इति अर्थः (अ आ).

असमवेतत्वापत्तेः. नच * तस्य गुणत्वात् तत्र अस्ति सम्बन्धान्तराकाङ्क्षाक्षा * इति वाच्यं, गुणपरिभाषायाः त्वत्तन्त्रमात्रशरणत्वेन[पा.भे.१०] इतरेषाम् अनादरणीयत्वाद् * इति आहुः.

अत्रैव अन्येतु * "अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः" इति वदता अयुतसिद्धत्वमेव पूर्वं साधनीयं, तत्तु कार्याभावे निरूपयितुमेव अशक्यम्, असत्कार्यवादे असतः कार्यस्य पश्चात् सत्ताङ्गीकारात्. तथा सति अपृथक्सिद्धत्वरूपस्य अयुतसिद्धत्वस्यैव पूर्वम् असिद्ध्या तदुपपाद्यस्य समवायस्यापि असिद्धिः. तस्य पूर्वम् उपगमे असत्कार्यवादभङ्गप्रसङ्गः. अथ उत्पत्तिरेव समवायः इति चेत्, तर्हि उत्पत्तेः अनित्यत्वात् समवायनित्यत्वहानिः, नित्यत्वेच कार्यनित्यत्वप्रसङ्गात् कारणव्यापारानर्थक्यम्. तस्मात् तादात्म्यलक्षण-एव कार्यकारणयोः सम्बन्धो, न समवायः * इति आहुः.

यत्तु "गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिः[टि.१] विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया, विशिष्टबुद्धित्वाद् दण्डपुरुषविशिष्टबुद्धिवद्"[पा.भे.११] इति अनुमानेन संयोगादिबाधात्, समवायं साधयन्ति, तदपि एतेनैव परास्तं, सिद्धसाधनत्वाद् अर्थान्तरत्वात् च. नच लाघवबलात् तत्सिद्धिः, पदार्थान्तरत्वेन प्रतिपाद्यमानस्य तस्यैव गुरुत्वात् प्रतिपत्तिसौकर्याभावात् च. अतो न समवायः तादात्म्यातिरिक्तः.

तादात्म्यञ्च भेदसहिष्णुरभेदएव. भेदसहिष्णुताच "बहुस्यां प्रजायेय" (छान्दो.उप.६।२।३-तैत्ति.उप.२।६) इति इच्छायां तद्व्यापारभूत-शक्ति-विभागेनेति न अत्र[टि.२] पूर्वोक्त-दोष-सञ्चारः, श्रुतिशरणत्वात् कल्पनायाः.

यद्वा "यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः" (भाग.पुरा.१०।८५।४) इति दशमस्कन्धीयवाक्ये 'यथा' पदोक्तप्रकारमध्ये तस्यापि निवेशयितुं शक्यत्वात्, सत्कार्यवादे कार्यस्य प्रलयेऽपि सत्त्वेन सम्बन्धिद्वयसत्त्वात् च नित्यसम्बन्धरूपस्य समवायस्य

१. 'आदि'पदेन सामान्यस्यापि संग्रहः (क). २. सत्कार्यवादाङ्गीकारेऽपि कारणेन कार्यस्य व्यवहारयोग्यतासम्पादनात् न तद्व्यापारानर्थक्यमिति अतिरेकाभावात् च न गौरवम् इति अर्थः (अ).

अतिरिक्तत्वाङ्गीकारेऽपि अदोषः[टि.१]. नच सूत्र(ब्र.सू.२।२।१२-१३)विरोधः, तत्र वैशेषिकादिप्रतिपन्नस्यैव दूषणेन अविरोधात्[पा.भे.१२].

एवञ्च अस्मिन् मते रूपादीन् प्रति न घटादिद्रव्यस्य कारणता, प्रमाणाभावात् किन्तु समानकालीनत्वमेव दृष्टानुरोधाद् बोध्यम्.

यत्तु *पूर्ववर्तित्वं कारणलक्षणं स्वीकृत्य रूपादीन् प्रति द्रव्यस्य कारणत्वाय प्रथमे क्षणे[पा.भे.१३] घटादेः निर्गुणत्वं स्वीकुर्वन्ति*, तद् असङ्गतम्.

तथाहि : प्रथमे क्षणे किं कपालादिगुणाः (१)नश्यन्ति उत (२)तिष्ठन्ति ?

(१)न आद्यः, कारणगुणानां नष्टत्वे कार्यगुणानारम्भापत्तेः, क्लृप्त-पाकादिरूप-नाशक-सामग्र्यभावे तन्नाशस्यापि अशक्यवचनत्वात् , पीततन्तुभिः श्वेतपटापत्तेः च पीतस्यैव भवने नियामकाभावात्. नच *अदृष्टमेव तथा[पा.भे.१४]* इति वाच्यं, तेनैव निर्वाहे कारणरूपस्य कारणताभङ्गात् , नीरूपादपि सरूपोत्पत्त्यापत्तेः च.

(२)न द्वितीयः, सत्सु तेषु कार्यगतगुणानारम्भे हेत्वभावाद् इति दिक्. प्रथमे क्षणे परमसूक्ष्मो घटः उत्पद्यते इत्यपि असङ्गतम्.

अत्र **सांख्याः** *प्रथम[पा.भे.१५]क्षणे घटः, (१)परमाणुः वा, (२)महान् वा, (३)उभयविलक्षणो वा? न आद्यः, निरवयवत्वापत्तेः. न द्वितीयो, गुण-गुणिनोः एककालोत्पत्तिप्रसङ्गात् , ''परमसूक्ष्मो घटः'' इति प्रतिज्ञाविरोधात् च; अनेककपालेषु समेवतो घटः परमसूक्ष्मः इति अहृदयंगमश्च. न तृतीयो, अप्रसिद्धेः. नच *गुणगुणिनोः जन्यजनकत्वानुरोधेन एवं कल्पना* इति वाच्यं, समानकालोत्पत्तिवादिनं प्रति जन्यजनकभावस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्.

१. ''समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः (ब्र.सू.२।२।१३) इति सूत्रविरोधः. अत्र ''उभयथापि न कर्मातस्तदभावः'' (ब्र.सू.२।२।१२) इति पूर्वसूत्रात् 'तदभावः' इति अनुवर्तते. सच 'च'कारान्तेन सम्बध्यते[आ].

नच * समानसामग्रीकत्वेन कार्यकारणयोः अभेदापत्तिः * इति वाच्यं, तन्तुरूपादेः पटाजनकतया रूपजनकत्वेन सामग्रीभेदात्. नच * एतस्मिन् मते किं समवायिकारणम्! * इति वाच्यं, पटएव. नच * कारणत्वाभावे कथं समवायिकारणत्वम् * इति वाच्यं, स्याद् एवं, यदि समवायिकारणत्वं कारणताविशेषः स्यात्. नच एवं किन्तु कार्यसमवायित्वमेव * इति आहुः.

तथाच एतन्मते कारणैकविध्यमेव, समवायश्च स्वरूपसम्बन्धविशेषएव, कार्यञ्च अवस्थाविशेषएव इति.

सिद्धान्तेतु पूर्वोक्तेच्छया लोकेऽपि कारणत्वं समवायिनः निर्बाधम्, आविर्भावकशक्त्याधारत्वस्य कारणलक्षणस्य तत्रापि अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्, पुत्रादौ जन्यत्वस्य शास्त्रसिद्धत्वात् च इति. उपादानन्तु समवायिनएव अवस्थाविशेषः, परिच्छिन्नस्य कर्तृक्रियया व्याप्तस्यैव मृत्पिण्डसूत्रादिरूपस्य पृथिव्यंशस्यैव घटपटाद्युपादानत्वदर्शनात्. अन्यथा पृथिवीत्वाविशेषात् पिण्डादिरूपताभावेऽपि घटादिः उत्पद्येत. अतएव[टि.१] भगवान् अविकृतएव जगतः एकांशेन समवायी. सएव पुनः, क्वचित् कालरूपं क्वचित् प्रकृतिरूपं, स्वांशम् उपादानं करोति इति "प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम्" (भाग.पुरा.११।२४।१९) इति, "गुणव्यतिकराकारो[टि.२] निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयाऽसृजत्, विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया, ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्त्तिना" (भाग.पुरा.३।१०।११-१२) इत्यादिवाक्याद् अवसीयते. तच्च लोकेऽपि एकस्य एकमेव नतु अनेकम्. अन्यथा कारणगुणानां कार्यगुणोत्पादकत्वनियमात् कार्यस्य अनेकत्वापत्तेः. शरीरादिष्वपि भूतसमुदायस्य एकस्यैव[पा.भे.१६] हेतुत्वं जन्यद्रव्य[पा.भे.१७]त्वाव-च्छिन्नं प्रति तद्-योग्यावयव-स्थूलांशत्वेनैव अनुगता कारणता, नतु स्पर्शवत्त्वेन. आकाशे व्यभिचारात् आकाशाद् वायूत्पत्तेः श्रौतत्वात्. नच निमित्तत्वं, पुराणोपबृंहणविरोधात्. अतएव न आरम्भवादोऽपि. इदञ्च यथा तथा प्रपञ्चभेदवादे व्युत्पादितम् अस्माभिः.

१. परिच्छिन्नत्वाद्यभावादेव इति अर्थः (अ आ). २. परस्परं मेलनमेव आकारो यस्य (अ).

तत्र क.उपादानकारणस्य द्वैविध्यम् :

उपादानञ्च द्विविधं : (क)परिणाम्युपादानं (का)विवर्तोपादानं च. तत्र आद्यं (क)स्वसमानसत्ताक-कार्याकारेण आविर्भवति. परिणामश्च उपादानसमसत्ताको अन्यथाभावः.

सो द्विविधो : (क/१)अविकृतो (क/२)विकृतः च. तत्र आद्यो (क/१)यथा सुवर्णस्य कटककुण्डलादिः. द्वितीयो (क/२)यथा मृदो[टि.१] घटशरावोदञ्चनादिः, यथा च मनसो(? बुद्धेः !) वृत्तिरूपं ज्ञानम्.

(का)उपादानविषमसत्ताको अन्यथाभावो विवर्तः. सतु एकविधएव यथा रजतादिरूपेण बुद्धेः ख्यानम्.[टि.२]

ख.तत्र निमित्तकारणस्य स्वरूपम् :

(ख)समवायिकारणभिन्नं यत् कारणं तत् निमित्तकारणं; यथा, घटस्य कुलाल-चक्र-चीवर-दण्डादिकं, तुरीवेमादिकं पटस्य, विषयेन्द्रियव्यापाराः ज्ञानस्य.

पुनरपि प्रकारान्तरेण कारणताद्वैविध्यनिरूपणम् :

कारणताच द्विविधा : (१)एका दण्डचक्रादिन्यायेन सामग्रीकारणता

१. पाकसम्बन्धतया विकारित्वम् इति (आ) अथवा दुग्धद्राक्षादेः दधिमद्यादिभावः (ग्या). २. इदम् अत्र अवधेयं भवति : निश्चयाकारिकायाः हि बुद्धिवृत्तेः यथा स्वपरिणाम्युपादानभूतबुद्धिसमसत्ताकत्वं तथैव भ्रमाकारिकायामपि वृत्तौ सम्भवति नवा? न चेद् 'बुद्धिवृत्तित्वो'क्तिः निरर्थिका. सम्भवति चेत्, तदा बुद्धेः परिणाम्युपादानत्वं व्यामोहकमायायाः च निमित्तत्वम्; उत, तादृङ्मायायाः परिणाम्युपादानत्वं बुद्धेस्तु मायिकारोपविवर्तोपादनमात्रत्वमेव? आद्ये पारमार्थिकबुद्धिपरिणामत्वेन भ्रमवृत्तेः तद्विषमसत्ताकान्यथाभावानुपपत्तिः. द्वितीये बुद्धिरूपविवर्तोपादाने आरोपितायाः मायिकपरिणामरूपायाः च भ्रमवृत्तेः, व्यामोहकमायायाअपि पारमार्थिकत्वेनैव, तथाभावानुपपत्तिः तदवस्थैव. शुक्ति-तद्देश-तत्कालेषु तदन्यरजतावभासिकायाः बुद्धिवृत्तेः बाधज्ञानोत्तरकालिकं शुक्त्यादिनिरूपितप्रातिभासिकासत्त्वमपि न विषमसत्तेति वक्तुं शक्यं किन्तु प्रतीयमानारोपस्य बाधज्ञानोत्तरं प्रतिभासिकासत्त्वमेव तदिति न तेनापि विषमसत्ताकत्वलक्षणसङ्गतिः. सर्वथा हच्यसतः प्रतिभासासम्भवेऽपि क्वचिद् विद्यमानस्य अस्वीयदेशकालोपाधिकन्तु प्रातिभासिकम् असत्त्वं स्वीकरणीयमेव. तस्मात् परमतप्रसिद्धपरिभाषया परः प्रबोधनीयः इति न्यायानुसरणमेव अत्र ग्रन्थकृच्चिकीर्षितं प्रतिभाति. तत्र 'विषमसत्ताकत्त्वां'शः परमतपरिभाषा, 'रजतादिरूपेण बुद्धेः ख्यानम्' इतितु स्वमतम् इति विवेकः(ग्या).

(२)तृणारणिमणिन्यायेन प्रत्येकपर्यवसायिनी द्वितीया.

तन्तुद्वयसंयोगादिकञ्च सामग्र्यामेव प्रविशतीति न असमवायित्वेन अतिरिक्ता कारणता तस्य कल्पनीया, प्रयोजनाभावात्. तस्माद् द्विविधमेव कारणम्.

कारणताग्राहकयोः अन्वय-व्यतिरेकयोः निरूपणम् :

कारणताग्राहकौच अन्वयव्यतिरेकौ; तौच द्विविधौ, तत्र —

(१)स्वस्वव्याप्येतर-यावत्कारण-सत्त्वे — यत्सत्त्वे अवश्यं यत्सत्त्वम् अन्वयो.

(२)यदभावे अवश्यं यदभावो व्यतिरेकः.

इति

(१)एका विधा कारणतामात्रग्रहणे उपयुज्यते. अन्वयनम्[पा.भे.१८] अन्वयः, "एरच्" (पाणि.सू.३।३।५६) इत्यनेन भावे 'अच्', कार्येण सह तदवयवादिरूपेण अवस्थानम्.

(२)विशेषण अतिरेचनं[पा.भे.१९] व्यतिरेकः, कार्यातिरेकेण अवस्थानम् इति द्वितीया विधा.

इमौच उपादानत्वग्रहणे कृत्स्नप्रसक्तिवारणे च यथायथम् उपयुज्येते अतो न शङ्कालेशः.

करणत्वौपयिकव्यापारस्वरूपम् :

कारणेन कार्यजनने यद् अन्तरा अवश्यम् उपयुज्यते स व्यापारो; यथा, तन्तुद्वयसंयोगः तुरीतन्तुसंयोगः च तन्तुतुर्योः. यथाच विषयेन्द्रियसंयोगः इन्द्रियाणाम्. यथा द्रव्येण प्रीता देवता, देवताप्रीतिः वा यागस्य. नतु तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः, समवायादौ व्यभिचारात्[टि.१]. असाधारणत्वञ्च

१. समवायस्य नित्यत्वेन जन्यत्वाभावात्(आ).

अत्र कार्योत्पादनकाले तदनुकूल-व्यापारातिरिक्त-व्यापार-रहितत्वं बोध्यम्. ईश्वरेच्छादीनाम् इतरव्यापार-राहित्याभावात् न तत्र अतिव्याप्तिः. विषयस्य समवायिनः च अकरणत्वविवक्षायान्तु 'तद्भिन्नत्वं' विशेषणीयम्.

केचित्तु * कार्यत्वावच्छिन्न-कार्यतानिरूपितकारणता-शून्यत्वम् असाधारणकारणत्वम्* आहुः.

अन्येतु * कार्यत्वानवच्छिन्न-कार्यतानिरूपित-कारणताश्रयत्वं तद्* इति आहुः.

तत्र न अस्माकम् आग्रहः. इति व्यवसितं[पा.भे.२०] करणम्.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदे प्रमाकरणस्वरूपनिरूपके कल्लोले करणकारणसामान्यस्वरूपनिरूपकः

आद्यः तरङ्गः समाप्तः

पाठभेदावली

१. व्यापारवदसाधारणकारणम् इति **आ ख** पाठः. २. आविर्भावशक्त्याधारत्वम् इति **क** पाठः. ३. उपादानस्य कार्यम् इति **ख** पाठस्तु अशुद्धः. ४. तत्तच्छक्तिकत्वम् इति **क** पाठः. ५. तद्, अभावे 'अपि' इति **ग** पाठएव नान्येषु. ६. मूलकारणे आकाशादौ च व्यभिचाराद् इति **अ क ग घ ङ च** पाठेषु. मूलकारणे आकाशादौ अव्याप्तेः इति **आ ख** पाठयोः ७. 'तस्माद्...लक्षणम्' इत्येतावती पंक्तिः **अ क** पाठयोः नोपलभ्यते **आ** पाठशोधनिका **ख** आदिपाठेषु उपलभ्यते. ८. विलक्षणतादात्म्यसम्बधेन इति **अ क च** पाठेषु **आ** पाठे 'विलक्षण'शब्दो निरस्तः. ९. सम्बद्धत्वाद् इति **क** पाठः. १०. त्वतन्त्र इति **क** पाठस्तु अशुद्धएव. ११. दण्डिपुरुषविशिष्टबुद्धिवद् इति **क** पाठः. १२. अत्र **क** पाठे क्रमव्यत्यो जातः (१)''सत्कार्यवादांगीकारेऽपि कारणेन कार्यस्य व्यवहारयोग्यतासम्पादनात् न तद्व्यापारानर्थक्यम् अतिरेकाभावात् च न गौरवम् इत्यर्थः'' इति **अ** पाठीया पादटिप्पणी (२)''यद्वा 'यत्र...पुरुषेश्वरः'...दूषणेन अविरोधात्'' इति **अ** पाठीयसंशोधनिका च एतयोः पौर्वापर्यव्यत्ययो **अ** पाठानुरोधेन पुनः यथोचितविन्यासेन अस्माभिः दूरीकृतः १३. प्रथमे क्षणे इति **ख** पाठः. १४ नच अदृष्टमेव 'तथा' इति **ख** पाठे नोपलभ्यते. १५. प्रथमे इति **ख** पाठः. १६. एकस्यैव

इति **आ ख** पाठयोः १७. अन्यद्रव्य... इति '**ख** पाठस्तु अशुद्धः. १८. 'अन्वेतीति' अन्वयः...'भावे अक्' इति **क च** पाठयोः. १९. विशेषण 'अतिरिच्यते' इति **क च** पाठयोः. २०.अवसितम् इति **घ च** पाठयोः.

❊ शाब्दप्रमाकरणनिरूपको द्वितीयः तरङ्गः ❊

वेदात्मकशब्दस्य सकलप्रमाणमूर्धन्यत्वम् :

एवंहि[पा.भे.१] सिद्धे करणे यत् पूर्वोक्तप्रमां प्रति ॥
करणं तत् प्रमाणं तन्मूर्धन्यो वेदएव हि ॥१॥
अर्थेन नित्यसम्बन्धात् तज्ज्ञानाव्यभिचारतः[टि.१] ॥
लोकानधिगतार्थस्य गन्तृत्वात् नास्य लोकतः ॥२॥
तदर्थावगतेर् बाधस् तेन मूर्धन्यतास्य वै ॥
वैयासे दर्शने ब्रह्मप्रमितेः करणं श्रुतिः ॥३॥
तन्मूलमन्यत् सन्देहहृत्या तत्सहकारिताम् ॥
यातीति "शास्त्रयोनित्वाद्" इत्यत्रैवं विनिश्चितम् ॥४॥
तेनान्यत्र प्रमाणत्वम् अन्येषां न विरुद्ध्यते ॥
एवमेव निबन्धेऽपि बुध्यतामाशयोऽपि च ॥५॥
मानान्तरोपजीव्यानाम् इन्द्रियाणां प्रमाणता ॥
सत्त्वयोगाद् ऋते नास्ति तेनाचार्यैरनादृता ॥६॥
प्रमाणगणना लोक-व्यवहार-प्रयोजना ॥
ततः शब्दाविरुद्धा सादरणीयेति सूचिता ॥७॥
अतोऽत्र व्यवहारे यः स्वप्रस्थानसमाश्रितः ॥
विशेषस्तस्य बोधार्थम् आदर्तव्यैव सा ततः ॥८॥
"श्रुतिप्रत्यक्षमैतिह्यम् अनुमानं चतुष्टयम् ।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते ॥"[टि.२]
"श्रुतिप्रत्यक्षमैतिह्यम् अनुमानं चतुष्टयम् ।
एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते ॥"[टि.३]
एवमेकादशस्कन्धे श्रुतौ यद् विनिरूपितम् ॥
तदाश्रित्य मयात्रैतद्[टि.४] उच्यतेऽतो न दूषणम् ॥९॥

---

१. तज्जन्यज्ञानस्य अर्थाव्यभिचारित्वाद् इति अर्थः(अ आ). २. भाग.पुरा. ११।१९।१७.(-श्या). ३. "स्मृतिप्रत्यक्षे"त्यादि पाठान्तरेण सह तैति.आर.१।२।१(श्या) ४. गणनम् इति अर्थः(अ).

तत्रैतिह्यं स्मृतिः पूर्ववृत्तस्मृत्या निरूपणात्॥
सूत्रेष्वपि प्रमाणोक्तौ स्मृतेरेवादरादपि॥१०॥
शेषं यथास्थितं यानि तूपमानादिकानि वै॥
तान्यनुग्राहकाण्येव तेन दोषो न कश्चन॥११॥
सर्वाण्येव प्रमाणानि सत्त्वमेव कथञ्चन॥
उपजीवन्ति तद्धेतौ कथितः पूर्वमागमः॥१२॥
उक्तवाक्ये श्रुतिस्तस्मात् शब्दः पूर्वं निरूप्यते॥
येन ज्ञाते परिकरे मुख्यत्वागतिः श्रुतेः॥१३॥
तस्याविरोधएवान्यप्रामाण्यं नान्यथा ततः॥

* ननु बाधयोग्य-व्यतिरिक्त-ज्ञान-जनकं सत्त्वं योगादिनापि जन्यतइति कथं वेदस्यैव मुख्यत्वम् * इति चेत्, न, तेषामपि वेदमूलत्वाद्, अवेदमूलानाम् अप्रमाणत्वाद्, "विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्" (भाग.पुरा.२।४।१४) इत्यादिवाक्याद् योगिनाम् ऋषीणामपि परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात् च. अतो वेदएव प्रमाणम्. सच आप्तोपदेशरूपः. आप्तश्च यथास्थितार्थवादी. स लौकिका-लौकिकभेदेन द्विविधः. तत्र अस्मदादिः लौकिको, अलौकिकस्तु ऋषीन् आरभ्य ईश्वरपर्यन्तः. उत्तरोत्तरञ्च एषाम् आप्तताधिक्यात्, परमाप्तत्वम् ईश्वरे पर्यवस्यतीति तदुपदेशरूपो वेदएव अनपेक्ष्य प्रमाणम्.

<u>शब्दप्रामाण्यविचारः</u> :

* ननु आप्तोपदेशस्य तेन रूपेण प्रामाण्ये सिद्धे वेदस्य परमप्रामाण्यं सिद्ध्येत्. तदेव तावद् असिद्धं, पदानाम् उपनायकत्वेन श्रोत्रादेव शाब्दसिद्धेः, शब्दस्य प्रमाणान्तरत्वकल्पनायाः अन्याय्यत्वाद्, अन्वयबुद्धेः लिङ्गजन्यत्वेन अनुमितावपि निवेशस्य शक्यत्वात् च. नच * शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधानात् तस्य कारणत्वम् * इति वाच्यं, हेतुशरीरघटकत्वेन हेतुत्वेन वा अनुविधानोपपत्तेः तस्यापि अतिरिक्त-कारणता-ग्राहकत्वेन मानाभावात्. अतो वेदस्य न पृथक् प्रामाण्यमिति दूरनिरस्तं परमत्वम् * इति चेद्.

अत्र आहुः **नैयायिकाः** * शब्दः पृथगेव मानं, ''गौः अस्ति'' – ''घटम् आनय'' इत्यादौ स्वस्ववृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थित्यनन्तरं गवादौ अस्तित्वाद्यन्वयविषयस्य विलक्षणबोधस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां आकाङ्क्षादिमच्छब्दकारणकस्य उपनीतभानत्वायोगाद्. अशक्यस्यापि अन्वयस्य पदैः उपस्थापने 'अश्व' पदाद् गोरपि उपस्थापनापत्त्या अतिप्रसङ्गापत्तेः. नच * अन्वयबोधो नास्त्येवेति वृथा अयं प्रयासः * इति वाच्यं, विशिष्टबुद्धेः आनुभविकत्वेन तदभावे अनुभवविरोधापत्तेः तस्य तत्साधकत्वानङ्गीकारे अनुमितेरपि अपलापापत्तेः. नापि * सः स्मृतिरूपएव * इति युक्तम्, अनुव्यवसाय[टि.१] विरोधात्, समानाकार[टि.२] संस्कार[टि.३] जन्यत्वेन स्मृतित्वस्य अशक्यवचनत्वात् च. नापि साक्षात्कारः, साकाङ्क्षपदानामिव अन्यस्यापि[टि.४] उपनायकत्वस्य शक्यवचनत्वेन तदुपस्थापितस्यापि[टि.५] उपनयमर्यादया भानापत्तेः. नच इष्टापत्तिः, अनुभवविरोधापत्तेः[टि.६]. तत्तदर्थ[टि.७]-विषयक-शाब्द-बुद्ध्यनुव्यवसायं प्रति शाब्दबुद्धेः तत्तदर्थक-साकाङ्क्ष-पद-जन्य-तत्तदर्थ-गोचर-शाब्दत्वेन विषयविधया हेतुताकल्पने अतिगौरवात्[टि.८]. इतर-बाध-लब्ध-च्छिद्रेतरत्वादेः अपदार्थस्यापि शाब्दबोधे अवगाहात्, प्राप्तस्य तद्विषयकानुव्यवसायस्य बाधप्रसक्तेः, गवादौ अस्तित्वादेरिव अस्तित्वादौ गवादेरपि भानप्रसङ्गस्य तावतापि अनुद्धारात् च. किञ्च, शाब्दधियः प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमे पदार्थान्वयबोधदशायाम् अपदार्थानामपि स्वसामग्रीबलेन प्रत्यक्षत्वापत्तिः, प्रत्यक्षसामान्यं प्रति शाब्दसामग्र्याः प्रत्यक्षसामग्रीकोटिनिविष्टतया प्रतिबन्धकत्वासम्भवात्. नच * शाब्दान्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति तस्याः तथात्वकल्पनात् न दोषः * इति

---

१. ''वाक्याद् गोसत्तां प्रत्येमि'' — ''घटानयनं प्रत्येमि'' इत्येव अनुव्यवसायो, नतु 'स्मरामि' इत्यतः तथा इति अर्थः(अ). २. क्वचिद् वाक्यात् स्मरणस्य सम्भवेन अनुव्यवसायाविरोधम् आशङ्क्य हेत्वन्तरम् आह ''समान...'' इत्यादि. इदम्प्रथमतया श्रुतस्य शाब्दे व्यभिचाराद् उक्तस्थले शब्दस्य उद्बोधकत्वेनैव प्रवेशः इति भावः(अ). ३. शब्देन गोऽस्तित्वयोः घटकर्मत्वानयनानामेव उपस्थित्या तद्विषयकस्यैव संस्कारस्य जनने अन्वयविषयकस्य अजननाद् इति भावः(क ग). ४. हेतोः संस्कारस्य च(ग), धूमादिहेतोरपि इति अर्थः(अ). ५. वह्न्यादेः इति अर्थः(अ). ६. ''वह्निम् अनुमिनोमि'' इत्येव नतु 'जानामि' इत्यतः तथा इति अर्थः(अ), 'अनुमिनोमि'-'स्मरामि' 'शब्दात्-प्रत्येमि' इत्याद्यनुव्यवसायविरोधापत्तेः इति अर्थः(आ ग). ७. शाब्दे 'जानामि' इति अनुव्यवसायात् न विरोधः इत्यतः आह तत्तद् इति(अ). ८. शाब्दबुद्ध्यनुव्यवसायं प्रति शाब्दबुद्धेः शाब्दकरणकज्ञानत्वेन विषयविधया हेतुतापेक्षया इति अर्थः(अ आ).

वाच्यं, गुरुत्वात् , तदपेक्षया शाब्दधियः प्रत्यक्ष-भिन्नत्व-कल्पनायामेव लाघवात् च. तस्माद् न अन्वयबुद्धेः प्रत्यक्षरूपत्वं, नापि अनुमितिरूपत्वम्, अलिङ्गजन्यत्वात्. नच * ''गौः अस्ति'' इति वाक्याद्, ''गौः अस्तित्ववान् तद्योग्यत्वाद् घटवद्'' इति बाधरहितत्वरूपा योग्यतैव लिङ्गम् * इति वाच्यम्, अज्ञातायाः अनुपयोगात्, स्वरूपसत्याः तस्याः अकारणत्वेन तज्ज्ञानस्यैव लिङ्गतायाः वाच्यत्वात्, तस्यच [पा.भे.२] बाध-निश्चयाभाव-मात्र-सम्पादने [पा.भे.३] उपक्षयेन लिङ्गतायाः अशक्यवचनत्वात् योग्यतामात्र-लिङ्गकस्य [पा.भे.४] संसर्गानुमानस्य अन्वयबुद्धित्वे ''घटः कर्मत्वम्'' इत्यादिस्थलीयस्यापि तस्य तथात्वापातात् योग्यतायाः संशयेऽपि अन्वयबुद्धेः आनुभविकत्वाद् अनुमितित्वस्य अशक्यवचनत्वात् च. नच * ''गौः अस्तित्ववान् स्वधर्मिकास्तित्वान्वय-बोधानुकूलाकाङ्क्षाश्रय-पदस्मारितत्वाद् घटवद्, 'गोः'इति पदम् अस्तित्वमद्-गो-ज्ञानपूर्वकम् 'अस्ति' पदसाकाङ्क्ष-'गो' पदत्वाद्, यन्नैवं तन्नैवम् आकाशवद्'' इति तत्तपदार्थपक्षक-पदपक्षकानुमानाभ्याम् अनुमितित्वसिद्धिः * इति युक्तं, हेतुशरीरप्रविष्टायाः आकाङ्क्षायाः अन्वयबोधानुकूलानुपूर्वी-पर्यवसितत्वेन अन्व-यबोधसिद्धेः पूर्वम् असिद्धत्वात् तादृशशरीरकहेत्वसिद्धेः. एतेनैव * '' 'चैत्रदण्डेन [पा.भे.५] गाम् अभ्याज' इत्यादि-वाक्य-श्रवणोत्तरं एते पदार्थाः मिथः संसर्गवन्तः आकाङ्क्षादिमत्-पदकम्बक-स्मारितत्वात् 'गेहे घटो अस्ति तम् आनय' इतिपद-कदम्बक-स्मारित-पदार्थ-सार्थवत्'' ''उक्तरूपाणि पदानि वैदिकपदानि वा तात्पर्य-विषय-स्मारित-पदार्थ-संसर्ग-ज्ञान-पूर्वकाणि आकाङ्क्षा-दिमत्-पद-कदम्बकत्वात् 'घटम आनय' इति पदकदम्बवद्'' इत्यादिकम् * अपास्तं, तादृशव्याप्तिज्ञानं विनापि शाब्दबोधस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात् च. नच * तत्र व्याप्तिज्ञानं कल्पनीयम् * इति वाच्यं, सर्वत्र शब्दश्रवणोत्तरं व्याप्तिस्फूर्तौ मानाभावात्, सर्वत्र शब्दस्थले व्याप्तिज्ञानकल्पनवत् सर्वत्र अनुमितिस्थले पदज्ञानं कल्पयित्वा शाब्दबोधस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वात् च, पृथगेव शब्दस्य प्रामाण्यम् * इत्यादि [पा.भे.६] आहुः.

वस्तुतस्तु सादिसृष्टिवादिनो वैशेषिकस्यसर्गादौ प्राथमिकवाक्यम् आकलयतः शाब्दबोधदशायां पदकम्बकान्तरस्य अनुत्पन्नत्वेन पदपक्ष

कानुमाने सपक्षाभावात् पदार्थपक्षकानुमानेऽपि विशेषणाभाव-प्रयुक्त-तदभावात् शाब्दबोधएव एवं दुर्लभइति मूले कुठारः. अथ तत्र विधान्तरेण बोधः, तर्हि आवश्यकत्वात् सैव अस्तु, कृतम् अनया. अथ तदा वाक्यान्तरम् उत्पन्नम् उच्यते, तदापि परस्परसामग्र्या प्रतिबन्धेन युगपद् अनेक-वाक्य-ज्ञानाभावात् सएव दोषः. अथ तत्र प्राथमिकवाक्यात् न शाब्दबोधः किन्तु शक्तिग्रहप्रणाड्या कतिपयवाक्यैः आवापोद्वापाभ्यां शक्तिग्रहे बोधः, तदापि शक्तिग्रह-समकालं चेद् अन्विताभिधानपक्षापत्त्या सिद्धान्तहानिः हेत्वसिद्धिश्च, आकाङ्क्षायाः अज्ञातत्वात्. शक्तिग्रहोत्तरम् आकाङ्क्षादौ ज्ञाते चेत्, तदापि आकाङ्क्षा-स्वरूप-ज्ञापनाय आकाङ्क्षापदशक्तिं ग्राहयतां पदानां शब्दत्वेनैव कारणतायाः कल्पनीयत्वात्, तथा कारणतायाः लघुत्वात् च. शाब्दबोधेऽपि तत्वेनैव कारणत्वस्य झटिति स्फूर्तिः, न अनुमानत्वेन, गुरुत्वाद् अक्लृप्तत्वात् च. एवञ्च प्रमाणान्तर-कल्पनापेक्षया बोधविलम्ब-कल्पनमेव ज्यायः इत्यपि निरस्तं, विलम्बस्य अनुभवविरुद्धत्वाद् इति दिक्. अतः पृथगेव शब्दः प्रमाणम् इति स्थितम्.

शब्दप्रत्यक्षयोः मिथो विरोधे प्रामाण्यव्यवस्था :

ननु अस्तु प्रमाणान्तरत्वं, तथापि प्रत्यक्षविरुद्धं शब्दशतेनापि न प्रमातुं शक्यते, प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् शब्दस्य. अन्यथा प्रतारकवाक्यस्यापि प्रामाण्यापत्तेः. किञ्च स्वस्वरूपलाभेऽपि शब्दः श्रोत्रसापेक्षो, अतः प्रत्यक्षस्यैव मुख्यत्वम् उचितं न शब्दस्य इति चेत्, न, स्वरूपलाभे श्रोत्रसापेक्षत्वेऽपि प्रामाण्यांशे तदनपेक्षत्वात्. श्रुतमात्रेण शब्देन चक्षुरादिकम् अनपेक्ष्यैव पदार्थोपस्थापनात्. नापि प्रत्यक्षोपजीवकत्वं, वेदे तदभावात्, लोकानधिगतस्यापि विषयस्य धर्मादेः बोधनात्. नच *सोऽपि योगिनाम् ऋषीणां प्रत्यक्षः* इति वाच्यं, मानाभावात्. योगादौ धर्मादिप्रत्यक्ष-जननसामर्थ्यस्य मानान्तरेण अज्ञातत्वात् तदर्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तेः च. नच *अदृष्टादेव प्रवृत्तिः* इति वाच्यं, सत्कर्मकरणमन्तरेण तस्यैव अनुत्पत्तेः, आदिसर्गे परम्परायाः वक्तुम् अशक्यत्वाद्, अनादिसर्गवादे अपौरुषेस्य वेदस्यैव धर्मप्रमितिजनकत्वस्वीकारात् च. नापि स्वभावात् प्रवृत्तिः, तस्यापि मूलविमर्षे वेदएव विश्रान्तेः. नच

* ईश्वरेच्छया * इति युक्तं, शब्दं विना तस्यैव असिद्धेः. नच कार्यत्वादि-लिङ्गकानुमानेन तत्सिद्धिः, बीजाङ्कुरदृष्टान्तेन हेतोः साधारणत्वाद्, इति अन्यत्र विस्तरः.

अतो लौकिकव्यवहारसाधकस्यैव शब्दस्य प्रत्यक्षोपजीवकत्वं न वेदस्येति तत्र प्रमाणमूर्धन्यत्वं निर्बाधम्. नच *ईश्वरजन्यत्वाद् ईश्वरप्रत्यक्षोपजीवकत्वं वेदस्य* शङ्क्यम्, अबुद्धिपूर्वमेव तदभिव्यक्तेः. नच * अत्र मानाभावो, 'निश्वसित'-श्रुतेः[टि.१], "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन..." (भाग.पुरा.२।२।३४) इति अन्वीक्षा-बोधक-वाक्यात् च. अन्यथा तदनुपपत्तेः. अतो लोकानधिगतार्थगन्तृ-त्वात् तदर्थस्य प्रमाणान्तराबाध्यत्वेन नित्यम् अर्थेन सह सम्बद्धत्वेन च वेदात्मकशब्दस्यैव मूर्द्धन्यत्वम् उचितं, न अन्यस्य इति निश्चयः.

शब्दार्थ-सम्बन्ध-स्वरूपविचारः :

इदञ्च तस्य द्वेधा प्रामाण्यं शब्दस्य "औत्पत्तिक..."[टि.२] (जैमि.सू.१।१।५) सूत्रविमर्शाद् अवसीयते. तेन अत्र शब्दार्थ-तत्सम्बन्धाः क्रमेण परीक्षणीयाः, तथापि शब्दे विचारबाहुल्याद्, व्यासपादैः सर्ववेदार्थरूपस्य ब्रह्मणएव पूर्वं विचारितत्वात् सम्बन्धे विचारस्य अल्पत्वात् च प्रतिलोम्येनैव विचार्यते.

तत्र *अर्थानाम् उत्पत्ति-नाश-शालित्वाद्, 'देवदत्ता'दिनाम्नां च जननोत्तरमेव सम्बन्धदर्शनात्, तन्न्यायेन अन्यत्रापि तथैव सिद्धेः, न पूर्वोक्तं साधीयः * इति **नैयायिकादयः** प्रत्यवतिष्ठन्ते.

---

१. "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदः...निःश्वसितानि" (बृह.उप.२।४।१०) (ग्या).

२. **'अर्थेन'** अग्निहोत्रादिना सह **'शब्दस्य'** विधिवाक्यस्य यः **'सम्बन्धो'** वाच्यवाचकत्वल-क्षण स **'औत्पत्तिकः'** सहजः. तत्र मानं **'तस्य'** इत्यादि, **'तस्य'** अग्निहोत्रादेः धर्मस्य **'ज्ञानं'** ज्ञानसाधनम् **'उपदेशो'** विधिवाक्यम्. सम्बन्धस्य असाहजिकत्वे युक्तिः **'अव्यतिरेकः'** इत्यादि, शब्दार्थव्यवहारस्य अव्यतिरेकः सर्वदा तादृशव्यवहारदर्शनात्. युक्त्यन्तरम् **'अनुपलब्धेः'** प्रत्यक्षाद्यनुपलब्धेः वा इति. अतो न तत्र पुरुषप्रवेशो भवति इति अर्थः. **'तद्'** अग्निहोत्रादिज्ञानं **'प्रमाणं'** यर्थाथम्. तत्र हेतुः **'अनपेक्षत्वाद्'** अपौरुषेयत्वेन चोदनायाः प्रमाणान्तरानपेक्षत्वात्. **'बादरायण'** ग्रहणं पूजार्थं, तेन स्वगुरुमते स्वमते च स्वतःप्रमाणत्वं शब्दस्य इति अर्थः(क).

अत्र **जैमिनीयाः** * शब्दार्थयोः कः सम्बन्धः ? इति जिज्ञासायां न तावत् संश्लेष-तादात्म्य-समवाय-संयोगाः[टि.१] 'क्षुर'-'मोदक'शब्दोच्चारणे, मुखपाटनपूरणाद्यापत्तेः. नापि ऐक्यं प्रतीतिविरोधाद्,

"अन्यथैवाग्निसंयोगाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते।
अन्यथा 'दाह'शब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते॥"

(वाक्पदी.२।४१८)

इति प्रतीतिभेदात् च. नापि कार्यकारणभावो, द्वयोः नित्यत्वात्. नापि निमित्त-नैमित्तिकत्व-यौनाश्रयाश्रयि-भावाद्याः, प्रत्यक्षविरोधेन अनुपपन्नत्वात्, किन्तु प्रत्याय्यप्रत्यायकभावः सम्बन्धः. सच अपौरुषेयः, तत्तच्छब्दश्रवणेन तत्तदर्थावगमस्य अनादिपरम्परासिद्धत्वात्. अतएव च स्वाभाविकः. नच * पराभिप्रायानुमानादेव अर्थप्रतिपत्तिसिद्धेः अस्वाभाविकत्वं * शङ्कनीयं, स्वापाद्यवस्थायां, परवशैः, अनभिज्ञैः, बालैः, शुकसारिकादिभिः, अनर्थज्ञवैदिकैः च उच्चारितात् लौकिकशब्दात् मन्त्रार्थवादादिवाक्यात् च अर्थाभिज्ञानामपि अर्थबोधानापत्तिप्रसङ्गात्. नच * प्रत्याय्यप्रत्यायकभावो नाम संज्ञा-संज्ञि-भावः, तस्य स्वाभाविकत्वे इदम्प्रथमतया श्रवणेऽपि अर्थप्रत्ययापत्तिः * इति शङ्कनीयं, चक्षुषः आलोकसंयोगस्येव शब्दस्य शब्दार्थसम्बन्धग्रहस्यापि सहकारित्वात्.

नच * सम्बन्धग्रहो नाम शक्तिग्रहः, तस्य पुरुषान्तरकृतबोधनाधीनत्वात् पौरुषेयत्वं सम्बन्धस्य * शङ्क्यं, तद्ग्रहणमात्रस्यैव पुरुषाधीनत्वेन ग्राह्यस्य सम्बन्धस्य तदनधीनत्वात्. अन्यथा अर्थकथने तस्य अन्यैः उपलम्भदर्शनेन तथा निश्चयात्, 'देवदत्ता' दिशब्दवत् नूतनार्थसम्बन्धे तस्य 'सएव अर्थः' इति तदनुपालम्भप्रसक्तेः च. नच * "भूमौ अर्थो" — "मुखे शब्दः", " 'गौः' इति शब्दः" — "सास्नादिमान् अर्थः", "शब्दो अयं न अर्थः — अर्थो अयं न शब्दः" इति आश्रयभेद-रूपभेद-प्रतीतिभेदैः रज्जुघटवत् शब्दार्थयोः पृथग्भूतत्वात् तादृशयोः च रज्जुघटसम्बधवत् कृतकसम्बन्धस्यैव दृष्टत्वात् न नित्यसम्बन्धसिद्धिः. सिद्धेच एवम् अनित्यत्वे कश्चित् चेतनः

१. शब्दार्थयोः द्वयोरपि नित्यत्वाभ्युपगमात् न कार्यकारणभाव-सम्भवो नवा निमित्त-नैमित्तिकभाव-सम्भवः (शाब.भा.प्रभा.१।१।५)(श्या).

पुरुषः तत्सम्बन्द्धा[पा.भे.७] वाच्यः. सच न अस्मदादिः असर्वज्ञत्त्वात् किन्तु परमेश्वरेण सर्गादिकाले सम्बन्धः क्रियते. ततो रूपद्वयं कृत्वा व्यवहार्यते * इति वाच्यं, सर्गादौ मानाभावात्; आदिकाले सर्वाभावेन उपादात्रुपादानाभावेन सृष्ट्यभावप्रसक्तेः, वैचित्र्यानुपपत्तेः च. नच * जीवादृष्टवैचित्र्यात् कार्यवैचित्र्यम् * इति युक्तं, दृष्टं विना केवलादृष्टेन तदसिद्धेः अन्यथा बीजं विनापि वृक्षोत्पत्तिप्रसङ्गात्. नच ईश्वरेच्छादिना नित्यद्रव्यैश्च[टि.१] सिद्धिः, केवलानुमानशतैरपि ईश्वरासिद्धेः बीजाङ्कुरवद् विनापि ईश्वरं प्रवाहादेव सृष्टिसिद्धौ ईश्वराङ्गीकारस्य अयुक्तत्वात्. ईश्वरकर्तृकत्वेन अनित्यत्वे सति वेदानां पौरुषेयत्वापाते शाक्यादिग्रन्थवद् अतीन्द्रियार्थ-ग्राहकत्वाभाव-प्रसङ्गेन अप्रामाण्यप्रसङ्गात्. नच * मन्त्रार्थवादेतिहास-पुराणादिकमेव सृष्ट्यारम्भे प्रमाणम् * इति वाच्यं, तेषां तत्र तात्पर्याभावात्. तस्माद् अनादौ संसारे पदपदार्थसम्बन्धुः अभावात् नित्यएव तयोः सम्बन्धः * इति आहुः.

वेदान्तदर्शनरीतिकस्तु अग्रे वक्ष्यते.

* ननु अर्थस्य अनित्यत्वात् कथं सम्बन्धस्य नित्यत्वम् * इति चेत्!

अत्र **जैमिनीयाः** * सच न व्यक्तिरूपेण अनित्येन अर्थेन किन्तु नित्येन आकृतिरूपेण. आकृतिरेव च सामान्यम् अनुगताकार-प्रतीति-जननात् सैव[पा.भे.८] च जातिः नतु तदभिव्यंग्या, मानभावात्. नच आकृतेः अनित्यत्वम्, एकव्यक्तिनाशेऽपि व्यक्त्यन्तरे दर्शनाद् अतो न दोषः * इति आहुः.

अत्र **बौद्धाः** * आकृतिः व्यक्तेः सकाशाद् भिन्ना अभिन्ना भिन्नाभिन्ना वा? न आद्यः, व्यक्तिव्यतिरेकेण अनुपलब्धेः. न द्वितीयः, आधाराधेयभावप्रतीतिबाधापत्तेः, एकस्याम् एकरूपायाम् अनेकानेकरूपाभेदस्य

१. परमाणुभिः[(क)].

अशक्यवचनत्वात् च. न तृतीयः, भेदाभेदयोः सहावस्थानविरोधात्. किञ्च आद्ये विकल्पे सा सर्वगता वा तत्तद्व्यक्तिमात्रगता वा? न आद्यः, अन्तराले अनुपलब्धेः. न द्वितीयः, एकस्यां व्यक्तौ कार्त्स्न्येन वर्तमानत्वे व्यक्त्यन्तरे तदनुपलम्भप्रसङ्गात्. अनुत्पन्नायां व्यक्तौ तस्मिन् देशे असत्त्वाद्, उत्पन्नायामपि तस्यां तदनुपलम्भप्रसङ्गात् च. नच *तया सहैव उत्पद्यते* इति वाच्यं, नित्यत्वबाधापत्तेः नच *व्यक्त्यन्ताराद् आयाति* इति वाच्यम्, अमूर्तत्वाद्, यतः आयाति तत्र अनुपलम्भप्रसङ्गात् च. नच *अंशेन आयाति* इति वाच्यं, निरंशत्वाभ्युपगमाद्, एकस्याः अतीतानागत-वर्तमान-व्यक्तिषु अंशतो वृत्तेः अशक्यवचनत्वात् च. एवं व्यक्तिनाशे तत्र स्थितायाः उपलब्धिप्रसङ्गात्, याने तत्र पुनःपुनः प्रवेशेन व्यक्त्यन्तरे द्विगुणोपलब्धिप्रसङ्गात् च, तस्माद् विकल्पाक(? का!)रमात्रम्[पा.भे.९] इदं, नतु सामान्यं नाम पदार्थः कश्चिद् अस्ति. नच गवाश्वादि-वैचित्र्यानुपपत्तिः, विचित्र-स्वभाव-स्वलक्षण-दर्शनवशादेव तदुपपत्तेः. नच *सामान्यरूपस्य अर्थस्य अभावे कथं सामान्यविकल्पः* इति वाच्यम्, अर्थशून्यस्यापि विकल्पस्य शुक्तिरजतादौ दर्शनात्. नच *एवं विसंवादापत्त्या लोकव्यवहारबाधापत्तिः* इति वाच्यं, यथा मण्यर्थिनो मणिप्रभायां मणिबुद्ध्या प्रवृत्तौ तस्याः बुद्धेः परम्परया मणिप्रभवत्वेन मणिप्रापकतया संवादाद् व्यवहारसिद्धिः, तथा विचित्रार्थक्रियास-मर्थ-स्वलक्षणाभिमानिनो जायमानस्य अर्थशून्यस्यापि जातिविकल्पस्य परम्परया तत्प्रभवतया संवादात् तादृश-व्यवहारार्थि-प्रवृत्तेरपि सिद्धेः.

किञ्च 'केशाण्डक'न्यायेन[टि.१] स्थूलावभासस्य उपपत्तौ सञ्चितानेक-परमाणु-पुञ्जातिरिक्तस्य अवयविनो व्यक्तिरूपस्य अभावाद् दूरापास्तं निराधारं सामान्यम्. नच *सामान्यभावे कथं 'गौः-गौः' इति अनुगताकारप्रतीतिः* इति शङ्क्यं, विलक्षणरूप-स्वलक्षणस्वभावादेव सम्भवात्. सामान्यवादिनापि नानाविधानां गोत्वाश्वत्वादीनां सामान्यत्वाविशेषेऽपि तेन-तेन तत्तद्व्यक्तिषु तत्तत्प्रतीतिजनने स्वभावस्यैव आश्रयणीयत्वात्. तस्माद् विकल्पमात्रमेव सामान्यं, नतु वस्तु तद्* इति आहुः.

१. केशोण्डुक / केशोण्ड्रक इति मोनीअर विलियम्स विरचितकोशे पृ. ३१०.(ग्या).

तत्र **पार्थसारथिमिश्राः** ❀ न एवं सामान्यम् अपह्नोतुं शक्यं, प्रत्यक्षबलसिद्धत्वात्. "अयं गौः अयमपि गौः" — "अयं वृक्षः अयमपि वृक्षः" इति प्रत्यक्षस्य देशकालावस्थान्तरे अविपर्यस्तत्वात् सर्वप्रमाणोपजीव्येन प्रत्यक्षेणैव वस्तुनो द्व्याकारत्वसिद्धौ, कुतर्काभासानां भ्रान्तत्वात्. नचअनुमानेनापि एतद्बाधः, उपजीव्यत्वात्. भेदाभेदाविकल्पेन सामान्यं निराकुर्वता त्वयापि ❀ "यद् वस्तु तद् भिन्नम् अभिन्नं वा भवति. सामान्यमपि यदि वस्तु स्यात् तर्हि भिन्नम् अभिन्नं वा स्यात्. नच द्वेधापि सम्भवति, तस्माद् अवस्तु" ❀ इति वक्तव्यम्, अन्यथा[टि.१] वस्तुत्वस्य भेदाभेदव्याप्तत्वाद् व्यापकानुपलब्ध्या[टि.२] ❀ सामान्यस्य अवस्तुतायाः वक्तुम् अशक्यत्वात्. तथा सति अङ्गीकृतमेव[टि.३] सामान्यं वस्तु. नच ❀ सामान्यः औपाधिको 'वस्तु' शब्दो, न जातिनिमित्तको, अतो न अनेन जातिसिद्धिः ❀ इति वाच्यम्, अनेन जातिसिद्ध्यभावेऽपि उपाधिरूपसामान्यस्य सिद्ध्या अनुगताकारस्य सामान्यस्य सिद्धत्वात्. औपाधिकानामपि[टि.४] मूलोपलक्षणं विना[टि.५] स्वरूपलाभाभावात्[टि.६]. व्यावृत्तैकरसं सर्वम् अभ्युपगच्छतः सौगतस्य क्वचिदपि अनुवृत्तरूपाभावेन औपाधिकव्यवहारस्यापि दुर्घटत्वात्, सिद्धेच एवम् अनुवृत्ताकारे बाधकाभावाद् जातिरूपमपि निःप्रत्यूहम्. तस्मात्[टि.७] सर्वप्रमाणसिद्धं सामान्यं न अपह्नोतुं शक्यम्. ❀ ननु तर्हि विकल्पानां कः परिहारः? ❀ इति चेत्, न कोऽपि, अपरिहृतानामपि तेषाम् अकिञ्चित्करत्वात्. सामान्याभावे तेषामपि स्वरूपलाभाभावाद् इति उक्तम्.

अथापि चेत् तदाग्रहः तर्हि तेऽपि परिह्रियन्ते :—

तत्र **केचित्**[टि.८] ❀ भिन्नमेव सामान्यं व्यक्तिभ्यः. नच

---

१ पा.मे.१०. अन्वयव्याप्त्यनुपगमे व्यतिरेकव्याप्तौ अवस्तुत्वस्य अप्रवेशात् साध्याप्रसिद्ध्या(अ).अन्वयव्याप्त्यभावे इति(आ). २. व्यतिरेकव्याप्त्या वस्तुत्वाप्रवेशात् साध्याप्रसिद्ध्या(आ). ३. उक्तानुमानेन सामान्यस्य पक्षत्वे सति भेदाभेदशून्यत्वरूपहेत्वाधारत्वेन अङ्गीकृतम् इति अर्थः(अ आ). ४. प्रयोगाणां व्यवहाराणां च इति अर्थः(अ आ ग). ५. अनुवृत्ताकारात्मकमूलं विना(अ). ६. - तथाच 'वस्तु' शब्दस्य औपाधिकत्वसमर्थनाय तन्मूलभूतो अनुवृत्ताकारत्वरूपोपाधिः तव आवश्यकएव इति अर्थः(आ ग). ७. व्यक्त्यभेदादिबाधकसत्त्वे उपाधिरूपस्य तदभावे जातिरूपस्य सामान्यस्य अप्रत्यूहत्वाद् इति अर्थः(आ ग). ८. वैशेषिकाः(श्या).

पृथगुपलब्धिप्रसङ्गः, व्यक्तिसमवेतत्वेन अन्यत्र तदभावात्. नच * व्यक्त्यतिरेकेण अदर्शनाद् अभेदः * शङ्कनीयः, खण्डमुण्डयोः गवोः खण्डमुण्डाकारस्य व्यावृत्तस्य दर्शनात्. अभेदे गवाकारवद् उक्ताकारस्यापि अनुवृत्त्यापत्तेः, एकस्यापि व्यक्तौ "इयं गौः" इति प्रत्यये "गौः-गौः"इतिवद् 'इदं'बुद्धि – 'गो'बुद्ध्योः पर्यायतापत्तेः च. नच व्यक्तेः ताद्रूप्य-प्रत्ययानुपपत्ति-प्रसङ्गः [टि.१], समवायसम्बन्धमहिम्नैव तत्सिद्धेः. तस्माद् अदोषः" * इति आहुः.

तत्त्वन्तु पूर्वोक्तन्यायेन भेदस्य, तादात्म्यप्रतीत्या च अभेदस्य, सिद्धत्वाद्, भिन्नाभिन्नत्वमेव युक्तम्. नच भेदाभेदयोः विरोधः शङ्कनीयः [टि.२], सहदर्शनेनैव[टि.३] शङ्कानिरासात्. नच अतिप्रसङ्गः [टि.४], "इदं रजतं — नेदं रजतम्" इतिवत् परस्परोपमर्दाभावात्. अतः "इयं-गौः" इति बुद्धिद्वयं सामानाधिकरण्या-पर्यायत्वाभ्याम् अभेदं भेदं च जातिव्यक्त्योः व्यवस्थापयतीति प्रतीतिबलादेव अत्र भेदाभेदाविरोधः. किञ्च, गोरूपेण निरूपणे गोजात्या व्यक्तिः अभेदेन प्रतीयते. "गौः अयं शाबलेयः" इति व्यक्त्यन्तरात्मना निरूपणे च जातिभेदेन प्रतीयते. "योऽयं शाबलेयो गौः स न बाहुलेयः" इति गवाकारापेक्षया शाबलेयाकारापेक्षया च [टि.५] भेदादपि तथा कुड्यदण्डादिषु विरुद्धस्वभावानां दीर्घह्रस्वादीनाम् अपेक्षाभेदेन अविरोधवद् उभय[टि.६]-प्रतीत्यविशेषात्[टि.७]. नच * [टि.८] वैलक्षण्यप्रतीतिः भेदप्रतीतिः अवैलक्षण्यप्रतीतिस्तु अभेदप्रतीतिरिति भेदप्रतीतिसमये, येन जातिव्यक्ती भिन्ने अवगते [टि.९], तेनैव पुंसा अभेदप्रतीतिसमये तयोः अन्यतरद् एकं प्रतीयतइति, एकनिष्ठाकारद्वयस्य पर्यायेण अवगाहाद् एकनिष्ठद्विप्रतीतिः, साच भेदप्रतीतिरेव नतु भेदाभेदप्रतीतिरिति, तदभावात् न भेदाभेदयोः अविरोधः * इति वाच्यं, वस्तुद्वयप्रतीतेः भेदप्रतीतित्वाभावात्. एकव्यक्तिदर्शने जातिव्यक्त्योः सत्त्वेऽपि भेदाप्रत्ययात्.व्यक्त्यन्तरदर्शनएव जात्यन्वयेन पूर्वव्यक्तिव्यतिरेकेण च जातिव्यक्तिप्रत्ययस्य भवतोऽपि

१. जातिसमानाकारत्व...इति अर्थः (अ आ). २. प्रतियोगितदभावयोः क्वापि सहावस्थानादर्शनाद् इति अर्थः (अ). ३. खण्डाकारम् अपेक्ष्य भेददर्शनेऽपि तद् अनपेक्ष्य अभेदस्य दर्शनेन इति अर्थः (अ).गावाकारेण अभेदस्य खण्डाद्याकारेण भेदस्य च एकस्यां व्यक्तौ एकसमयएव अवगाहेन इति अर्थः (आ ग). ४. अन्यत्रापि प्रतियोगितदभावयोः सहावस्थानापत्तिः इति अर्थः (अ).न प्रसङ्गः (आ क ग) ५. दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकप्रतीत्योः अवैलक्षण्याद् इति अर्थः (अ आ). ८. प्राभाकरमतेन आक्षेपः (श्या) ९. उभयत्र पा.भे.१७ जात्यन्वयेन पूर्वव्यक्तेः व्यतिरेकेण च भिन्ने ज्ञाते इति अर्थः (अ).

अभिमतत्वात्. कञ्चित् पुरुषं दूरात् पश्यतः पूर्वोपलब्धं च तत्सदृशं स्मरतः वस्तुतः पुरुषद्वयप्रतीतावपि "सोऽयम्" इतिप्रतीत्या भेदानवधारणात्[टि.१] पूर्वोपलब्धमेव पुरुषं कालान्तरे दूरात् पश्यतः किञ्चिद्वैलक्षण्ये[पा.भे.११] भेदप्रत्ययात् च. नच अत्र[टि.२] मानाभावः, "किं सएव अयम् उत अन्यः" इति संशयवाक्यस्यैव मानत्वात्. अन्यथा तदनुदयात्. तस्माद् "अन्योऽयं— नान्योऽयम्" इत्येव भेदाभेदबुद्ध्योः आकारौ. अतो द्वौ गावौ उपलभ्यमानस्य उभयत्र गोप्रत्ययाद् "अयम् अस्माद् अन्यः" इति प्रत्ययात् च उपपन्नं भिन्नाभिन्नत्वम्. एवञ्च व्यक्त्यात्मरूपत्वाद् व्यक्तिगतैव[टि.३] जातिः साच स्वकारणाद् उत्पद्यमानायां व्यक्तौ कारणवशात् सम्बध्यते. नच *अस्मिन् देशे प्राग् अविद्यामानायाः कथम् एतद्देशसम्बन्धः* इति शङ्क्यम्, अस्मिन् देशे प्राग् अविद्यमानस्यैव देशान्तराद् आगतौ कारणवशादेव संयोगदर्शनात्. एतावान् परं विशेषो यत् संयोगो देशान्तरस्थस्य अनेन देशेन क्रमिकः, तादात्म्य-समवाययोस्तु अनन्तरदेशम् अनपेक्ष्यैव साहसिकः, संयोगस्य तादात्म्यसमवाययोः च एकस्वभावाभावात्. नच *जातेः नित्यत्वेन व्यक्तीनां च अनित्यत्वेन अभेदो अनुपपन्नः* इति शङ्क्यं, तस्य वस्तुनो नानाकाराङ्गीकारात्, केनचिद् आकारेण नित्यत्वस्य केनचिद् अनित्यत्वस्य च धारणेन अविरोधाद्. एवञ्च जातेः व्यक्तिरूपेण अनित्यत्वस्य, व्यक्तेश्च जातिरूपेण नित्यत्वस्य उक्तावपि बाधकाभावात्. यदिच सर्वगतं सामान्यम् उपेयते, तदापि व्यक्तीनाम् अभिव्यञ्जकत्वात् संयुक्तसमवायस्य सामान्यग्राहक-संनिकर्षस्य व्यक्तिदेशएव सत्त्वात् न सर्वत्र उपलब्धिप्रसङ्गः. एवम् अभेदपक्षेऽपि आकारभेदाङ्गीकारात् नित्यत्वानित्यत्वादिवत् सर्वगतत्वासर्वगतत्वादिकमपि न अनुपपन्नम्. वृत्तौ कार्त्स्न्यांश-विभागस्तु प्रमाणतो वृत्त्यवगतेः न शङ्कितुमपि शक्यते. व्यक्तेः पुञ्जरूपत्वाभावस्तु केशाण्डकवत् पुञ्जप्रतीत्यभावादेव निरस्तः. तेन निराधारतापि परिहृता बोध्या. तस्माद् अस्ति अतिरिक्ता आकृतिः[टि.४]

१. "स एव अयम्" इति प्रत्यभिज्ञानात् तथा अर्थः[(अ)]. २. वस्तुद्वयप्रतीतौ भेदानवधारणे एकवस्तुप्रतीतौ भेदावधारणे च इति अर्थः[(अ)]. ३. व्यक्तिस्वरूपत्वाद् इति अर्थः[(अ आ)]. ४. जातिमेवाकृतिं प्राहुः व्यक्तिराक्रियते यया, सामान्यं तच्च पिण्डनामेकबुद्धिनिबन्धनम् (श्लो.वा. : आकृ.वाद.कारि.३) इति भाट्टमते जात्याकृत्योः अभेदस्वीकारात् आकृतिः नाम जातिरेव, ग्रन्थकृद्भिः इह श्रीपार्थसारथिकृतशास्त्रदीपिकातो जिज्ञासाकृत्यधिकरणगतयोः(१।१।१ - १।३।१०) निरूपणयोः सारांशः उद्धृतः[(श्या)].

नित्येति तया शब्दस्य सम्बन्धोऽपि नित्यः इति सिद्धम्. 'देवदत्ता'दिनाम्नान्तु प्रत्यक्षतः सम्बन्धकर्तुः उपलम्भाद्, व्यक्तावेव च सम्बन्धात्; न तन्न्यायेन सर्वेषां तथात्वं[पा.भे.१२], सम्बन्धकर्तुः अनुपलम्भाद्, आकृतौ सम्बन्धात् च इति दिक्.

यत्तु **केचित्** ✻आकृतौ शक्त्यङ्गीकारे "व्रीहीन् अवहन्ति" (आप.श्रौ.सू.१।१९।११) "पशुम् आलभेत्" (तैत्ति.संहि.३।१।११) इत्यादिविध्यानर्थक्यं नित्यायाः आकृतेः अवहननालम्भाद्ययोगात्, लिङ्गसंख्याकारकानन्वयश्च अलिङ्गत्वाद् एकत्वाद् अमूर्तत्वात् च, "गौः शुक्ला" इत्यादौ सामानाधिकरण्यबाधश्च जातिगुणयोः भिन्नत्वात्. एवम् अन्यदपि द्रष्टव्यम्. तस्मात् न आकृतौ शक्तिः किन्तु व्यक्तावेव. नच ✻एकत्र शक्तौ ज्ञातायां व्यक्त्यन्तरबोधो दुर्घटः, तत्र शक्तेः अज्ञानाद् ✻ इति वाच्यं, जातेः उपलक्षकत्वेन अदोषात्. "यः शुक्लवासाः स देवदत्तः" इतिवद् "या एवमाकृतिका सा गौः" इत्येवं बोधसम्भवात्. जातिम् एकाम् उपलक्ष्य व्यक्तिबोधनाच्च, न अनेकशक्तिकल्पनापत्तिः. आकृतिविशिष्टायां वा व्यक्तौ सा अस्तु तथा सति न कोऽपि दोषः✻ इति आहुः.

तत् न, विशिष्टाचां शक्तेः कल्पने शक्यद्वयापत्त्या गौरवात्, केवलायां तत्कल्पने तासाम् अतीतानागतवर्तमानानाम् अनन्तत्वेन शक्यत्वज्ञानासम्भवात्, शुक्लायां व्यक्तौ व्युत्पन्नस्य 'गौ'शब्दस्य कृष्णायां प्रयोगे व्यभिचाराद्, "अस्य पदस्य अयमेव अर्थो न अन्यः" इति एवंलक्षणकत्वेन शक्तेः नियमरूपत्वाद् व्यक्त्यन्तरेऽपि शक्तौ तस्याः व्यभिचारप्रसङ्गेन नियमरूपत्वहानेः अनन्तशक्त्यापत्तेः च. नच ✻जातेः उपलक्षणत्वात् न आनन्त्यम्✻ इति वाच्यं, तथापि अभिधेयानन्त्येन तदपरिहाराद्, व्युत्पत्तिसमयएव जातेः उपलक्षणत्वाद्, हस्तमुद्रितं मणित्रयं कृत्वा "मद्धस्तपिहितं यत् तत् 'मणि' पदवाच्यम्" इति उक्तौ वक्तृहस्तस्य उपलक्षणत्वेऽपि 'मणित्रय' पदेन मणिव्यक्तीनामेव अभिधानात्. किञ्च आकृतिम् अविषयीकृत्य व्यक्तिमात्राभि

धाने शब्देन व्यक्तिरेव प्रतीयेत नतु विजातीयव्यावृत्ता सा. तथा सति "पशुम् आलभेत" (तैत्ति.संहि.३।१।११) इति वाक्याद् यः कश्चिद् अन्यः आलभ्येत, सन्देहानपायात्. यदिच * व्यक्तेः जात्यविनाभूतत्वाद् अभिधानसमयएव शब्दो जातिमपि विषयीकरोति * इति उच्यते, तदा गौजातीयं प्रत्याययन् प्रथमं जातिमेव गोचरयति इति आगतम्. तथा सति विशिष्टएव शक्त्यापत्तिः नतु केवलव्यक्तौ. नच * एवमेव अस्तु * इति वाच्यं, तथा सति पूर्वं जात्यभिधानात् तदविनाभूतव्यक्तेरपि ततएव प्रतिपत्तिरिति न तत्र शक्तिकल्पनापेक्षा. किञ्च व्यक्तीनां खण्डमुण्डादिभेदेन विचित्रत्वात् तदभिधाने चित्रबुद्धिरपि [पा.भे.१३] उत्पद्येत नतु एकाकारा. उत्पद्यतेतु एकाकारा अतो अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जातिरेव अभिधेया इति निश्चयः. नच पूर्वोक्तदूषणापत्तिः, आकृतेः व्यक्त्यव्यतिरिक्तत्वात्. एकस्यैव वस्तुनो व्यावृत्तानुवृत्तरूपाभ्याम् उभयात्मकतायाः पूर्वम् उपपादितत्वात्. अतो अवहननादेः लिङ्गादेः च स्वरसेनैव अन्वयइति अदोषः. भेदपक्षेऽपि जातिः व्यक्तिम् अन्तरेण अनुपपन्ना ताम् आक्षेप्स्यति. आक्षेपश्च लक्षणा अर्थापत्तिः वा. अतः तयैव व्यक्तिबोधोपपत्तौ न तत्र शक्तिकल्पनापेक्षा. एवञ्च "पशुना यजेत" (काठ.संहि.८।१) "अरुणया... क्रीणाति" (तैत्ति.संहि.६।१।६) इत्यादौ श्रुतं करणत्वम् अमूर्तयोरपि जातिगुणयोः द्रव्यपरिच्छेदकत्वेन तत्र मुख्यतयैव उपपत्स्यते. अधिकरणसम्प्रदानादिरूपं कारकन्तु अमूर्तस्य साक्षाद् असम्भद् अभेदं लक्षणां वा आश्रित्य उपपत्स्यते. तथा "श्येनचितिं चिन्वीत" (तैत्ति.संहि.२।४।११।१) इत्यादौ आकृतेरेव सादृश्यप्रतियोगितया कार्यान्वयो दृश्यते. अतो अभेदपक्षे भेदपक्षे च दोषाभावाद् आकृतावेव शक्तिः निश्चेया इति ॐ आहुः.

गुरवस्तु * अनुपपत्तिज्ञानम् अन्तरेणापि "गौः अस्ति" इति वाक्याद् गोत्वविशिष्टप्रतीतेः, न अर्थापत्तिः आक्षेपः किन्तु समानसंवित्संवेद्यत्वम् आक्षेपः, प्रत्यक्षे व्यक्ति-भान-सामग्र्या जातेरिव — शाब्दे जाति-भान-सामग्र्यैव व्यक्तेरपि बोधाद्, जातिधिया व्यक्तिविषयीकरणे जातिव्यक्त्योः एकधीविषयत्वात्. यद्वा जातिशक्तिरेव व्यक्तिं बोधयतीति एवम् एकशक्त्या

युगपद् उभयबोधात् समानसंवित्संवेद्यत्वम्. अनतिप्रसङ्गस्तु गोत्वशक्तस्य गोत्वविशिष्टबोधनाद्* इति आहुः.

वेदान्तदर्शनेतु देवताविग्रहाधिकरणे "शब्दइतिचेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" इत्यादिसूत्र(ब्र.सू.१।३।२८-३०)त्रये सर्गादिपक्षेऽपि व्यासचरणैः शब्दार्थयोः औत्पत्तिकः सम्बन्धो यः समर्थितः, तम् एवम् —

(१)**केचिद् व्युत्पादयन्ति**, तथाहि, " 'एत' इति, वै प्रजापतिः, देवान्, असृजत, 'असृग्रम्' इति मनुष्यान्, 'इन्दवः' इति पितॄन्, 'तिरःपवित्रम्' इति ग्रहान्, 'अशवः' इति स्तोत्रं, 'विश्वानि' इति शस्त्रम्, 'अभिसौभगे' इति अन्याः प्रजाः" इत्यादिश्रुतिषु, "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः" (कूर्मपुरा.१।२।२७)[टि.१] इति "नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनं[टि.२] वेदशब्देभ्यएवादौ निर्ममे स महेश्वरः" (कूर्मपुरा.१।७।६४) "सर्वेषां सतु नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् वेदशब्देभ्यएवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" (मनुस्मृ.१।२१) इत्यादिस्मृतिषु च सर्गादौ वैदिकशब्दादेव जगदुत्पत्तिकथनाद् देवाद्याकृतिविशेषं विग्रहवत्त्वबोधकमन्त्रार्थवादादिभ्यो अवगत्य "भूरिति व्याहरन् भूमिम् असृजत" (तैत्ति.ब्राह्म.२।२।४-।२) इत्यादिश्रुतेः लोकादीनाम् आकृतिं चिकीर्षितां बुद्धौ आलिख्य तत्तदाकारकजगत्करणात् सृष्ट्याद्यङ्गीकारेऽपि आकृतावेव[टि.३] सम्बन्धो, महाप्रलये सर्वव्यवहारोच्छेदेऽपि परमेश्वरानुगृहीतानां हिरण्यगर्भादीनाम् ईश्वराणां तत्स्मरणात्; तथा "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वेता.उप. ६।१८) इति "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयद् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो सुवः" (महाना.उप.५।७) इत्यादिश्रुतेः, "ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः" (विष्णुपुरा.१।५।६५)

१. महा.भा.शां.प.२३२/२४(म्या). २. 'प्रपञ्चनम्' इति काशिराजमुद्रितपाठः(म्या). ३. अस्मिन् पक्षे वेदशब्देभ्यएव आकृत्यवगमाद् अमूर्तायाः आकृतेः वेदशब्देषु शब्दरूपेण सत्कार्यवादात् कारणरूपेण ईश्वरे वा अवस्थानं, ततो व्यक्त्युत्पत्तौ कारणस्थायाः आकृतेः व्यक्तिसम्बन्धः शब्दस्य आकृतिसम्बन्धस्तु उक्तरीत्या नित्यः परमेश्वरकर्तृकः च इति सिध्यति(अ).

इत्यादिस्मृतेः च इति(ब्र.सू.शां.भा.१।३।२८-३०).

(२)अन्येतु *"वाचा विरूपनित्यया" (ऋक्संहि.८।७५।६) इति श्रुतेः वेदस्वरूपस्य, "सूर्याचन्द्रमसौ" (ऋक्संहि.१०।१९०।१) इति श्रुत्या जगत्प्रवाहस्य च नित्यत्वे सिद्धे वैदिकानां शब्दानां प्रवाह[टि.१]एव सम्बन्धम् (ब्र.सू.मा.भा.१।३।२८-३०)* आद्रियन्ते.

(३)इतरेतु * इतरवाक्यवद् वेदस्यापि उत्पत्तिप्रलयप्रत्ययात् न आकाशादिवत् नित्यत्वं किन्तु ऋग्यजुरादिनाम्नाम् आनुपूर्वीविशेषात्मकस्य रूपस्य च प्रतिसर्गम् एकरूपत्वात् समान-नामरूप-प्रवाहानुच्छेद-रूपमेव नित्यत्वम्. नच *सूक्ष्मरूपेण अवस्थितस्य अभिव्यञ्जकोत्पत्त्यादिभिः उत्पत्तिभ्रमः कल्पनीयः *, लौकिकवाक्येऽपि तथा कल्पयितुं शक्यत्वात्, सूक्ष्मरूपेण कार्यमात्रस्य नित्यताभ्युपगमात्. अथ वर्तमानावस्थयैव सत्त्वं वेदस्य इति चेत्, न, घटादावपि तथा प्रसङ्गाद्, दण्डादीनाम् अभिव्यञ्जकत्वसम्भवाद् वर्तमानत्वाभिव्यक्त्योः भेदाभावात् च. अतः उक्तप्रत्ययानुरोधात् प्रवाहानुच्छेदरूपमेव शब्दस्य नित्यत्वम्. वेदश्च अन्तर्यामिसङ्कल्पात् सर्गादौ हिरण्यगर्भादिभिः अबुद्धिपूर्वमेव स्वाप्नपदार्थवत् प्रतिभामात्रेण अनुभूयते. ईश्वरस्तु सर्वज्ञत्वात् समानानुपूर्वीनिर्माणं करोति इति उपपद्यते. अतश्च श्वासप्रश्वासवत् पुरुषबुद्ध्यजन्यत्वेन वेदेषु न अप्रामाण्यशङ्कायाअपि सम्भवः. इदञ्च "यो ब्रह्माणम्" (श्वेता.उप.६-।१८) इति "अनादिनिधना" (महाभा.१२।२३२।२४-२६. कूर्मपुरा.पू.-वि.१।२।२७) इति श्रुतिस्मृतिभ्याम् अवगम्यते, पूर्वोक्तश्रुत्यादिभिः च. ततएव जगदुत्पत्तिरिति व्यक्त्युत्पत्तिकालएव सम्बन्धोऽपि प्रवाहएव (ब्र.सू.वि.भा.१।३।२८-३०) इति * रोचयन्ते.

---

१. 'प्रवाहो' नाम अविच्छिन्नपरम्परा. तथाच नदीजलेषु नानात्वेऽपि प्रवाहे शक्त्या न 'नदी' पदशक्त्यानन्त्यम्; तथा, 'सेना'-'वना'दिषु. एवं 'घटा'दिपदानां प्रवाहरूपेण व्यक्तिषु शक्तावपि न शक्त्यानन्त्यं नापि आक्षेपलिङ्गानन्वयादीति तथा[अ].

सिद्धान्तस्तु :—

न आकृतिमात्रे सम्बन्धः, सर्वत्र लक्षणाप्रसङ्गात्, "सा व्यक्तिं विना अनुपपद्यमाना ताम् आक्षिपति" इति उपगमात्. नापि अर्थापत्तिपक्षः साधीयान्, व्यक्तिबोधनांशे पदानाम् अप्रामाण्यप्रसङ्गात्. अनुपपत्तिज्ञानम्अन्तरेणापि 'गो' शब्दाद् गोत्वविशिष्टप्रतीतिदर्शनेन अर्थापत्तेः व्यापारत्वस्यापि असङ्गतत्वात्. नापि समानसंवित्संवेद्यत्वपक्षो युक्तो, 'गो'-'गोत्व' पदयोः पर्यायतापत्तेः, 'गोत्व' पदाद् गोप्रत्ययापत्तेः इत्यादि-नैयायिकोक्तदूषणग्रासाद्, "यः सिक्तरेताः स्यात् स प्रथमामुपदध्याद्" (तैत्ति.संहि. ५।५।४) इत्यादौ सिक्तरेतस्त्वादेः आकृतित्वाभावेन श्रुतिविरोधापत्तेः च. नच * तत्र प्रवृत्तिनिमित्तएव सम्बन्धः * इति वाच्यम्, उपाधेः अनित्यत्वेन नियमभङ्गप्रसङ्गात्. सिक्तरेतस्त्वादेः प्रमाणान्तरेणापि ग्रहणात्, तद्बोधकवेदाप्रमाण्यापत्तेः, तस्य धर्मस्य उपधानकर्तृत्वायोगात् पदप्रवृत्तिवैयर्थ्यापत्तेः, ईदृशस्थले व्यवहारस्य अशक्यवचनत्वेन सङ्केतग्रहविरोधात् च. तस्मात् न आकृतिमात्रे सम्बन्धः किन्तु व्यक्तावेव सम्बन्धः. नच * व्यक्तेः अनित्यत्वात् सम्बन्धानित्यत्वं * शङ्क्यं, वेदोक्तपदार्थानाम् आधिदैविकानां पुरुषावयवरूपत्वेन नित्यत्वात्. नच * अवयवानां हस्तपादादिरूपत्वेन घटाद्याकारकत्वाभावात् कथं जाति-गुण-क्रिया-द्रव्य-नाम-वाचकपदजातस्य अवयवे सम्बन्धः * इति शङ्क्यं, सर्वस्य भगवदनुकारितया तदवयवानां सर्वरूपत्वात्, पुरुषसूक्तेन तदर्थनिश्चायक-द्वितीयस्कन्धाध्यायेन च तथा निश्चयात्. "यदास्य नाभ्यान्नलिदनादहमासं महात्मनः नाविदं यज्ञसम्भारान् पुरुषावयवाद् ऋते तेषु यज्ञस्य पशवः सवनस्पतयः कुशाः" (भाग.पुरा.२।६।२२) इत्यादीनां "पुरुषावयवैरेतैः सम्भाराः सम्भृता मया" (भाग.पुरा.२।६।२६) इत्यन्तानां वाक्यानां तत्र दर्शनात्. "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" (कठोप.५।१५ / मुण्ड. उप.२।२।१० / श्वेता.उप.६।१४) इति श्रुत्या अनुकृत्यधिकरणे(ब्र.सू.१।३।२२) सर्वस्य भगवदनुकारित्वकथनेन भगवतः सर्वाकारत्वसिद्धेः. एवञ्च "सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति" (कठोप.२।१५) "वैदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" (भग.गीता.१५।१५) "मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम् एतावान् सर्ववेदार्थः" (भाग.पुरा.११।३१।४३) इत्यादिषु बोधितम्

अभिधानवृत्त्या वेदस्य भगवद्वाचकत्वं यथाश्रुतं सङ्गतं भवेत्. नच * सूत्रकारेण "अतः प्रभवाद्" (ब्र.सू.१।३।२८) इत्यनेन शब्दाद् अर्थोत्पत्तिकथनाद् न एवम् अर्थो युज्यते * इति शङ्क्यं, परप्रसिद्ध्या परो बोधनीयइति जैमिनिसमाधानार्थं तथा कथनात्. तेन[टि.१] हि अनुपलब्धएव अर्थे चोदनाबलेन धर्मपदार्थस्य सत्तायाः तत्र प्रवृत्त्यव्यतिरेकस्य च स्वीकारात्. अतः एवं कथनं न वैदिकं प्रपञ्चान्तरं विरुणद्धि. वस्तुतस्तु [पा.भे.१४] 'प्रभव'शब्दस्य ज्ञानविषयत्वमात्रम् अर्थः. तस्मात् परविद्यानुसारेण वैदिकानां पदार्थानां नित्यत्वात् तत्रैव पदानां सम्बन्धः. लौकिकानुवादकानान्तु प्रवाहे इत्येव युक्तम्. अतएव "समाननाम..." (ब्र.सू.१।२।३०) सूत्रे 'अपि' शब्दग्रहणम्. अन्यथा एकेन सूत्रेणैव समाधिसम्भवाद् अन्यतरसूत्रस्य 'अपि' शब्दस्य च वैयर्थ्यापत्तेः. पुनःपुनः एकदा वा पदार्थोत्पत्तौ, अव्यभिचारात्मके [पा.भे.१५] सम्बन्धा(?न्ध!)नित्यत्वे, [पा.भे.१६] विशेषाभावात्. एवन्तु स्वरूपनित्यत्वं यस्य [पा.भे.१७] प्रसिद्धं धर्मसत्त्वाविच्छेदवत् तादृशं सन्तत्यविच्छेदं च आदाय उभयथा विरोधसमाधेः सार्थक्यसिद्धिरिति अयमेव सूत्रार्थः. नच * प्रवाहे शक्त्युपगमे तदवयवभूतघटादिव्यक्त्यबोधः * शङ्क्यो, 'वेद'-'पितृ'-'मात्रा'-दिपदानाम् अवयविनि शरीरप्रवाहे च शक्तानाम् अवयवबोधकत्वस्य सर्वसम्मतत्वात्. नच जैमिनीयस्मृतेः विरोधः, मन्दार्थं वेदविभागे तान् प्रति तस्य तथा निर्णयात् कलिवर्ज्यनिर्णयवत्. अतो "जैमिनीये च वैयासे न विरोधोऽस्ति कश्चन" ( ) इति पुराणवाक्यस्यापि न विरोधः. वस्तुतस्तु जैमिनेरपि व्यासवदेव आशयः. अन्यथा 'औत्पत्तिक'(जैमि.सू.१।१।५)पद- स्थले 'नैसर्गिक'पदमेव वदेत्. यत्तु "वेदवाक्यस्य न आकाशवत् नित्यत्वम्" इत्यादि उक्तं, तत् न, अवकाशोत्पत्तिनाशयोः प्रतीयमात्वेन तत्रापि तौल्यात्. लोके अवकाशातिरिक्तस्य आकाशस्य अप्रत्ययात्. काणादादिस्मृतिविश्वासेन तत्र नित्यत्वम् उपगम्य कुड्यतदभावादेः अभिव्यञ्जकत्वादिकल्पनेतु "वाचा विरूपनित्यया" (तैत्ति.संहि.२।६।११।२) "अनादिनिधना" (कूर्मपुरा.पू.वि.१।२।२७) इत्यादिश्रुतिस्मृत्यनुरोधात् स्थूलरूपेणैव नित्यत्वं वेदस्य अङ्गीकार्यम्. अन्यथा तद्वैयर्थ्यापत्तेः. तस्मात् स्वरूपनित्यत्वं वेदस्य निर्बाधम् इति दिक्.

---

१. जैमिनिना[आ].

ननु एवं सति इदानीन्तनयज्ञेषु लौकिकानां द्रव्याणां कथं विनियोगः इति चेत्, प्रोक्षणाधानादिना भगवदवयवावेशात् तदाधारत्वेन इति ब्रूमः. तेषां नित्यपरिच्छिन्नत्वाद् गमागमरूपाविर्भावतिरोभावयोः तत्र सत्त्वात्. व्यापकत्वपक्षेतु विहितकार्यानुकूलत्वरूपस्य सन्निधानस्यैव आवेशत्वात्. एवमेव फलभूतेषु देवादिलोकेष्वपि भगवदवयवात्मक-तदावेशो ज्ञेयः. अतएव तादृशाम् अधिकारसमाप्तौ मुक्तिश्रवणमपि युज्यते, वैदिकस्य प्रपञ्चस्य मोचकस्वभावत्वात्. सच शब्दैकसमधिगम्यः शब्दाश्रितएव, अर्थाश्रयत्वस्य शब्दलक्षणस्य तृतीयस्कन्धे निरूपणात्. तस्य प्रत्यक्षविरोधाभावाय आधिदैविकम् अर्थम् आदायैव समर्थनीयत्वाद्, द्वादशस्कन्धेऽपि "ततोऽभूत् त्रिवृद् ॐकारो योऽव्यक्तः प्रभवः स्वराट् यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमेष्ठिनः" (भाग.पुरा. १२।६।३९) इति ॐकारस्य ब्रह्मलिङ्गशरीरत्वकथनात् च. एतेनैव अर्थस्य वाङ्मात्रत्वं वदन्तोऽपि निरस्ताः वेदितव्याः. शब्दस्य अर्थप्रत्यायकत्वमपि अतएव ज्ञेयम्. नच मुखपाटनपूरणाद्यापत्तिः, तत्र तथा ईश्वरेच्छाऽभावात्, सहकारिण्याः विहितक्रियायाः अभावात् च. अतएव "य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेद् जायेरन् शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानि" (बृह.उप.६।३।८) इत्यादौ मन्त्रेण सेकात् फलोपदर्शनं युज्यते[टि.१]. अतो न दोषः. नच *पुरुषसूक्ते "तस्माद् विराडजायत" (ऋक्संहि.१०।९०।५) इति उत्पत्तिश्रावणात् कथं नित्यत्वम् अर्थस्य* इति शङ्क्यम्, एतस्य ततो भिन्नत्वात्. तम् उपक्रम्य तस्माद् अस्य उत्पत्तिकथनात्. *ननु तर्हि तत्रत्यानाम् अनित्यत्वात् तद्वाचकपदानां सम्बन्धस्य अनित्यत्वम् अपरिहार्यम्* इति चेत्, न, "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" (महाना.उप.५।७) "सर्ववेदमयेनेदम् आत्मनात्मात्मयोनिना प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते" (भाग.पुरा.३।९।४३) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिः प्रवाहानादित्वसिद्धौ तत्र सम्बन्धेन[पा.भे.१८] अदोषात्. लौकिकपदानामपि एषैव गतिः बोध्या. वस्तुतस्तु लोकेऽपि व्यक्तावेव पदसम्बन्धः, सूत्रन्तु वादिबुद्ध्यनुसारेण सखण्डब्रह्मवादानुसारेण च बोध्यम्.

*ननु व्यक्तीनाम् आनन्त्याद् एकत्र गृहीतसम्बन्धस्य घटादिपदैः

१. तदुभयसत्त्वाद् युज्यते इति अर्थः[(ग)].

घटान्तरबोधानुपपत्तिः दुर्वारेति, विशिष्टे सम्बन्धो वाच्यः* इति चेत्, न, ब्रह्मवादे पदार्थानां सर्वेषां भगवदभिन्नत्वेन नित्यत्वात्, कारणत्वेन अभिमतैः अभिव्यक्तिमात्राङ्गीकाराद्, एकस्यैव अनेकधा भवनेन आविर्भवनेन तिरोभवनेन च एकस्यैव सर्वत्र सत्त्वाद् आनन्त्येऽपि अदोषाद्, एकत्रैव गृहीतायां शक्तौ निर्वाहाद्, रुद्रव्यूहवद् अनुगताकारप्रतीतिसिद्धेः च, वैशिष्ट्यगौरवस्य वैयर्थ्याद्, इदानीमपि हि जातिव्यक्तिविवेकम् अजानतो बालस्य पामराणाञ्च शब्दाद् व्युत्पत्तिदर्शनात् च. प्रलये सर्वव्यक्तिनाशे जातिसमवाययोः स्थितिकल्पनस्य अत्यन्ताप्रामाणिकत्वात्, नित्यद्रव्येषु तत्स्थितेः अभ्युपगमैकशरणत्वाद्, "जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः" (भाग.पुरा.६।-१५।१८) इति षष्ठस्कन्धवाक्याद् जातेरपि कल्पनैकशरणत्वात् च, जातौ सत्तानभ्युपगमेन तस्याः असत्त्वस्य त्वयापि उपगतत्वात् च. अतः "स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः" (छान्दो.उप.७।२६।१२) इत्यादिश्रुतिभिः सृष्टिभेदेषु एकस्यैव अनेकधाभवनस्य उक्तत्वाद् दृष्टस्य पदार्थस्य स्वतो याथात्म्याज्ञाने शास्त्रतः तदवगमस्य मणिपरीक्षादौ उपलब्धेः च श्रुत्युक्तादरस्यैव ज्यायस्त्वात्. नच *अस्य वाक्यस्य, "न पश्यो मृत्युं पश्यति" (छान्दो.उप.७।२६।२) इति ज्ञानिनं प्रस्तुत्य, कथनात्, न अस्य भगवत्परत्वम्* इति शङ्क्यम्, एवमपि कैमुतिकन्यायेन भगवतः तथात्वसिद्धेः अप्रत्यूहत्वात्. 'प्रजायेय' (छान्दो.उप.६।२।३ / तैत्ति.उप.२।६) इति इच्छया अनेकधा भवनस्य श्रुत्यन्तरसिद्धत्वात्. नच *प्रमाणान्तरविरोधाद् ब्रह्माभेदबोधकागम-प्रवृत्ति-प्रतिरोधः* इति वाच्यं, प्रमाणान्तराणाम् अत्यन्तालौकिके अर्थे प्रवृत्तिरहितत्वेन अकिञ्चित्करत्वात्. अन्यथा यागादौ शारीरक्लेशस्य सर्वस्वारे[टि.१] च मरणस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन तद्विरुद्धानां यागचोदनानामपि प्रवृत्तिप्रतिरोधापत्तेः, लोकेऽपि पाकादि-प्रवृत्ति-प्रतिरोधापत्तेः च. *अथ तत्र विदुषां फलेप्सूनां ज्ञानादेः औत्कटचात् न प्रतिरोधः* इति चेत्, न, इहापि मुमुक्षूणां निरवद्यानां तथात्वेन तुल्यत्वात्. *ननु एवं यथाश्रुतार्थग्रहणे "गोअश्वाएव पशवो अन्येतु

१. 'सर्वस्वारो' नाम एकाहः क्रतुः, मरणकामस्य विहितो, "मरणकामो ह्येतेन यजेद्, यः कामयेतानामयः स्वर्गलोकम् इयाम्." सच यजमानमरणोत्तरम् अवशिष्टः ऋत्विग्भिः समापनीयः (जैमि.सू.१०।२।२३।५८)(श्या).

अपशवः" (द्र.तैत्ति.संहि.५।२।९) "आदित्यो यूपः" (तैत्ति.ब्राह्म.२।१।५।२) इत्यादावपि यथाश्रुतग्रहणापत्तिः * इति चेत्, न, "त्रयः पशूनां हस्तादानाः पुरुषो हस्ती मर्कटः. पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत च द्विपदाम्" ( ) इत्यादिश्रुत्यन्तरेअन्येषां पुरुषादीनामपि पशुत्वश्रावणात् तद्विरोधेन 'अपशवः' इत्यत्र गौण्याः[टि.१] उचितत्वात्. एवम् "आदित्यो यूपः" (तत्रैव) इत्यादावपि बोध्यम्, इदानीन्तनानां सर्ववेदादर्शित्वात्. अतएव "ग्रावाणः प्लवन्ते" ( ) इत्यस्याः सेतुबन्धे संवादोऽपि सङ्गच्छते. चिद्रूपस्य जडत्वप्रतीतिस्तु 'प्रजायेय' (तैत्ति.उप.२।६) इति इच्छयैव उपपद्यते, लीलार्थं तथात्वाङ्गीकारात्.

ननु तादृशानां वाक्यानाम् उपासना-विधिशेषत्वेन अर्थवादत्वम् इति चेद्, 'अर्थवादत्वम्' इति को अर्थः ?

(१)असदर्थबोधकत्वं वा (२)स्वार्थे अप्रमाणत्वं वा (३)स्तावकत्वं वा ?

(१)न आद्यः प्रतारकत्वापत्तेः, तन्यायेन विधिवाक्येऽपि अनाश्वासप्रसक्तेः, अपौरुषेयत्वाडम्बरेण प्रामाण्यसाधनवैयर्थ्यापत्तेः च. (२)न द्वितीयः मानाभावाद्, आस्तिकानां शब्दश्रवणमात्रेणैव तत्र प्रमाणबुद्ध्युदयात्, स्वार्थे अप्रामाण्ये विधेयस्तुत्यसिद्धेः च. (३)तृतीयः चेद् उत्कर्षाधायकगुणानां लोकाप्रसिद्धानां सतामेव विधेयस्तुत्यर्थं कथनाद् आगतमेव स्वार्थेऽपि प्रामाण्यमिति अर्थवादत्वेऽपि अदोषात्.

अतो व्यक्तेः भगवत्त्वपक्षे प्रवाहाविच्छेदपक्षे च एकत्रापि शक्तिग्रहे सुखेनैव व्यक्त्याकृत्योः बोधइति न किञ्चिद् अनुपपन्नम्. नच *ईश्वरकर्तृकत्वे वेदानाम् अनित्यत्वापत्तिः* इति वाच्यम्, (क) ईश्वरस्य नित्यत्वेन तत्प्राणभूतस्य अस्य सुतरां नित्यत्वात्, "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यद् ऋग्वेदो

१. वस्तुतस्तु "दुर्ब्राह्मणो अब्राह्मणः" इति न्यायेन नञः अप्रास्त्यार्थकत्वेऽपि प्रयोगसम्भवाद् इह गौणवृत्त्याश्रयणमपि अनावश्यकं भाति.(श्या).

यजुर्वेदस्सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः'' (बृह.उप.२।४।१०) इति श्रुतिः. (ख)''ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत'' (ऋक्संहि.१०।९०।९) इति श्रुतेः प्रतिकल्पं समान-नाम-रूप-प्रवाहेण आविर्भावेऽपि इतरवत् नामरूप-निर्माण-करणस्य अनुक्तेः च. (ग)नच अप्रामाण्यापत्तिः पौरुषेयत्वस्यअप्रामाण्यतन्त्रत्वाभा-वात्, पौरुषेयानां प्रत्याक्षादीनां प्रामाण्यस्य भवतापि उपगमात्, मानवाकर्तृकत्वेन अपौरुषेयत्वात् च; ईश्वरस्य वेदादेव सिद्धत्वेन अनपेक्षत्वस्य[टि.१] अहानेः च (घ)युक्त्यापि विचारे कर्मणां फलशेषत्वेन श्रुत्या यागस्य फलं स्वर्गादि अवसीयते, यागश्च, पाकः ओदनमिव, न साक्षात् स्वर्गं साधयति येन ईश्वरापेक्षा न स्यात्. स्वर्गश्च लोकात्मकत्वाद् ब्रह्माण्डाधिपत्यधीनः, सुखसाधनानि च तदधीनानि, अन्यथा यागेन अपूर्वे निष्पन्ने तदानीमेव स्वर्गो भवेत्, प्रतिबन्धस्य अशक्यवचनत्वाद्, दृष्टार्थापत्त्या एतद्देहादेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनेऽपि विनिगमकाभावेन श्रौतस्य ईश्वरस्यैव अङ्गीकृतेः ज्यायस्त्वात्.

तस्माद् वेदेनैव कुयुक्तिनिरासे व्यक्तावेव पदानां शक्तिः, आकृति[पा.भे.१९] पक्षे च अविच्छिन्नप्रवाह,-इति न कथमपि नित्यसम्बद्धत्वहानिः इति दिक्.

शब्दानित्यत्ववादविमर्शः :

अत्र **नैयायिकादयो** * ननु व्यर्थो अयं सम्बन्ध-नित्यत्व-साधन-प्रयासः, शब्दानित्यत्वेन दोषतादवस्थ्यात्. शब्दस्य पुरुषप्रयत्नोत्तरम् उपलभ्यमानत्वेन उपलब्धस्य द्रागेव[पा.भे.२०] तिरोभावेन च उत्पत्ति-नाश-शालित्व-निश्चयात्. नच *''सएव अयं शब्दः'' इति प्रत्यभिज्ञाबलात् नित्यत्वं* शङ्क्यं, ''शब्दं कुरु''-''मा शब्दं कार्षीः'' इति सार्वजनीन-व्यवहार-दर्शनात्, नित्यत्वे तदयोगात्. नच *अयं व्यवहारः उच्चारणविषयः* इति वाच्यं, नित्यस्य परिच्छिन्नस्य एकस्य एकदेशस्थत्वेन नानादेशावस्थित-वक्त्रुचारणेन अभिव्यक्त्ययोगाद्, अभिव्यक्तिपक्षेच, यावान् अस्ति तावतएव अभिव्यक्तिरिति

१. प्रमाणान्तरानपेक्षत्वस्य इति अर्थः(क).

बहुभिः उच्चारणेऽपि महाशब्द-श्रवणायोगात् च. तस्माद् "उत्पन्नो गकारो"-"विनष्टो गकारः" इत्यादि-प्रतीतीनां जागरूकत्वेन प्रत्यभिज्ञामात्रात् न तस्य नित्यत्वसिद्धिः, "तदेव औषधम्" इत्यादौ साजात्यम् आदाय प्रत्यभिज्ञावद् अत्रापि वक्तुं शक्यत्वात्. नच अत्र विनिगमकाभावः, उत्पत्ति-विनाश-प्रतीत्योरेव तत्त्वात् सार्वदिकत्वादर्शनात् तादृक्प्रतीतिभ्यां विना प्रत्यभिज्ञायाएव अनुदयात्. अतएव एतयोः प्रतीत्योः प्रत्यभिज्ञाबाध्यत्वं भ्रान्तित्वं च निरस्तम्.

यत्तु **आर्हताः** * वर्णानां पुद्गलाख्यान् अवयवान् अङ्गीकृत्य सावयवत्वाद् अनित्यत्वम् * **आहुः**, तत् न, प्रत्यक्षविरोधात्, वर्णेषु साकल्यवैकल्य-प्रत्ययाभावात् च. नच अनुमानेन सिद्धिः, हेत्वभावात्. नच वस्तुमात्रस्य सावयवत्वदर्शनाद् 'वस्तुत्वं' हेतुः, परमाणुषु व्यभिचारात्. तेष्वपि अवयवाङ्गीकारे अनवस्थापत्तेश्च.

तस्माद् द्रुत-विलम्बित-मध्यमोदात्तानुदात्त-स्वरितानुनासिकाननुनासिक-भेदेन व्यक्तिभेदस्य गत्वादिना साजात्यस्य च उपलम्भात् तद् आदायैव प्रत्यभिज्ञेति पूर्वोक्त-प्रतीतिबलादेव अनित्यत्वम्. सिद्धेच एवं शब्दस्य अनित्यत्वे सम्बन्धस्यापि अनित्यत्वं सिद्धमेव, सम्बन्ध्यधीनत्वात्. शब्दं निर्माय "अस्मात् शब्दाद् अयम् अर्थो बोद्धव्यः" इत्येवम् ईश्वरेण सङ्केतकरणात् च * इति **आहुः**.

तद् असङ्गतं, श्रुति-पुराण-युक्ति-विरुद्धत्वात्. तथाहि : "वाचा विरूपनित्यया" (ऋक्संहि. ८।७५।६) इति श्रुत्या, "वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुमः" (भाग.पुरा.६।१।४०), "शब्द ब्रह्म सुदुर्बोधं" (भाग.पुरा.११।२१।३६), "स्वयंभूरेष भगवान्" ( ), "वेदो गीतस्त्वया पुरा" ( ), "शिवाद्याः ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः" ( ) इत्यादिभिः पूर्वोक्तैः च पुराणवाक्यैः वेदस्वरूपस्य नित्यत्वबोधनेन तदंशानां वर्णादीनामपि नित्यत्वम् अर्थतः सिद्धमेव, प्रतीतितदभावौतु तदाविर्भावतिरोभाव-हेतुकौ. तथाहि : एकादशस्कन्धे "स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टो

मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः" (भाग.पुरा.११।१२।१७) इति "शब्द ब्रह्म सुदुर्बोधम्" (भाग.पुरा.११।२१।३६) इति च भगवद्वाक्यात् "समाहितात्मनो ब्रह्मन्" (भाग.पुरा.१२।६।३७) इत्यादि-द्वादशस्कन्ध-वाक्यात् च ब्रह्मणो भगवतो वा हृदयाकाशे आसन्येन करणेन स्वयमेव भगवान् नादात्मना आविर्भवति. स पूर्वम् अव्यक्तएव ततो नानावर्णादि-सङ्कल्पक-मनोमयं सूक्ष्मं रूपं प्राप्य भगवन्मुखतो ब्रह्ममुखतो [पा.भे.२१] वा प्रकटः सन् मात्रा-स्वर-वर्णात्मना स्थूलरूपेण शब्दब्रह्मात्मक-वेदरूपः प्रकाशते. सच नादो व्यापकत्वाद् अस्मदादिष्वपि प्राणघोषरूपेण वर्तते. श्रोत्रवृत्तिनिरोधे कृते भगवतैव जीवः तं शृणोति. अन्यथा तच्छ्रवणं न स्याद् द्वारस्य निरुद्धत्वात्. द्वाराभावे जीवस्य स्वतः कार्याक्षमत्वात्. सएव नादः 'स्फोट' पदवाच्यः, "स्फुटति वाग् अनेन" इति व्युत्पत्तेः. अतः सएव सुषुम्णामार्गेण [१]आधार-[२]हृत्-[३]कण्ठ-[४]मुखेषु [१]परा-[२]पश्यन्ती-[३]मध्यमा-[४]वैखरी-रूपेण प्रकटीभवति. ब्रह्मणः सच्चिदानन्दाइव शब्दब्रह्मणो वर्णपदवाक्यानि नामानि. यथा तेषां वस्तुतो भेदाभावेऽपि सत्ता-प्रकाश-प्रीति-धर्मकत्वाद् भेदः, एवम् एतेषामपि तत्तदर्थप्रत्यायकत्वात् स्वरूपैक्यात् च भेदाभेदौ. तेषामिव एतस्य अंशानामपि वर्णादीनां पूर्णत्वं षड्धर्मत्वं च. तत्र ऐश्वर्यादयइव अत्रापि [१]सूक्ष्मत्व-[२]नित्यत्व-[३]व्यापकत्व-[४]परिच्छिन्नत्वा-[५]ऽनन्तरूपत्व-[६]बहुरूपत्वानि. तत्र सूक्ष्मत्वन्तु हृत्कण्ठयोः स्वयम् अनुभूयमानत्वेऽपि परानुभवायोग्यत्वाद् ज्ञेयम्. शब्दस्य नित्यत्वव्यापकत्वेतु जैमिनिनैव सूत्रिते. [पा.भे.२२]

तत्र **गुरवः** ※ नित्यः शब्दो व्योमैकगुणत्वात् तत्परिमाणवद् इति — **भाट्टास्तु** श्रावणत्वात् शब्दत्ववद् इति, निःस्पर्शद्रव्यत्वाद् आत्मवद् इति, वर्णो नित्यो ध्वन्यन्यशब्दत्वात् स्फोटवद् इतिच — **प्रयुञ्जानाः** प्रत्यभिज्ञाबलाद् अनुमानस्य अप्रयोजकत्वं निरस्य नित्यत्वं ※ **साधयन्ति.** नच [पा.भे.२३]※प्रत्यभिज्ञायाः सजातीयविषयत्वाद् न तथा अप्रयोजकत्वनिरासः ※ इति वाच्यं, तस्याः तथात्वे मानाभावात्. वर्णेषु कत्वादिजातेरेव असिद्धेः जातेरेव अशक्यवचनत्वात्. यथा एकस्य पुंसो बाल-कुमार-युव-वृद्ध-स्थूल-कृश-भावेषु अवस्थाभेदेऽपि न साजात्यम् अङ्गीक्रियते तथा द्रुताद्यवस्थाभेदेऽपि शब्दैक्यमेव

नतु साजात्यम् इति निश्चयाद्, ''अनेन अकारो द्रुतम् उच्चारितो अनेन विलम्बेन'' इति धर्ममात्रभेदावगाहात्, खण्डमुण्डगोव्यक्त्योरिव ''अयम् अकारो द्रुतो — अयं विलम्बितः'' इति धर्मिभेदानवगाहात् च. एवं सिद्धे शब्दैक्ये व्यक्त्यभेदात् न तत्र कत्वादिजातिः शक्यवचनेति दूरापास्तं प्रत्यभिज्ञायाः सजातीयविषयत्वम्.

ननु बाल्यकार्श्यादीनां क्रमिकत्वाद् युक्तः एकस्मिन् पुंसि समावेशः, उदात्तादीनान्तु युगपद् अनेकवक्त्रुच्चारिते वर्णे समवेतानाम् इतरेतरविरुद्धानाम् एकस्मिन् समावेशो न वक्तुं शक्यइति विरुद्धधर्मैः सिद्धे धर्मिभेदे सुखेन जातिसिद्धिः इति चेत्, न, एतेषां ध्वनिधर्मत्वेन वर्णधर्मत्वाभावात्. नच वर्णधर्मत्वप्रत्ययानुपपत्तिः, अल्पे महति च दर्पणे युगपद् दृश्यमाने एकस्मिन्नेव मुखे युगपत् महत्त्वाल्पत्वप्रतीतिवद् उपपत्तेः. *ननु सिद्धे वर्णव्यक्त्यैक्ये उदात्तत्वादीनां ध्वनिधर्मत्वसिद्धिः, नतु ततः पूर्वं[टि.१], तत्तु उक्तप्रतीत्या बाधे न पूर्वं सिद्ध्यतीति कथम् एतत्सिद्धिः[टि.२]* इति चेत्, न, अर्थप्रत्यायकत्वेनैव तस्य सिद्धत्वात्. त्रिक्षणावस्थायित्वे प्रत्युच्चारणम् अन्यस्यान्यस्य क्रियमाणत्वेन शक्तिग्रहणासम्भवाद् अगृहीतशक्तिकस्य च अप्रत्यायकत्वात्. अतः चिरस्थायित्वम् अङ्गीकार्यम्. ततश्च सिद्धे स्थायित्वे नाशकस्य अभावाद् अनश्वरत्वसिद्धिः. अनश्वरभावत्वेन च अनुत्पन्नत्वसिद्ध्या नित्यत्वसिद्धिः इति. नच *गृहीतशक्तिकसदृशो अन्यः प्रत्याययिष्यति* इति वाच्यं, विकल्पासहत्वात्.

तथाहि : स किम् (१)अवगतसादृश्यः प्रत्याययिष्यति उत (२)अनवगतसादृश्यः ?

(१)न आद्यः, ज्ञातसम्बन्धेन उच्चारितमात्रे अर्थवति शब्दे नष्टे, वीचीतरङ्गवत् कर्णपथम् आगतस्य तत्सन्तानस्य अनर्थकस्य सदृशत्वेऽपि, व्युत्पित्सुना सादृश्यानवगमेन ततो अर्थप्रत्ययासम्भवाद्; ग्रहणदशायां तस्य नष्टत्वाद् आवापोद्वापाभ्याम् एकस्य द्विस्त्रिः उपलम्भाभावेन अन्वयव्यतिरेकानव

१. व्यक्त्यैक्यसिद्धेः पूर्वम् इति अर्थः(श्या). २. ध्वनिधर्मत्वसिद्धिः इति अर्थः(श्या)

धारणे शक्तिग्रहस्यापि असम्भवात् च. नच *व्युत्पत्तिसमये बहुषु शब्देषु सदृशेषु यः पश्चात् श्रूयते स शक्तिग्रहं लभते[पा.भे.२४], ततो गृहीतायां शक्तौ, ये तदुत्तरकालाः ते अर्थवत्सादृश्याद् अर्थं प्रत्याययिष्यन्ति* इति वाच्यं, (क)व्युत्पन्नानां व्यवहारकालस्यैव व्युत्पित्सु-व्युत्पत्ति-कालत्वेन तदानीम् उपलभ्यमानस्य एकस्यैव शब्दस्य व्युत्पित्सुं प्रति मुख्यम् अर्थवत्त्वम् — अन्यान् प्रति अर्थवत्सादृश्याद् गौणम् — इतरान् प्रति च अनर्थकत्वम् इति विरोधापत्तेः, (ख)पाश्चात्यस्यैव शक्तिग्रहलाभे[पा.भे.२५] मानाभावात् च, (ग)परबोधनार्थं शब्दोच्चारणाद् उक्तरीत्या च अबोधप्रसङ्गाद् अनुच्चारणापत्तेः च.

(२)न द्वितीयः, 'गो'शब्दादपि अश्वबोधापत्तेः. *ननु तत्र वैसादृश्यप्रतीतिः बाधिकेति अदोषः* इति चेत्, तर्हि यत्र न बाधिका प्रतीतिः कीदृशी सा? इति पूर्वं निर्णेयम्. तत्र न तावत् 'स' इत्याकारिका (इति!) तव शक्यवचनम्, ऐक्यापादकत्वात्. नापि 'तत्सदृशः' इति, तदनवगमात्. नापि इतरा, उक्ताभ्यः तिसृभ्यः इतरस्याः अनिर्वाच्यत्वात्. अथ अनवगते सादृश्ये सादृश्यं मन्वानस्य अर्थप्रत्ययः इति चेत्, न, वदतोव्याघाताद्, उन्मत्तप्रलापत्वापत्तेः च. अतो अर्थप्रत्ययबलादेव वर्णव्यक्त्यैक्यसिद्ध्या निष्प्रत्यूहं शब्दस्य नित्यत्वसिद्धिः. नित्यत्वएव च आकृतिरूपेण अर्थेन सम्बन्धः, आकृतिं निर्दिश्य कर्त्रा सम्बन्धकरणस्य भवदभिमतत्वात्. अनित्यत्वे एकस्यामेव गोव्यक्तौ बहूनाम् आकृतीनां सत्त्वाद् 'गो' शब्दं विना तद्वाच्याम् आकृतिम् इतरपार्थक्येन कथं वा कर्ता उपदिशेत्? नित्यत्वेतु तस्यैव शब्दस्य बहुशः उच्चारणाद् व्युपित्सोः समानासमानव्यक्तिषु अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् आकृतिवचनत्वं गमयेद् अतोऽपि नित्यः इति.

शङ्करभाष्येतु[टि.१] *सिद्धे नित्यत्वे यत्र एकस्य शब्दस्य अनेककृत्वः उच्चारणं तत्र "अष्टकृत्वो गोशब्दः उक्तो, दशकृत्वः उक्तः" इति लोकोक्तिःसार्वजनीना सङ्गता भवति. तेन प्रत्यभिज्ञापि तत्तद्-व्यक्ति-विषयत्वाद् अबाधितैव. यदिच तत्र अष्टौ 'गो' शब्दान् प्रतीयुः "अष्टौ 'गो' शब्दाः"

१. यद्यपि अ पाठेऽपि 'शङ्करभाष्ये' इत्येव उपलभ्यते तथापि 'शाबरभाष्ये' इति पाठः उचितो भाति, विषयस्यास्य शाबरभाष्ये(१।१।२०) उपलम्भात् शाङ्करभाष्येतु अनुपलम्भात् च(श्या).

इति वदेयुः. नच *अत्र सादृश्येन तथा उक्तिः* इति वक्तुं शक्यं, 'सदृशः' इति प्रत्ययाभावात्. अन्यत्वावगमकप्रमाणाभावेन तदनवगतौ सादृश्यस्य अशक्यवचनत्वात्. नच *नाशप्रत्ययएव मानम् * इति वाच्यं, पुनः-पुनः उपलम्भेन तस्य भ्रमत्वाद्, अनुपलम्भमात्रेण नाशकल्पनस्य मूर्खगोचरत्वाद्* (शाब.भा.१।१।२०) इत्यपि उक्तम्.

नच *नित्यत्वेऽपि परिच्छिन्नत्वाद् युगपत् नानादेशावस्थित-वक्त्रुच्चारणेन अभिव्यक्त्ययोगः* इति शङ्कनीयं, तस्य सर्वगत्वेन नाना-देश-स्थित-वक्तृ-प्रयत्न-निष्पन्नैः ध्वनिभिः स्वस्वदेशे अभिव्यज्यमानत्वेन सुखेनैव उपपत्तेः. नच सर्वगतत्वे मानाभावः, अबाधितप्रत्यभिज्ञायाएव तत्रापिमानत्वात्. अन्यथा अन्यत्वस्यापि प्रत्ययापत्तेः. *ननु अभिव्यक्तिपक्षो अनुपपन्नो, अभिव्यक्तिर्हि प्रतिबन्धकनिरासेन संस्कारविशेषाधानेन वा भवति, अत्र च प्रतिबन्धकानुपलम्भाद् यत्किञ्चित् तत्कल्पनेऽपि तन्निवारणे सर्वेषां शब्दानां व्यापकत्वेन सर्वश्रोत्रेष्वपि अवस्थितत्वात् सर्वे सर्वस्य प्रत्यक्षाः स्युः. अतः संस्काराधान[पा.भे.२६]पक्षो ग्राह्यः. तत्र कौष्ठ्यवायवः प्रयत्नोत्थापिताः चेत् शब्दं संस्कुर्युः, तर्हि तस्य एकस्य अनवयवस्य व्यापकस्य सुघ्नस्थकौष्ठ्यवायुभिः संस्कारे पाटलिपुत्रेऽपि उपलम्भापत्तिः. श्रोत्रं चेत् संस्कुर्युः तर्हि, (१)काणाद-(२)कापिल-(३)वैदिकानां मते (१)व्योमा-(२)ऽहङ्कार-(३)दिगात्मकस्य तस्यापि व्यापकत्वादिधर्मकत्वाद्, यत्र क्वापि संस्कारे सर्वत्र तथात्वात् पूर्वोक्तएव दोषइति अभिव्यक्तिपक्षो अनुपपन्नः* इति चेत्, न, कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नस्यैव नभआदेः श्रोत्रत्वेन तस्याः प्रतिशरीरं भेदात् तदवच्छिन्नस्य श्रोत्रस्यापि भिन्नत्वाद्, यस्यैव संस्कारः तत्रैव अभिव्यक्तिरिति अदोषाद्, ध्वनीनाञ्च ताल्वादिस्थानविशेषेण विलक्षणसामर्थ्यानामेव उत्पन्नत्वात्, तेन-तेन ध्वनिना तत्तच्छब्दश्रवणानुगुणसंस्कारस्य आधानात्, तत्तच्छब्दस्यैव संस्काराद् वा न सर्वशब्दश्रवणम्[पा.भे.२७] इति उपपत्तेः च.

तस्माद् न अभिव्यक्तिपक्षे कश्चिदपि दोषइति व्यापकत्वम् उपपन्नमेव. व्यापकत्वादेव च सूर्यवद् युगपद् अनेकदेशेषु उपलम्भः सूत्रे उक्तः. विन्ध्य-कामरूप-हिमवद्-रैवतादि-स्थितैः उद्यन् प्राच्यां, मध्याह्ने उपरि, अस्तं

यन् प्रतीच्यां, भास्वान् अवलोक्यते. तेषाञ्च प्राच्यादयो भिन्नाः तत्र सर्वत्र युगपदेव सर्वैः ईक्ष्यमाणोऽपि न स भिन्नः, तथा शब्दोऽपि इति. नैयायिकान् प्रति तु नानादर्शेषु युगपद् उपलभ्यमानं मुखमपि शास्त्रदीपिकायां दृष्टान्तितम्. तथाच : ''वर्णः सर्वत्र एकः, नानादेशेषु युगपद् उपलभ्यमानत्वात् सूर्यवत् नानादर्शोपलभ्यमानमुखवत्''[पा.भे.२८] च इति अनुमानादपि तत्सिद्धिः.

* ननु जैमिनीयरीत्या शब्दनित्यत्वव्यापकत्वे न शक्यवचने, वर्णैक्यसाधकानां हेतूनां शिथिलत्वात्.

तथाहि :—

(क) ''विमतं देवदत्तशरीरं प्रतिक्षणोत्पादविनाशशालि, प्रतिक्षणम् अन्यान्यावस्थाकत्वात् दीपज्वालावत्.

(ख) ''प्रतिक्षणम् अन्यान्यावस्थाकं, स्थूल-कालिक-विशेषावस्थाभिः तथात्वेन प्रमितत्वाद् वियद्गच्छज्जयोतिर्गणवद्.''

इति अनुमानाभ्यां परिमाणभेदेन च सिद्धे पुंशरीरस्य अन्यान्यत्वे तत्रापि साजात्यमेव अङ्गीकार्यम्. तथाच ''''सोऽयं देवदत्तः' इति प्रत्यभिज्ञा साजात्यावलम्बिनी, सजातीयावगाहित्वाद्, दीपार्चिः-स्रोतोजल-वनस्पति-फलौषधादि-प्रत्यभिज्ञावद्'' इति अनुमानसिद्धत्वात्, सापि सजातीयविषयेति न उक्त-दृष्टान्त-प्रत्यभिज्ञाभ्यां वर्णैक्यत्वसिद्धिः. नापि अर्थप्रत्यायकत्वेन, सादृश्यप्रयुक्तैक्यभ्रमादेव अर्थाप्रत्ययस्यापि सिद्धेः. नच शक्तिग्रहासम्भवः शङ्क्यः, कर्णपथम् आगतस्य शक्तिग्राहकत्वे बाधकाभावात्. नच * ''व्युत्पन्नानां व्यवहार...''इत्यादिना उक्तो विरोधएव बाधकः * इति वाच्यं, प्रतियोगिभेदेन एकस्मिन्नेव पितृत्व-पुत्रत्व-भ्रातृत्व-पतित्व-भृत्यत्ववद् एकस्मिन् शब्देऽपि श्रोतृभेदेन[पा.भे.२९] सार्थकत्वानर्थकत्वादेरपि अविरोधात्. नच पाश्चात्यस्य शक्तिग्राहकत्वे मानाभावो, बोधरूपफलादेव अनुमेयत्वात्. नच * अनित्यत्वे आकृतिरूपेण अर्थेन सम्बन्धो न शक्यवचनः * इति

वाच्यं, तस्याअपि अनित्यत्वात्. 'आकृति' पदेन जातेः अभिप्रेतत्वेऽपि द्वादशे अहनि नामकरणवद् व्यक्त्युत्पत्त्युत्तरं जातिविशिष्टे सम्बन्धकरणेऽपि बाधकाभावात्. एवं निरस्ते नित्यत्वे व्यापकत्वमपि अनवसरेणैव पराहतं, तद्विचारस्य स्थित्यधीनत्वात् कण्ठताल्वादि-स्थाननिर्देशानुपपत्तेः च. अतो न जैमिनीयानुसारेण नित्यत्वव्यापकत्वयोः सिद्धिः * इति चेद्,

अत्र उच्यते —

न एवं कुयुक्तिभिः वर्णस्य नित्यत्वव्यापकत्वे प्रतिक्षेप्तुं शक्ये, उक्तदृष्टान्तादिभिः तत्सिद्धेः अप्रत्यूहत्वात्, पुरुषशरीरक्षणिकत्वसाधकस्य हेतोः उपहितत्वाद्, अनित्यत्वजन्यत्वादीनां तत्र उपाधित्वाद् — अन्यथा क्षणिकवाद-प्रसक्त्या नित्यद्रव्योच्छेदप्रसङ्गाद्, विशेषणभूतैः नानाज्ञानेच्छाप्रयत्नैः नानाशब्दैः नानासंयोगैः आत्माकाशपरमाणुमनस्सु नानावस्थानां सिद्धत्वात्, तत्र आत्मत्वादिवैशिष्ट्येन नित्यत्वाबाधोपगमेतु अत्रापि पुरुषत्वादिवैशिष्ट्येन स्थिरत्वाबाधस्य शक्यवचनत्वात् च. अन्यथा निषेक-जनन-सामयिक-शरीराभावेन पितृपुत्रादिभावाभावात् तत्र यथेच्छाचारापत्त्या, पुत्रासंस्काराद्यापत्त्या, वैवाहिकशरीरयोः नष्टत्वेन स्वपत्नीगमनादावपि व्यभिचारादिप्रसक्त्या च सर्वधर्मोपप्लव-व्यवहारलोपयोः प्रसङ्गात् च.

नापि परिमाणभेदेन अन्यत्वसिद्धिः, भस्त्रावत्, संकोचविकासात्मक-परिमाणवत्त्वस्यापि शक्यवचनत्वात्, कर्षणबृंहणचिकित्साभिः तथा दर्शनात्, शब्दे तदभावेन शङ्कायाएव अनुदयात् च.

नच * नित्यप्रलयबोधक-पुराण-विरोधः * शङ्कनीयः, तत्र आरभ्यारम्भ-कवादाभावेन उक्तदोषाभावात्. परिणामवादे उत्पत्तिप्रलययोः बहिरन्तर्भावरूपत्वेन कारणान्तःकार्यस्य सत्त्वात्, कारणस्यैव वा तेन रूपेण सत्त्वाद्, वस्तुनाशाभावात्. अतएव, "आत्मावै पुत्रनामासि त्वं जीव शरदः शतम्" (शत.ब्राह्म.१४।९।४।२६) इति "स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते" (भाग.पुरा.१।७।४५) इत्यादिश्रुतिस्मृतयोऽपि सङ्गच्छन्ते.

तस्मात् पुरुषे धर्ममात्रभेदेन प्रत्यभिज्ञायाः न सजातीयविषयत्वम् इति

निश्चयः. एवं शब्देऽपि बोध्यम्.

शब्दोत्पत्तितच्छ्रवणप्रक्रियाविमर्शः :

यस्तु शब्दोत्पत्त्यादिक्रमः * शङ्खादिवायुसंयोगात् निमित्तात् शङ्खाद्याकाश-संयोगाद् असमवायिकारणात् केचन ध्वनयः उत्पद्यन्ते. केचनतु ध्वनयः वेण्वादौ पाट्यमाने[पा.भे.३०] दलद्वयविभागात् निमित्ताद् दलाकाशसंयोगाद् असमवायिकारणाद् उत्पद्यन्ते. वर्णास्तु स्मृतिविशेषसहकृताद् आत्ममनःसंयोगाद् आत्मनि वर्णोच्चारणेच्छायां ततः प्रयत्ने च उत्पन्ने प्रयत्नवदात्मसंयोगात् प्राणादिवायोः कर्म. ततः तेन कर्मणा ऊर्ध्वं गच्छन् प्राणादिः, कण्ठताल्वाद्यभिघातात् निमित्तात्-कण्ठाकाशसंयोगाद् असमवायिकारणाद् 'अ'कारादि-'क्ष'कारान्तानाम् अनुक्तानां च, उत्पत्तिं करोतीति कण्ठादिस्थाने ते(-ते!) उत्पद्यन्ते. शब्दश्च आकाशस्यैव गुणइति तत्तदवच्छिन्नाकाशएव उत्पद्यते. उक्तेषु द्विविधेषु ध्वनिषु वर्णेषु च आद्याएव संयोगासमवायिकारणकाः, द्वितीयादयस्तु पूर्वपूर्वशब्दासमवायिकारणकाः. प्रथमतः संयोगाद् विभागाद् वा एकः शब्दः उत्पद्यते. सच निमित्तवाय्वाद्यनुसारेण कदम्बगोलकन्यायाद्[टि.१] दशदिक्षु दशशब्दान् उत्पादयति, तैश्च प्रत्येकं दशदशशब्दाः उत्पाद्यन्तइति. वीचीतरङ्गन्याये[टि.२]तु एकैकशब्दस्यैव आरम्भइति विभुविशेषगुणनाम् असमवायि-कारणप्रादेशिकत्वनियमेन अव्याप्यवृत्तित्वम् एषाम्. अग्रिमाग्रिमशब्दनाश्यत्वञ्च कदम्बमुकुलक्रमेण वीचीतरङ्गक्रमेण वा कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ने नभसि उत्पद्यमानः शब्दः श्रोत्रेण प्रत्यासन्नत्वाद् गृह्यते. "भेरीशब्दएव अयम्" इति प्रत्यभिज्ञातु "सोऽयं दीपः"- "तदेव औषधम्" इत्यादाविव सजातीयत्वपुरस्काराद्* इति **नैयायिकादिभिः उच्यते.**

तद् असङ्गतमेव, अव्याप्यवृत्तित्वार्थम् असमवायिप्रादेशिकत्वस्यकदम्ब-मुकुलादि-न्याय-विरुद्धत्वात्, प्रदेशान्तरएव कदम्बमुकुल-वीचीतरङ्गयोः दर्श-नात्. किञ्च कदम्बमुकुलन्यायेन दूरपर्यन्तम् उत्पत्तौ तत्तदवान्तरदेशस्थानाम् अश्रवणापत्तिः. यावदन्तम् एकैक(ना)श्येन[पा.भे.३१] दशदशशब्दारम्भे च अप्रामाणिकानन्तशब्द-तत्प्रागभाव-विराम-कल्पना-गौरवापत्तिः.

१. कदम्बो वृक्षविशेषः, तस्य मुकुलः ईषद्विकसितं पुष्पम्. गोलाकारकदम्बपुष्पस्य गोलके यथा सर्वावयवेषु युगपत् पुष्पाणाम् उत्पत्तिः एवं शब्दस्यापि इति भुवनेशलौकिकन्याय-साहस्र्याम्(श्वा). २. पूर्वस्मात् तरङ्गाद् अपरस्य तरङ्गान्तरस्य उत्पतिः इति अर्थः(श्वा).

वीचीतरङ्गन्यायेच मन्दोच्चारणेऽपि तारश्रवणापत्तिः, प्रथमवीचीतः उत्तरोत्तरं द्वितीयादीनाम् आधिक्यदर्शनात्, शब्देच तारत्वातिरिक्तस्य आधिक्यस्य अशक्यवचनत्वात् बहुदेशव्यापित्वस्य परिमाणप्रसञ्जकत्वेन गुणत्वहानिद्रव्यत्वयोः आपत्तेः च. किञ्च आद्यमध्यमशब्देषु कार्यशब्दनाश्यत्वस्य, अन्तिमशब्दे च सुन्दोपसुन्दवत् परस्परनाश्यत्वोपान्त्यध्वंसनाश्यत्वयोः अन्यतरस्य अग्रिमानुत्पादनेन च अन्त्यत्वस्य, वक्तव्यत्वात् तन्निर्वाहाय उत्पादनप्रतिबन्धकादृष्टादेः च वक्तव्यत्वाद्[पा.भे.३२] गुरुतरा प्रामाणिकानन्तकल्पनापत्तिः.

तस्मात् न अयं क्रमः.

कथं तर्हि शब्दश्रवणम्?

इति चेद्, उच्यते —

अन्तर्बहिश्च शब्दोत्पत्तौ वायुरेव प्रायशः निमित्तं, क्वचिद् घर्षणादिनापि ध्वनिदर्शनात्. समवायिनस्तु पञ्चापि भूतानि. सहि आकाशस्य वैशेषिको, अन्येषान्तु कारणतः प्राप्तत्वात् सामान्यः. एवं सति ध्वनिः यत्र उत्पद्यते ततः कियद्दूरं स्वभावतएव चतुर्दिक्षु गच्छति, विसारित्वात्, तेन निकटस्थाः शृण्वन्ति. मध्यतारादयस्तु बहिः वायुना नीयन्ते, तृतीयस्कन्धे "नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः" (भाग.पुरा.३।२६॥३७) इति वायोः कर्मलक्षणेन अनुवात-प्रतिवात-श्रवणाश्रवणाभ्याञ्च तथानिश्चयात्. वायूढः शब्दोऽपि "सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रम् एकायनम्" (बृह.उप.२।४।११) इति श्रुतेः तत्तच्छ्रोत्रेषु अंशतो लीयमानएव गच्छतीति सर्वांशैः लीनो अग्रे न श्रूयते. दाह्याभावे वन्हेरिव स्वभावतः कालादिना च तस्य नाशः. एवं भेर्यादिशब्देऽपि तदवगाहिन्येव प्रत्यभिज्ञा, बाधकाभावात्, नतु सजातीयावगाहिनी, प्रमाणाभावात्. *ननु विसरणं नाम स्वाश्रयाधिकदेशवृत्तित्वम्. तच्च आकाशीये शब्दे न सम्भवति, आकाशस्य व्यापकत्वात्. नापि भौमादिशब्दे, गुणसत्त्वे द्रव्यसत्त्वस्य नियामकत्वात्. अन्यथा रसादेरपि अतिरेकापत्तेः* इति चेत्, न, आकाशस्य व्यापकत्वेऽपि

तत्प्रदेशानाम् अव्यापकत्वेन अनुपपत्त्यभावात्. शब्द-चैतन्य-भास्वररूप-गन्धातिरिक्त-गुणसत्त्वएव द्रव्यसत्त्वस्य नियामकत्वाङ्गीकारेण भौमादिशब्देऽपि तदभावात्, कल्पनायाः दृष्टानुसारित्वात्. नच *शब्दस्य निरवयवत्वाद् गमनासम्भवः* इति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वात्, परमाणौ त्वयापि तदङ्गीकारात् व्यापकत्वस्यैव तत्प्रतिबन्धकत्वाद्, अंशतो नाशदर्शनेन निरवयवत्वस्य विप्रतिपन्नत्वात् च. नच *सावयवत्वेन स्पर्शवत्त्वेन व्याप्तेः शब्देऽपि स्पर्शवत्त्वापत्तिः* इति वाच्यं, व्याप्तेः द्रव्यगर्भत्वात्, सावयवद्रव्यस्यैव स्पर्शवत्त्वदर्शनात्. इदमपि गुणत्वम् उरीकृत्य उक्तं, द्रव्यत्वाङ्गीकारेतु तत्रापि इष्टापत्तिः इति दिक्.

तस्माद् ''ध्वनिरपि घटादिवत् चिरस्थायी वायुना नीयते. सएव मुखादिजन्यो वर्णं व्यञ्जयतीति तस्यैव श्रवणमिति तदैक्यज्ञानस्य न भ्रमत्वम्'' इति जैमिनीयमतस्य उपपन्नत्वाद् वर्णादीनां नित्यत्वं सुस्थिरमेव. ततश्च प्रत्यभिज्ञाबलादेव व्यापकत्वेऽपि सिद्धे तदुपलम्भे आदित्यदृष्टान्तोऽपि युक्तएव, तथा मुखदृष्टान्तोऽपि, प्रतिबिम्बानभ्युपगन्तृमते स्वस्थानस्थस्यैव मुखस्य दर्पणपरावृत्तचक्षुषा ग्रहणवद् इहापि स्वस्थानस्थवर्णादिः ध्वनिसंस्कृतश्रोत्रेण ग्रहणस्य सुवचत्वात्. नच *व्याकरणे कण्ठताल्वादिस्थाननिर्देशात् परिच्छिन्नत्वं* शङ्क्यम्, अशरीरिण्या आकाशवाण्या वाक्ये व्यभिचारात्. नच निर्देशविरोधः शङ्क्यः, व्यापकात्मवादिमते शरीरस्य आत्मवृत्तिलाभस्थानत्ववत् कण्ठादीनां वर्णाभिव्यक्तिस्थानत्वेनापि उपपत्तेः.

*ननु श्रोत्रस्य प्राप्यप्रकाशकारित्वेन कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नस्य तस्य ध्वन्युत्पत्तिदेशाप्राप्त्या कथं देशविशिष्ट-वर्णग्रहणम्? * इति चेद्,

अत्र **पार्थसारथिमिश्राः** * ध्वनिसामर्थ्याद् इति ब्रूमः. ध्वनीनां श्रोत्रदेशम् आगत्य शब्दं व्यञ्जतां स्वोत्पत्ति-देशाभिव्यक्त-शब्द-भासन-दर्शनेन सामर्थ्याध्यवसायात्. अनित्यवादिनोऽपि श्रोत्रागतस्यैव शब्दस्य ग्रहणात् तादृशप्रत्ययोपपादने गत्यन्तराभावेन तौल्यात् च * इति **आहुः**.

वयन्तु : * देशप्रतीतिस्तु न तदभिव्यञ्जकध्वनिमात्रसामर्थ्यात् किन्तु ध्वन्युपनायकवायुसामर्थ्यात्. "नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः" (भाग.पुरा.३।२६।३७) इति तृतीयस्कन्धे वायोः कार्यलक्षणाद् अनुवात-प्रतिवात-श्रवणा-श्रवणाभ्यां च वायुरेव ध्वनिं नयन् देशमपि प्रत्याययति इति निश्चयाद् * इति **वदामः**. एवञ्च दिशः स्वातन्त्र्येण श्रोत्रग्राह्यत्वाभावेऽपि शब्दे गृह्यमाणे तद्विशेषणतया दिगपि श्रोत्रेण गृह्यते इति दृष्टबलाद् अङ्गीक्रियते कालवत्. यथा कालो न स्वातन्त्र्येण इन्द्रियैः गृह्यते विषयेषु गृह्यमाणेषुतु सर्वैरपि इन्द्रियैः गृह्यते तद्वत्.

यत्तु **सौगताः** श्रोत्रस्य प्राप्यप्रकाशकत्वम् **आहुः**, तत् न, संनिकृष्टविप्रकृष्टयोः युगपद् उपलम्भापत्तेः.

एवञ्च शब्दाभिव्यञ्जकाः ध्वनयः श्रोत्रागताः गृह्यन्तइति बहुभिः उच्चारणे भूयांसः ते समायान्तीति शब्दोऽपि महानिव आभासते, न तावता तत्र अल्पत्वभूयस्त्वे, तस्य देशज्ञानवद् भ्रमत्वात्. एवमेव उत्पत्तिनाशप्रत्ययोऽपि तदभिव्यञ्जकध्वनिगोचरः प्रत्ययः शब्दे तौ प्रसञ्जयति नतु तत्र तौ, अनुपपत्तेः उक्तत्वात्. तस्मात् शब्दस्य नित्यत्वं व्यापकत्वं च अव्याहतमेव. * ननु व्यापकत्वं तथापि दुर्वचमेव, श्रोत्रसंस्कारपक्षे ध्वनिसंस्कृत-श्रोत्राभिव्यक्त-शब्दनिष्ठ-'क'त्वादीनामिव तद्व्यापकत्वस्यापि श्रोत्रेण ग्रहणे बाधकाभावाद्, दृगयोग्याकाशधर्मस्य अवकाश-भूयस्त्वाल्पत्वादेः दृशा ग्रहणवत्. नच * प्रदेशतएव अभिव्यज्यते * इति वाच्यं, तथा सति खण्डइव श्रूयेत. एवं शब्दसंस्कारपक्षेऽपि बोध्यम्. नच * ध्वनिषु तदभिव्यञ्जनसामर्थ्याभावः कल्पनीयः * इति वाच्यं, तथा सति परिच्छेदप्रतीतौ भ्रमत्वस्य तज्जनकदोषस्य च कल्पनीयतया अतिगौरवादिप्रसङ्गात्. परिच्छेदाभावेऽपि विनिगमकाभावात् च इति चेद्, उच्यते, न दुर्वचं, प्रादेशमात्रत्वेऽपि अभिविमाने परब्रह्मणीव शब्दब्रह्मण्यपि विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य सुघटत्वेन तदंशानां वर्णादिनामपि तथात्वाद् व्यापकत्वपरिच्छिन्नत्वयोः अविरोधेन अदोषात्. नच * अंशत्वं बाधकम् * इति वाच्यम्, आत्मवद् उपपत्तेः, "एकः शुद्धोऽक्षरो नित्यः सर्वव्यापी तथा

पुमान् सोऽप्यंशः सर्वभूतस्य, मैत्रेय!, परमात्मनः" (विष्णुपुरा.६।४।३६) इति विष्णुपुराणे विभोरपि पुरुषस्य नभस्तलकल्पस्य ब्रह्मांशत्वकथनात्. प्रकृतेऽपि शब्दब्रह्म प्रकृत्य "भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते" (भाग.पुरा.११।२१।३७) इति श्रीभागवते कथनात् तदनुभवात् च सर्वत्र शब्दब्रह्मसत्त्वस्य अबाधितप्रत्यभिज्ञया तदंशभूतवर्णादिसत्त्वस्य अबाधितपरिच्छेदप्रतीत्या परिच्छिन्नत्वस्य च प्रत्यक्षबलसिद्धत्वात्. अतः भाट्टमते आकृतेः भिन्नाभिन्नत्ववद् वर्णानामपि उभयविधत्वे न कोऽपि विवादलेशः.

शब्दस्य अर्थप्रत्यायकत्वं वर्णैः पदैः वाक्यैः वा? :

ननु पूर्वं मीमांसकमतेन [पा.भे.३३] प्रत्यभिज्ञाबलात् शब्दस्य नित्यत्वादिकम् अङ्गीकृतं, प्रत्यभिज्ञायाः तदेकविषयत्वं च, शब्दस्य अर्थप्रत्यायकत्वबलात्. अतो नित्यत्वादिप्रयोजकम् अर्थप्रत्यायकत्वं वर्णादीनां त्रयाणाम् उत अन्यतरस्य इतरस्य वा इति विचारणीयम्.

तत्र **प्राञ्चो वैयाकरणास्तु** *न वर्णानां, 'गौः' इति उक्ते केवलैः गकारौकारविसर्जनीयैः अर्थाप्रतीतेः. नापि पदवाक्यरूपात् तत्समुदायाद्, वर्णानां क्रमिकत्वेन तस्यैव अभावात्. नापि पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्य-संस्कार-सहकृतान्तिम-वर्णाद्, अनेकादृष्ट-संस्कार-कल्पना-गौरव-प्रसङ्गात्. अतो वर्णाभिव्यंग्यो अतिरिक्तः स्फोटाख्यः शब्दो [पा.भे.३४] अर्थप्रत्यायको अङ्गीकार्यः. तथैव [पा.भे.३५] पदवाक्यस्फोटावपि * इति आहुः.

मीमांसकास्तु *श्रोत्रग्राह्ये वस्तुनि [पा.भे.३६] 'शब्द' शब्दप्रयोगाद् 'गौः' इत्यत्र गकारौकार-विसर्जनीयातिरिक्तस्य अन्यस्य अश्रवणाद् "वर्णाएव शब्दः" इति उपवर्षमतम् अङ्गीकृत्य, वर्णातिरिक्तस्य शब्दान्तरस्य अनुपलम्भाद्, वर्णानाम् अनित्यत्वेन क्रमिकत्वे पूर्वपूर्वनिवृत्त्या अर्थप्रत्यायकत्वेन अभिमतस्य स्फोटात्मकशब्दस्यापि अभिव्यक्त्ययोगात्, तदाहितसंस्कारकल्पनायाः स्फोटपक्षेऽपि आवश्यकत्वेन; प्रत्युत, गौरवाधिक्यात् च वर्णाएव शब्दः. तेषां नित्यत्वेऽपि तज्जनितानुभवस्य अनित्यत्वेन अर्थप्रतीतिस्तु पूर्वपूर्व-वर्णानुभवजनित-संस्कारसहकृतान्तिम-वर्णाद् वा स्वारोपित-स्वाभिव्यञ्जक-

ध्वनिक्रम-शालित्वेन स्मर्यमाणेभ्यो वर्णेभ्यो वा * इति आहुः.

एवं पूर्वमते न कस्यापि अर्थप्रत्यायकत्वं द्वितीये च न पदवाक्ययोः इति तदभावात् त्रयाणां द्वयोः वा नित्यत्वव्यापकत्वे दुर्वचे एव इति चेद्—

अत्र **नव्यवैयाकरणाः** * न वयं वर्णाभिव्यंग्यं स्फोटं वदामः किन्तु "स्फुटति अर्थो अनेन" इति व्युत्पत्त्या वाचकं शब्दं 'स्फोटः' इति वदामः. सच अबाधितप्रत्यभिज्ञाबलाद् यथा वर्णरूपो अभ्युपगतः तथा "तदेव पदं तदेव इदं वाक्यम्" इति प्रत्यभिज्ञाबलात् पदवाक्यरूपोऽपि. नच * इयम् औपाधिकी सा * इति वाच्यं, घटादिप्रतीतेरपि तथात्वापत्तेः, शब्दे एकार्थबोधकत्ववद् घटादौ सावयवे जलाहरणादि-रूपैकार्थजनकत्वस्य उपाधेः सत्त्वात्, बोधकत्वस्यैव उपाधित्वे नियामकाभावात्. यत्तु स्थान्यादेशभेदेन द्विविधेषु वर्णेषु, "केषां वाचकत्वम्, स्थानिनाम् उत आदेशानाम्?" इति संशये, 'भवति' इत्यादौ आदेशानां तिबादीनां बहुत्वेन तेषु शक्तिकल्पने गौरवात्, स्थानीभूत-लकारनिष्ठैव शक्तिः. नच * एवं सति 'भू-ल' इत्यतः शाब्दबोधापत्तिः * शङ्कनीया, समभिव्याहारस्यापि सहकारित्वात्. अन्यथा 'तिब्' इत्यतोऽपि स्याद् * इति दर्शनान्तराभिनिवेशिनः आहुः.

तदपि असङ्गतं, 'भवति' इत्यादौ प्रयोगसमवेतानां[टि.१] तिबादीनामेव कर्त्रादिवाचकत्वं नतु स्थानीभूतानां लादीनां, व्यवहारेण तेष्वेव शक्तेः ग्राहणात्—स्थानिनो वाचकत्वे[पा.भे.३७], अनिष्कृष्टादपि शाब्दबोधापत्तेः वारणायसमभिव्याहारविशेषस्य कारणतायाः अवश्यवक्तव्यत्वे "तद्धेतोरेव"[टि.२] इति न्यायेन समभिव्याहारहेतूनां वर्णानामेव वाचकत्वे[पा.भे.३८] लाघवात् च; एवम् आदेशानाम् आदेशिस्मारकत्वपक्षेऽपि, शक्तिद्वयकल्पनापत्त्या आदेशानां वाचकत्वएव लाघवात् च.

एवम् आदेशानां वाचकत्वे सिद्धे पदस्यापि वाचकत्वं सिद्धमेव,

१. संसर्गभाजाम् इति अर्थः (अ). २. "तद्धेतोरेव तद् अस्तु किं तेन" इति न्यायः. 'तस्य'=कपालादेः 'हेतोः'=मृदादेरेव 'तद्'=घटादिकारणत्वम् अस्तु. किं 'तेन'=अन्तर्गडुना कपालादिरूपकार्येण! इति अर्थः. (भु.लौ.न्या.सा.)(म्या).

'गौः' इत्यादौ केवलेन विसर्गादिना गवादिरूपार्थावबोधादर्शनात् [पा.भे.३९] समुदायएव अर्थबोधानुकूल-शक्तिनिश्चयात्. नच * वर्णानां वाचकत्वहानिः, प्रत्येकावृत्तिनः समुदायावृत्तित्वनियमेन पदशक्त्यैव तत्सिद्धेः. अतएव प्रकृतिप्रत्ययादावपिव्यासज्यवृत्तिरेव शक्तिः, नतु प्रत्येकवर्णपर्याप्ता इति युज्यते.

एवं वाक्यार्थबोधानुकूला शक्तिरपि पदसमुदायरूपे वाक्यएव निश्चेया, वाक्यादेव तादृशान्वयोपस्थितेः. नच * वाक्यानां तदर्थानाम् अन्वयानां च अपूर्वत्वात्, शक्तिग्रहासम्भवेन वाक्यार्थस्य अन्वयस्य लक्ष्यत्वमेव साधीयः * इति वाच्यं, सम्पूर्णवाक्यश्रवणात् पूर्वम् अन्वयानुपस्थितेः [पा.भे.४०] तत्र लक्षणायाअपि ज्ञातुम् अशक्यत्वेन, तादृशपदानुपूर्वीश्रवणोत्तरं तत्तल्लक्षणायाइव शक्तेरपि सुग्रहत्वेन तौल्यात्. नच * ''हरिद्रायां नद्यां घोषः'' इति वाक्ये श्रुते नदीविशेषस्य 'हरिद्रा' इति आख्याम् अजानतोऽपि, 'नदी' पदसमभिव्याहारात् तदानीमेव 'हरिद्रा' पदस्य नदीविशेषे शक्तिग्रहो, नदीलिङ्गात् तत्सम्बन्धित्वेन तीरप्रत्ययः च, द्रागेव जायते. एवम् अन्वयप्रत्ययोऽपि भविष्यति * इति वाच्यं, तादृशपदसमभिव्याहारेण तदानीमेव वाक्यशक्तिज्ञानस्य तेन अन्वयज्ञानस्य च तद्वदेव शक्यवचनत्वेन तौल्याद्, अनुपपत्त्यभावेन लक्षणायाः अशक्यवचनत्वात् च. यदिच ''पदानाम् अन्विताभिधायित्वं स्वीकृत्य पदशक्तिः पदार्थांशे ज्ञाता अन्वयांशे च अज्ञातैव उपयुज्यते'' इति कुब्जशक्तिवादो अङ्गीक्रियते [पा.भे.४१], तदापि ''वाक्यशक्तिः अज्ञाता पदशक्तिः च ज्ञाता उपयुज्यते'' इत्यपि वक्तुं शक्यत्वेन समभिव्याहारादेव शाब्दबोधदर्शनेनच तस्य अप्रयोजकत्वात्. कुब्जशक्त्यनङ्गीकर्तृ-माध्वमतेच * 'घटादि' पदम् इतरान्विते घटादौ शक्तम् इति व्युत्पन्नस्य, ''घटम् आनय'' इत्यादौ 'घट'-पदा-'ऽम्' पदयोः [पा.भे.४२] प्रत्येकं गृहीतशक्तिकस्य तादृशानुपूर्वीज्ञान-तात्पर्यज्ञानादिमतः, समभिव्याहारकारणतायाः अज्ञानेऽपि ''घटकर्मकम् आनयनम्'' इति शाब्दबोधापत्तिः, समभिव्याहारस्य कारणतानङ्गीकारात्. नच इष्टापत्तिः कर्तुं शक्या, विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहात् – ''सामान्यतः इतरान्वितो घटः इतरान्वितं कर्मत्वम्'' इत्येवं ज्ञानापत्तेः, ''घटीयं कर्मत्वम्'' इति अनापत्तेः च. अथ तादृशविशेषान्वयबोधं प्रति — पदान्तरसमभिव्याहारस्य,

'घट' पदोत्तरं द्वितीयायाः, ततो धातोः, ततः आख्यातस्य — इत्यादिरूपस्यापि कारणता अङ्गीकृता चेत्, सिद्धैव वाक्ये शक्तिः, पदसमुदायस्यैव वाक्यत्वात् तन्निष्ठबोधकारणतायाएव च शक्तित्वात्. [पा.भे.४३] एतेनैव "कार्यान्विते पदानां शक्तिः" इत्यपि अपास्तम्.

यत्तु **नृसिंहाश्रमाः** * वृत्तिं विना वाक्यार्थस्य शाब्दबोधविषयत्वासम्भवात् तद्विषया वृत्तिः स्वीकार्याः. तस्याश्च अतिरिक्तत्वे गौरवात्, क्लृप्तपदार्थशक्तिरेव तद्विषयिणी कल्प्यते. पदानाम् अन्वयसामान्ये शक्तौ, सामान्यशक्तेः विशेषम् अविषयीकृत्य अपर्यवसानात्, तत्तत्पदसामान्यशक्तिभिरेव समभिव्याहृत-पदोपस्थापित-पदार्थविशेष-निरूपितो अन्वयविशेषो विषयीभविष्यतीति एक-शक्ति-कल्पनालाघवाद्, एकपदप्रयोगेऽपि अन्वयविशेषस्य नियमेन जिज्ञासाद-र्शनात्, तस्याश्च सामान्यज्ञानपूर्वकत्वात्, तस्य शब्दाद् अन्यतो असम्भवात्, पदेष्वेव अन्विताभिधायित्वनिश्चयात् च * इति आहुः.

तत् न, दृष्टे जम्बीरफलादौ रसविशेष-जिज्ञासावत् सामान्याज्ञानेऽपि अन्वयविशेष-जिज्ञासोपपत्तेः. नच * एवं सति तद्वदेव जिज्ञासायाः अत्रापि अनियमः स्याद् * इति वाच्यम्, इष्टापत्तेः, [टि.१] जिज्ञासानुरोधेन अन्वयस्य पदशक्यत्वाङ्गीकारे जिज्ञासायाः विशेषविषयत्वेन अन्वयस्यापि विशेषरूपेण शक्यत्वापत्तेः च, ज्ञानेच्छयोः समानप्रकारकत्वेन हेतुहेतुमद्भावात्. अन्यथा द्रव्यत्वादिरूपेण ज्ञाते वस्तुनि सुवर्णत्वादिना अज्ञातेन रूपेण इच्छापत्तेः. नच * येन रूपेण ज्ञानं वृत्तं तेन रूपेण सिद्धिसत्वाद्, येनच रूपेण ज्ञानमेव नास्ति तेन रूपेण कारणाभावाच्च, इच्छायाः असम्भवेन जिज्ञासोच्छेदापत्तिः * इति वाच्यं, सिद्धत्वज्ञानस्यैव प्रतिबन्धकत्वेन तस्य अभावादेव [टि.२] जिज्ञासोपपत्तेः. तस्मात् न अन्वयः पदानाम् अर्थः.

यत्तु * पदार्थाः पदार्थस्मृतिः वा शाब्दबोधे हेतुः, नतु पदज्ञानं

१. वस्तुतस्तु एकपदप्रयोगे अन्वयसामान्यजिज्ञासैव दृष्टानुरोधाद् ज्ञेया (अ). २. प्रतिबन्धकीभूत-सिद्धत्वज्ञानस्य अभावादेव इति अर्थः. तथाच अन्वयज्ञानाभावादेव अन्वयजिज्ञासा नतु सामान्यतो अन्वयज्ञानाद् इति भावः (अ).

वाक्यज्ञानं वा * इति मतं, तत् न, चक्षुरादिना पदार्थोपस्थितावपि शाब्दबोधापत्तेः, ''शब्देन अयम् अर्थो बुद्धः'' इति अनुभवविरोधापत्तेः च. तस्माद् वाक्यमेव, पदसमुदायात्मकम्, अन्वयस्य वाचकम्. यद्वा पदं वाक्यं च अखण्डमेव, ''एकः पटः'' इतिवद् ''एकं पदं वाक्यं च'' इति अबाधितप्रतितेः.तत्र वर्णपदयोः प्रतीतिस्तु 'ऋ'-'लृ'-'ए'-ओ' प्रभृतिवर्णेषु अवयवप्रतीतिवद् भ्रान्ता. नच '' 'क'कारादिकं शृणोमि'' इत्यादिप्रतीतिविरोधः, तत्तद्वर्णोत्पादकत्वादिना अभिमतेन वायुसंयोगविशेषेण तथैव अखण्डपदवाक्ययोः व्यञ्जनेन अविरोधात्. तत्र 'क'कारादिप्रत्ययस्य वर्णेषु तारत्वादिप्रत्ययवद् भ्रान्तत्वात्. अन्यथा तत्र अनन्तवर्णादिकल्पने गौरवप्रसङ्गात्.

यत्तु * आकांक्षादिसहकारेण पदान्येव[टि.१] वाक्यार्थबोधं जनयन्ति * इति मतं, तत् न, गुरुभूताकांक्षायोग्यतादि-ज्ञानस्य कारणत्वे मानाभावात्[टि.२] नच * आकांक्षाज्ञानस्य अकारणत्वे ''घटः कर्मत्वम्'' इत्यतोऽपि बोधापत्तिः, ''अयम् एति पुत्रो राज्ञः पुरुषो अपसार्यताम्'' इत्यादौ 'राज' पदस्य 'पुरुष' पदेन सह अन्वयानुभवाकांक्षायामपि[पा.भे.४४] 'पुत्र' पदेन अन्वयापत्तिः * इति वाच्यं, ''घटः कर्मत्वम्'' इत्यादौ शक्तिग्रहसत्त्वे बोधस्य इष्टत्वाद्, विपरीतव्युत्पन्नस्यैव दुष्टत्वात्.

समीचस्तु * शक्तिग्रहाभावादेव वारणसम्भवाद्, ''अयम् एति...''इत्यादौतु तात्पर्यज्ञानाभावे बोधाभावादेव न 'पुत्रेण' अन्वयः तात्पर्यज्ञानेतु ततएव निवृत्तिः. तस्य तवापि आवश्यकत्वात्, तदघटितायाः आकांक्षायाः दुर्वचत्वाद्, ''एतस्य एवं ज्ञानं भवतु'' इति अभिसन्धायैव परस्पर-संसर्गयोग्यार्थ-वाचकपदप्रयोगात्. अथ * ''घटम् आनय'' इत्यादौ घटकर्मकानयन-बोधकपद-समभिव्याहारस्यैव कारणतादर्शनात्, स[टि.३] एव आकांक्षा, तात्पर्यज्ञानन्तु हेत्वन्तरम् * इति उपेयते, तदातु समभिव्याहारस्य वाक्यधर्मत्वात् पदविशेष-समभिव्याहार-धर्मकवाक्यगत-बोधनसामर्थ्यमेव आकांक्षेति सिद्धं वाक्यस्यैव वाक्यार्थबोधजनकत्वम्. परिभाषामात्रं परम्

१. वृत्तिमन्ति पदानि इति अर्थः(अ). २. अन्वये वृत्त्यैव अन्वयबोधोपपत्तौ तदतिरिक्तस्य अस्य कारणत्वे तथात्वाद् इति अर्थः(अ). ३. समभिव्याहारः(ब्या).

अवशिष्यते. तदपि तस्याः आकांक्षायाः वृत्तित्वोक्तौ न विरुद्ध्यते. अतः एतदनुरोधेन अन्वयस्य शक्यत्वनिरसनम् अयुक्तमेव. *ननु अस्तु एवं तथापि वाक्यनिष्ठबोधकत्वस्य शक्तित्वे किं मानम्* इति चेद्, उच्यते : विषयतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तेनैव सम्बन्धेन वृत्तिजन्योपस्थितेः हेतुतैव मानम्. अन्यथा ''घटम् आनय'' इत्यत्र 'घट' पदशक्त्यज्ञानवतोऽपि, तज्ज्ञानवतइव, बोधापत्त्या घटशाब्दबोधे घटार्थक-पदवृत्तिजन्य-ज्ञानत्वेन कारणता वाच्येति अर्थभेदेन अनन्तकोटि-कार्यकारणभाव-कल्पना-गौरवापत्तेः. किञ्च वाक्यनिष्ठबोधकत्वस्य अशक्ति-त्वे [पा.भे.४५] पदनिष्ठबोधकत्वस्यापि अशक्तित्वं सुवचमिति, वाक्यार्थवत् पदार्थ-स्यापि अशक्यत्वापत्तिः, तथा सति शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धएव हीयेत. तस्माद् वाक्यस्य वाचकत्वं निर्बाधमिति वर्णादयः त्रयोऽपि वाचकाः इति* आहुः. तेन त्रयाणां नित्यत्वादिकमपि निर्बाधमेव.

ननु पदवाक्ययोः वर्णातिरेकसिद्धौ पदादीनां स्वरूपेण वाचकत्वसिद्धिः नतु तदभावे. अतिरेकस्तु न प्रत्यभिज्ञामात्रेण सिद्ध्यति, तस्याः एकार्थ-बोधकत्वोपाधि-कृतत्वात्. नच अत्र मानाभावः, तत्र 'आस'-'करवाल'-'कुरु'-'भवा'दिपदेषु अवयवार्थस्य भिन्नस्य स्फूर्तौ पदभेदस्फूर्तेः तदभावे च पदैक्यस्फूर्तेः तस्य उपाधित्वनिश्चयात्. अन्यथा पदभेद-पदैक्य-स्फूर्त्यनापत्तेः. नच घटादिप्रत्यभिज्ञायाः औपाधिकत्वापत्तिः, तत्र एकार्थजनकत्वेऽपि अवयवभेदेन भिन्नार्थजनकत्वाभावाद्. घटभेदस्फूर्त्यभावेन एकार्थजनकत्वस्य [पा.भे.४६] उपाधितायाः वक्तुम् अशक्यत्वात्. एवं सिद्धे एकार्थबोधकत्वस्य उपाधित्वे प्रत्यभिज्ञया पदवाक्ययोः वर्णाद् अतिरेकसाधनं वैयाकरणानाम् असमञ्जसमेवेति तन्नित्यत्वादिकमपि तथा इति चेत्, न पर्यायाणाम् एकार्थबोधकत्वेऽपि पदैक्यबुद्ध्यभावेन तस्य उपाधितायाः वक्तुम् अशक्यत्वात्. एवं भिन्नार्थबोधकत्वस्यापि न पदभेदधीजनकत्वं, नानार्थस्थले व्यभिचारात्. अतः प्रत्यभिज्ञायाः अतिरेकसाधकत्वे न कोऽपि दोषः. तर्हि कथं भेदस्फूर्तिः ? इति चेद्, उच्यते : पदानाम् अनन्तरूपत्वात् तानि विकारवन्ति पदरूपाणि अन्यान्येव, नानाभोगभोक्तृ-योगिकायव्यूहवत्. तानिच प्रयोक्तृप्रभृतीनाम्

इच्छाविशेषादिना व्युत्पत्तिविशेषस्फूर्तौ प्रतिभान्तीति तत्सहकृतात् स्वरूपादेव इति बुद्ध्यस्व.

अतएव भट्टवार्तिकेऽपि : "पदावधारणोपायान् बहूनिच्छन्ति सूरयः क्रमन्यूनातिरिक्तत्वस्वरवाक्यश्रुतिस्मृतीः" (श्लो.वा.वाक्या.कारि.१८३) इति प्राथमिक-प्रथमपादे वाक्याधिकरणे भेदावधारणोपायाः उक्ताः.

नच [पा.भे.४७] * व्याकरणादौ प्रकृति-प्रत्यय-विभागदर्शनात् पदानाम् अनित्यत्वं शङ्क्यं, व्युत्पत्तिमात्रार्थत्वाद्, अव्युत्पत्तिपक्षस्यैव व्याकरणे मुख्यत्वात्. विकारवताञ्च [टि.१ पा.भे.४८] प्रयोजनं श्लेषो, वेदे परोक्षवादार्थं लोके चमत्कारविशेषाद्यर्थं च, तस्य आवश्यकत्वात्. 'प्रजायेय' (तैत्ति.उप.२।६ – छान्दो.उप.६।२।३) इति इच्छया रूपसृष्टाविव नामसृष्टावपि लीलार्थं वैचित्र्याय तस्य अपेक्षणात्. अतो न कापि अनुपपत्तिः एवं वाक्यविशेषेष्वपि विकारवत्त्वम् [टि.२] ऊहनीयम्. * ननु अस्तु एवं पदवाक्ययोः अतिरेकः, तथापि न त्रयाणां वाचकत्वं, पदैः पदार्थोपस्थापने वाक्यार्थत्वेन अभिमतस्य अन्वयस्य संसर्गमर्यादया पदैरेव भानसम्भवेन वाक्यानां वाचकत्वकल्पनस्य अप्रयोजकत्वाद् * इति चेत्, न, संसर्गस्य समभिव्याहारविशेषण भानात्, तस्यैव वाक्यत्वात्, तेन भाने वाक्यएव शक्तेः पर्यवसानस्य वैयाकरणैरेव उपपादित्वात्. नापि पदोपस्थापितपदार्थानामेव करणत्वं साधीयः, सम्पूर्णवाक्यश्रवणोत्तरं जायमानस्य बोधस्य — पूर्वपदानां नष्टत्वेन, नित्यपक्षे व्यञ्जकनाशात् तिरोहितत्वेन च, उपस्थापकाभावात् पदार्थानुपस्थितौ — अनुत्पत्तिप्रसङ्गाद्, अविद्यमानानां प्रकारान्तरेण बोधकत्वस्य अशक्यवचनत्वात्.

नच * पूर्वपदानां निवृत्तत्वेऽपि संस्कारेण तेषाम् उपस्थितौ तदुपस्थापितानां कारणत्वम् * इति युक्तं, गौरवाद्, वाक्यार्थबोधस्य अशाब्दत्वापत्तेः, 'चाक्षुषा'दि पदवत् 'शाब्द'पदस्यापि करणार्थकपदप्रकृतिकत्वेन तत्समाख्याविरो

१. ननु शब्दरूपेण आविर्भावः कर्मादिप्रवर्तनार्थम् अत्र ईदृशपदप्रयोजनाभावात् किमित्येवम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः विकार...इत्यादि (अ ग). २. यथा "महत्या गदया युक्तः" इत्यादौ (ग) — "महत्यागदयायुक्तः" इत्यादौ (अ).

धापत्तेः च. नापि ''वृत्तिमत्पदज्ञानमेव करणम्'' इति युक्तम्, एवमपि अशाब्दत्वस्य आपत्तेः. नच * वाक्यज्ञानकरणत्वपक्षेऽपि अयं दोषः * इति वाच्यं, ज्ञायमानवाक्यस्यैव करणत्वाङ्गीकारात्. नच * मौनिश्लोकादौ व्यभिचारः * इति शङ्क्यं, तत्रापि लिप्यादिना ज्ञायमानस्य तस्यैव करणत्वाद्, अन्यथा श्रवणाग्राह्यत्वेन तत्र 'शब्द'-बुद्धेरपि अनुत्पत्तिप्रसङ्गाद्, ज्ञानात् तस्य चिरस्थायित्वोपगमेन तस्य करणत्वे बाधकाभावात् च.

''नापि अन्वये शक्तिः'' इति युक्तं, कल्पनातौल्याद्, एकस्यापि पदस्य श्रवणे अन्वयबोधापत्तेः, 'गौः'-'अश्वः'-'पुरुषो'-'हस्ती' इत्यादावपि तदापत्तेः च, समभिव्याहारविशेषस्यापि कारणत्वे वाक्यएव शक्तिपर्यवसानात् च. एकशक्तिपक्षेऽपि अभ्युपगन्तॄणाम्, ''अन्विते शक्तिः'' इत्यादिवाक्यात्, चेत् तस्याः ग्रहणं, तदा तद्वाक्यार्थं विचारयतो जातस्य बोधस्य भ्रमत्वापत्तिः. सर्वेषाम् अन्विते शक्तौ, 'अन्वित' पदस्यापि अन्विते स्वार्थे शक्तेः वक्तव्यत्वेन, आत्माश्रयानवस्थान्यतरापत्त्या तदर्थानिश्चयेन, तत्र अप्रमाण्यावधारणात्. ततश्च ''अन्विते शक्तिः'' इति वाक्यात् शक्तिग्रहस्य दत्ततिलाञ्जलित्वापत्तिः. केषाञ्चिद् अन्विते शक्तौ अन्विताशक्त-पदघटित-वाक्ये तदन्वयबोधकाभावेन तस्य अनन्वितप्रतीत्यापत्तिः, तदन्वितप्रतीतौ हेत्वन्तरस्य वक्तव्यत्वे तेनैव सर्वत्र निर्वाहाद् अन्विते शक्त्यसिद्धिः च. व्यवहारेण शक्तिग्रहेच — तस्य सर्वसाधारणत्वात् सर्वेषामेव तत्र शक्तिग्रहेण विवादानुदयप्रसङ्गः, व्यवहारस्य वाक्यमूलकत्वेन तत्रैव शक्तिपर्यवसानं च.

अतः सर्वपक्षाणाम् अनुपपन्नत्वात्, तदभ्युपगमे 'वाक्यार्थ' समाख्याविरोधाद्, वाक्यरूपाणां मन्त्रप्रकरणशास्त्राणाम् अनर्थकत्वप्रसङ्गात् च वाक्यमेव वाचकम्.

एतावान् परं विशेषः : पदादिभिः स्वार्थबोधजनने शक्तिस्मृतिः अभ्युपायः, वाक्येन शाब्दबोधजननेतु तदवयवभूत-पदजन्या पदार्थस्मृतिः सहकारिणी, एवं महावाक्ये अवान्तरवाक्यजन्या तदर्थस्मृतिरपि इति.

नच * महावाक्येषु यत्किञ्चित्पद-विस्मरणे वाक्यार्थबोधो न स्याद्, अभ्युपायाभावाद् * इति वाच्यम्, इष्टत्वाद्, विवक्षितशाब्दबोधस्य तदा अभावाद्. नच * वाचकत्वस्य ज्ञातस्यैव शाब्दबोधजनकत्वेन, वाक्यानां च आनन्त्यात् तच्छक्ति-ग्राहकानुशासन-कोशाद्यभावेन, तद्ग्रहो दुर्लभः, तदभावे च तेन शाब्दबोधाभावाद् वाचकत्वासिद्धिः * इति वाच्यम्, उक्त-रीत्या वाक्यस्य संसर्गवाचकत्वे एकत्र निश्चिते "वाक्यप्रवाहस्य संसर्गप्रवाह-वाचकत्वम्" इति ज्ञानस्य सुलभत्वात्, समाननामरूपत्वेन सामर्थ्यसामान्यस्य तत्र निश्चयात्, पटादौ अवयवभेदेन भिन्नत्वेऽपि तथादर्शनात्, वाक्यस्य पदान्तरप्रवेशेनेव अधिकसंसर्गान्तरप्रवेशेन वाक्यार्थरूपसं-सर्गस्य भेदेऽपि वाक्यत्वसंसर्गत्वयोः स्वरूपयोः ततो अनपायात्.

किञ्च, "तिङ्सुबन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता" (अम.को.१।६।२) इति कोशेन उभयत्र 'वाक्य' पदशक्तेः ग्राहणात्, कारकान्वितक्रियापदविशिष्टे अवयविनि 'वाक्य' पदशक्तौ निश्चितायां, यथा 'वाक्य' पदश्रवणे तादृक्-पद-विशिष्ट-वाक्य-स्वरूप-स्फूर्तिः, तथा तादृश-पद-विशिष्ट-वाक्य-श्रवणे तत्स्वरूपमहिम्ना तच्छरीरप्रविष्टस्य अन्वयस्यापि स्फूर्तिः परम्परया, 'वाक्य' पद-शक्तिज्ञानादपि सुलभा, समभिव्याहारविशेषात् च पदविशिष्टतद्वि-शेषात् च तद्विशेषस्य ज्ञानमिति न काचिद् अनुपपत्तिः [टि.१]. अतएव व्युत्पित्सवो बालाः एकत्र क्रियाकारकान्वयम् अवगत्य अन्यत्रापि तथा प्रतियन्ति; व्युत्पन्नाश्च श्रुतमात्रेण वाक्याद् "अयम् अर्थो अवगतः" इति प्रतियन्ति वदन्ति च तथा इति युज्यते. पदसमूहात्मके तस्मिन् कोशाद् ज्ञाते श्रुते च सर्वेषामेव आकाङ्क्षाराहित्यात् ततः पदार्थमात्रबोधो, यथा "दश दाडिमानि" इत्यादौ, इत्यपि युज्यते [पा.भे.४९]. नच * वाक्यकरणपक्षे वाक्याधिकरणविरोधः * शङ्क्यः, "तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वाद्" (जैमि.सू.१।१।२५) इति तदीयसिद्धान्तसूत्रस्य 'तद्भूतानां'-वाक्यावयव-भूतानां पदानां 'क्रियार्थेन'-पदेन 'समाम्नायः'-समभिव्याहारो वाक्यरूपो, वाचकः इति शेषः. तत्र हेतुः 'अर्थस्य'-वाक्यार्थस्य 'तन्निमित्तत्वात्'-समभिव्याहारनिमित्तत्वाद्" इत्यपि व्याख्यातुं

१. अज्ञातपक्षे ज्ञातपक्षे च इति अर्थः(अ).

शक्यत्वात्. अतः त्रयाणां वाचकत्वं सूपपन्नम्.

किञ्च एवं त्रयाणां वाचकत्वेऽपि तत्तदर्थबोधानुकूला शक्तिः तेषु-तेष्वेवेति पदाद्यवययभूतानां वर्णानाम् अनर्थकत्वात् तेषां पा.भे.५० गौणमुख्यभेदेन वर्णानाम् अनन्तरूपत्वमपि सिद्धं बोध्यम्. नच * प्रत्येकावृत्तिनः समुदायावृत्तित्वनियमात् पदानामपि अवाचकत्वापत्तिः, हरिद्राचूर्णयोः प्रत्येकावृत्तिनः शोणत्वस्य तत्समुदाये कुङ्कुमे, धान्याद्यवृत्तिनो महत्त्वस्य धान्यादिराशौ च, दर्शनिन नियमस्य अप्रयोजकत्वात्. नच एवं वर्णानित्यत्वापत्तिः, पदानां बोधकत्वेन नित्यत्वे सिद्धे तदवयवनित्यत्वस्य ततएव सिद्धेः. * ननु "पदे वर्णाः न विद्यन्ते वर्णेष्ववयवाः नच, वाक्यात् पदानाम् अत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन" (वाक्यप.१।७३) इति वाक्यपदीयाद् अखण्डस्फोटपक्षे पदे वर्णाएव न सन्तीति वृथा अयं विभागः * इति चेत्, न, "ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले[टि.१] देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः" (वाक्यप.२।१४) इति वदता वाक्ये पदानां सार्थकत्वेन असत्त्वस्य बोधनात्, "पदे सार्थकाः (वर्णाः!) न विद्यन्ते" इति अर्थस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्. सर्वथा असत्त्वाङ्गीकारे :—

वर्णव्यञ्जक-वायुसंयोगादेः, वर्णातिरिक्त- स्फोट-व्यञ्जकत्वस्य, वर्णप्रतीतेः, भ्रमत्वस्य वर्णापलापस्य, इत्याद्यप्रमाणिकानेक-कल्पनापत्तेः.

"कृपो रो लः" (पाणि.सू.८।२।१८) इत्यत्र पाणिनिना ऋवर्णावयत्वेन रेफाङ्गीकारात् तद्विरोधापत्तेः.

माण्डुक्यादौ ॐकाराक्षरे अकारादिमात्रारूपावयवानां श्रुत्यैव अङ्गीकारात् तद्विरोधापत्तेः च.

"'ॐ' इत्येकाक्षरं ब्रह्म" (भग.गीता.८।१३)इत्यत्रअनङ्गीकारेण विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य बोधनाच्च न उभयरूपत्वानुपपत्तिः.

नच * उपासनार्थम् अवयवोक्तिः * इति वाच्यं, तथापि

१. 'ब्राह्मणकम्बल' शब्दः कम्बलविशेषे रूढो, वृक्षविशेषे 'अश्वकर्ण' शब्दवत् (क).

कल्पनोपदेशत्वाभावाद्, अनुभूयमानत्वाद्, माण्डूक्ये वेदनस्यैव उक्तत्वात्, तत्प्रतीतौ भ्रमत्वकल्पनस्य गुरुत्वाप्रामाणिकत्वाभ्यां च तदबाधात्, लृकारादौ शिक्षायाम् अवयवानङ्गीकारोऽपि एतेनैव व्याख्यातः.

एवं पदे "'घृणिः' इति द्वे अक्षरे" (नृ.पू.ता.उप.४।२) इत्यादिश्रुत्या, "तस्माद् 'अहम्' इति सर्वाभिधानं तस्य आदिः अयम् 'अ'कारः" (नृ.उ.ता.उप.७।२) इति श्रुतौ 'कार' प्रत्ययेनापि आद्यावयवे वर्णत्वबोधनेन च अवयवात्मकाः ते ज्ञापिताः बोध्याः.

एवं "'क'वतीषु रथन्तरं गायति" (ताण्ड्यब्राह्म.११।४।२) इति श्रुतेः, नृसिंहमन्त्रराजोद्धारे "उग्रं प्रथमं स्थानं जानीयाद्" (नृ.पू.ता.उप.२।३) इत्यादितापनीयश्रुतेः च वाक्येऽपि वर्णपदयोः अवयवत्वं बोध्यम्. अतो अखण्डत्वम् अवयववैकल्याभावाभिप्रायकमेव प्राचाम्. तेन "एकं पदम्" इत्यस्याः प्रतीतेः 'हस्ती' इतिवद्, विशिष्टबुद्धित्वात्—समुदायपक्षेऽपि तस्य अतिरिक्तत्वात् न भ्रान्तत्वम्. वस्तुतस्तु 'अ इ उ ए ओ' इत्यादौ पदबुद्ध्यनुदयात् न समूहस्य पदत्वं किन्तु विशिष्टस्यैव, तदवयवाश्च ते अनर्थकाएव. अन्यथा वर्णपदाभ्यां युगपत् क्रमेण वा स्वस्वार्थबोधने शाब्दबोधदौर्घटचं, नैराकाङ्क्ष्याद् विवक्षितार्थाबोध-व्यवहाररोधौ च आपद्येयाताम्.

नच *तेष्वपि वैयाकरणादिभिः वाचकत्वस्य अङ्गीकारात् न अनर्थकत्वम्* इति वाच्यं, शक्तेः व्यासज्य-वृत्तित्वाङ्गीकारेण प्रत्येकम् अबोधकत्वेन गौणत्वानपायात्. नच *तद्वत् केवलानाम् अनर्थकत्वं* शङ्क्यम्, एकाक्षरकोशे तदर्थकथनात्. नच *तेषां सुबन्तत्वेन पदत्वात् तत्प्रयुक्तमेव अर्थवत्त्वम्* इति शङ्क्यम्, 'एकाक्षरकोश'समाख्याविरोधात्, सम्बुध्यन्तेषु तेषु-तेषु समुदायलक्षणस्य पदत्वस्य अभावेन पदावयवरूपत्वाभावेन च केवलत्वानपायात् च. एवं सिद्धे द्वैविध्ये पदानाम् अनन्तरूपत्वाद् अनारब्धत्वात् च तदवयवभूतानां वर्णानाम् अनन्तरूपत्वं निर्बाधमेवेति तेषां गौणमुख्यभावोऽपि उपपन्नएव. एवं पदवाक्ययोरपि बोध्यम्. *ननु अस्तु वर्णेषु तथात्वं

नतु पदवाक्ययोरपि, वाक्यावयवभूतानामपि पदानां वाचकत्वस्य आवश्यकत्वेन गौणत्वस्य अशक्यवचनत्वात्. अन्यथा वर्णवत् पदेष्वपि सङ्केतग्रहस्य अनावश्यकत्वात् तं विनापि वाक्यार्थबोधापत्तेः. नच * तेषु स्मारकत्वाङ्गीकारात् न दोषः * इति युक्तम्, अतिरिक्तशक्ति-कल्पनागौरव-प्रसङ्गात्. एवं महावाक्यावयवभूत-वाक्यानामपि वाचकत्वम् आवश्यकमेव, अन्यथा अङ्गाङ्गिभावदौर्घटचप्रसङ्गात्, तदभावे महावाक्यस्यापि अबोधकत्वप्रसङ्गात् च इति * चेत्, न, अबाधितया परिच्छिन्नत्वप्रतीत्या वर्णवत् पदेष्वपि रूपभेदसिद्धौ स्वतन्त्रपदसादृश्यस्यापि सिद्धेः तन्महिम्नैव अर्थस्मरणेन शक्त्यन्तरकल्पनागौरवा-भावात्, एवं सङ्केतग्रहस्यापि सहकारित्वसिद्धेः च. अन्यथा युगपद्वृत्तिद्वयापत्तेः.

* ननु इदम् असङ्गतं, वक्त्रा वाक्यार्थं बोधयितुं वाचकानामेव प्रयुज्यमानत्वाद् * इति चेत्,

न, तेषां निराकाङ्क्षाणां प्रयोगे स्वार्थं प्रतिपाद्य कृतार्थत्वाद्, 'गौः'-'अश्वः'-'पुरुषो'-'हस्ती' इत्यादाविव तैः वाक्यार्थबोधानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, प्रकृतेः स्वार्थं प्रतिपाद्य तथात्वे प्रत्ययानपेक्षणात् तयोः एकार्थवाचकत्व-भङ्गप्रसङ्गात्, प्रत्ययाप्रयोगप्रसङ्गात् च, आकाङ्क्षादिमतां प्रयोगे च स्मारकत्वस्यैव सिद्धेः, वक्त्रा स्वबुद्धिकल्पितस्य संसर्गस्य बोधनार्थम् अर्थस्मरणे तेषां शब्दपूर्वकमेव स्मृतौ आरोहेण स्मारकाणामेव पदानां प्रयोगात्, 'घट' पदेन स्वार्थे स्मारिते — तन्निरूपित-कर्मत्वबोधक-द्वितीयायाः 'धातु' पदेन स्मारिते — तादृगाख्यातस्य च प्रयोगः क्रियते इत्यस्य अनुभवसिद्धत्वेन तत्र मानान्तरानपेक्षणात्.

अतो न पदानां गौणत्वासिद्धिः नापि वाक्यानां, महावाक्यस्थानाम् अवान्तराणां, तेषां श्रवणदशायां स्वार्थं प्रतिपाद्य कृतार्थानामपि अङ्गाङ्गिभावाद्यपेक्षायां स्वार्थस्मारकतयैव बुद्धौ आरोहात्[टि.१]. नच * लौकिकवाक्येषु, पदानुपूर्वीनानात्वेन तदर्थस्य संसर्गस्य अपूर्वत्वेन बुद्ध्या

१. स्वार्थस्मारकतयैव बुद्धौ आरोहात् न पदानां नापि वाक्यानां वा गौणत्वासिद्धिः इति अर्थः (श्या).

रचनां कृत्वैव तादृशानुपूर्वीनिर्माणेन च, अनित्यत्वस्यदृष्टत्वात् * प्रतिज्ञाहानिः, व्यवहारे वेदापेक्षया तेषां हीनत्वाय तेषु अनित्यत्वस्य इष्टत्वेऽपि, वस्तुतो, बुद्ध्या रचनां कृत्वैव उच्चारणदर्शनात् काव्यचर्वणादिदर्शनात् च, तेषां ज्ञानेनैव उत्पत्तिस्थिती निश्चीयेते-इति, सर्वप्रतीतिनाशएव आनुपूर्वीनाशः. ज्ञानस्य चिरस्थायित्वम् आदौ व्युत्पादितमेवेति तेषामपि त्रिक्षणावस्थायित्वानङ्गीकारेण अदोषाद्, रूपसृष्टिमध्यपातिनां क्रियातइव नामसृष्टचन्तःपातिनां ज्ञानत चिरकालस्थितेः [पा.भे.५१] इष्टत्वात् च. काव्यादिनाम् अन्येषां च वाक्यानां तद्विषयक-प्रतीत्यादि [टि.१] -विलयएव 'विलय' उपचाराद्. अन्यथा "सएव अयं श्लोकः" इत्यादि-प्रतीति-बाधापत्तेः. नच * इयं साजात्याद् * इति वाच्यं, तथासति तत्प्रतीत्यापत्तेः. तस्य वाक्यस्य नष्टत्वेन पुनः कथने 'अनुकरोति' इति प्रतीत्यापत्तेः, राजवाक्यानुवादकदूतादेः अनुकरण-प्रयुक्त-दण्डाद्यापत्तेः, पूर्वोक्त-चर्वणाद्यनुभव-विरोधापत्तेः च. वैदिकानान्तु ततोऽपि चिरकालस्थायित्वं महर्षीणां संस्कारस्य महाप्रलयपर्यन्तम् अवस्थानात्. तदुत्तरन्तु भगवत्येव निःश्वसितरूपेण स्थितिः. वस्तुतस्तु अस्मदादिमुखेन [पा.भे.५२] क्रीडार्थं भगवानेव वाक्यं वदतीति सर्ववाक्यानि भगवद्वाक्यत्वाद् [पा.भे.५३] वेदतुल्यान्येव इत्यपि "स एष जीवः" (भाग.पुरा.११।१२।१७) इत्यत्र "एवं गदिः" (भाग.पुरा.११।१२।१९) इति अतिदेशेन एकादशस्कन्धे सिद्धमिति तस्य नित्यत्वे कोऽपि न सन्देहः. * ननु एवं सति वाक्येषु वेदवत् निर्दुष्टत्वं स्यात् तथा सति साकाङ्क्षायुक्तानाकाङ्क्षायुक्तादि-विभागोऽपि न स्याद् * इति चेत्, न, रूपसृष्टौ योग्यावयवैरेव पदार्थनिर्माणे प्राचीननिर्मातृव्यवहारस्येव नामसृष्टौ वाक्यार्थयोग्यावयवैरेव वाक्यनिर्माणेऽपि प्राचीनवक्तृव्यवहारस्य नियामकत्वात्. तदनादरे घोटकशृङ्गनिर्माणवद् अनाकाङ्क्षादि-वाक्यनिर्माणेऽपि उपालम्भात् च व्यवहारार्थं तस्य आवश्यकत्वात्. अतएव अर्थादिधर्मस्य योग्यत्वादेः तत्र आरोपो वक्ष्यमाणवृत्तिभेदः च युज्यते. अन्यथा विवक्षितार्थ-प्रतीतिबाधापत्तेः. नच प्रमाणाप्रमाण-विभागभङ्गापत्तिः, तस्यापि व्यवहारार्थम् आवश्यकत्वात्. अन्यथा तद्भङ्गापत्तेः. वस्तुतस्तु सरस्वत्याः सर्वतोमुखत्वाद् अर्थस्य भगवद्रूपत्वाद् वर्णपदवाक्यैः सर्वैरेव भगवन्तं वदतीति भगवद्बोधकस्य कस्यापि न अप्रामाण्यम्.

१. आदिः संस्कारः इति (अ)

* ननु तथापि पुरुषाणां भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटवादि-दोषवत्त्वात् तत्सम्बन्धेन लौकिकवाक्येषु अप्रामाण्यम् * इति चेत्, न, तस्य आरोपितत्वेन शब्दादूषकत्वात् फलाभावे अवादे अतिवादे अन्यथावादे च पुरुषएव दोषात्. अतो न काचिद् अनुपपत्तिः. तस्मात् निर्बाधं नित्यत्वम् अनन्तरूपत्वं च. किञ्च वेदेतु अवयवभूतानां वाचकत्वमपि, परस्पराविरोधेन सर्वेषां भगवदर्थकत्वात्. पा.भे.५४ नच पा.भे.५५ * शाब्दबोधे तदनुपयोगात् तथा अभ्युपगमस्य वैयर्थ्यं * शङ्क्यम्, अदृष्टार्थं तथा अङ्गीकारात्. नच *प्रमाणाभावः!* शङ्क्यो, "वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः" ( ) इति वाक्ये अर्थवादत्वनिरासपूर्वकं भगवन्नामत्वकथनात्, स्मृतेश्च आप्तवाक्यत्वात्. * ननु अनेन वर्णानां न अर्थवत्त्वसिद्धिः, वाक्ये 'अक्षर' पदात्, 'वर्णाक्षर'-पदयोः च पर्यायताविरहात्. "'घृणिः' इति द्वे अक्षरे 'सूर्यः' इति त्रीणि" (नृ.पू.ता.उप.४।२) "अष्टाक्षरा टि.१ गायत्री" (शत.ब्राह्म.२।१।५।१७) इत्यादिश्रुतौ 'अज्'-'झल्' समुदायएव अक्षरत्वप्रतीत्या तथानिर्णयात् समुदायस्य च पदत्वाद् * इति चेत्, न, "'आदित्य' इति त्रीणि" (नृ.पू.ता.उप.४।२) "'आश्रावय' इति चतुरक्षरम् 'अस्तु श्रोषड्' इति चतुरक्षरम्" (तैत्ति.संहि.१।६।११।१) "'ॐ' इति एकाक्षरं ब्रह्म" (नारा.अथर्व.उप.३) "अक्षराणामकारोऽस्मि" (भग.गीता.१०।३३) इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु केवला 'ऽ'कारादौ, "येनाक्षरसमाम्नायम्" (अष्टाध्या.मङ्गला.) इत्यादौ केवलव्यञ्जनेषु च, 'अक्षर' पदप्रयोगेण "अष्टौ स्थानानि वर्णानाम् उरः कण्ठः शिरस्तथा" (पाणि.शिक्षा.१३) "स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः, इति वर्णविदः प्राहुः" (पाणि.शिक्षा.१०) इत्यादौ केवलेषु 'वर्ण' पदप्रयोगेण "पूर्वसूत्रे वर्णस्य 'अक्षरम्' इति संज्ञा क्रियते" (पात.म.भा.१।१।२।आ.झभञ्।८) इति फणिभाष्येण "वर्णन्तु चाक्षरे" (अम.को.३।३।४८) इति कोशेन च 'वर्णा'-'ऽक्षर'-पदयोः पर्यायतानिश्चयात्. नच * 'सुप्' श्रवणप्रसङ्गः! * शङ्कनीयः, "सुपां सुलुग्..." (पाणि.सू.७।१।३९) इति लुगादेशे उत्पत्तावपि अश्रवणसिद्धेः.

वस्तुतस्तु "'ॐ' इत्येतद् अक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्" (माण्डु.उप.१)

१. पादाभिप्रायेण(क).

इत्यादिश्रुतेः "अकारो वै सर्वा वाग्" (ऐत.उप.३।६।७) इत्यादि श्रुतेः च सर्वस्य वाङ्मात्रस्य ॐकारादिविकृतित्वात् लौकिकवैदिकवर्णपदयोः भगवद्वाचकत्वमेव, बीजस्य तथात्वाद्—अतएव सर्वे सत्तार्थाः [पा.भे.५६] इति वैयाकरणसिद्धान्तो—भगवतः सदात्मकत्वात्. नच एवं शाब्दबोध-दौर्घट्यादिदूषणापत्तिः, व्यवहारार्थक-शक्तिसङ्कोचाद् वर्णपदयोः वाचकशक्ति-कौण्ठ्येन प्रतिनियत-तत्तदर्थ-बोधनेने च दोषाभावात्. नच अत्र मानाभावः "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते" (चित्युप.१२।७) इति, "वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि, धातुषूद्भव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये" (भाग.पुरा.११।२१।६) इति श्रुतिस्मृत्योः करणकल्पनकथनेन तथा निश्चयात्. यत्रच व्यवहारस्य न नियामकत्वं तत्रतु वाचकत्वमेव, श्रुतौ योगियाज्ञवल्क्यस्मृतौ च प्रणवमात्रार्थ-कथनदर्शनेन तथा निश्चयात्.

लौकिक-वैदिक-वर्णपद-विभागः :

*ननु अबाधितप्रत्यभिज्ञया वर्णपदयोः ऐक्यनिश्चयाद् अयं लौकिकवैदिक-विभागो अनुपपन्नः. नच *छान्दसप्रक्रियायां नियतस्वर-वर्णा-गम-तल्लोप-विकरण-व्यत्ययादि-दर्शनात्* तद्भेदसिद्धिः, अर्थभेदाभावे "तदेव इदं 'गो' पदम्" इत्यादिप्रत्यभिज्ञया पदभेदाभावे च सिद्धे तेषां तदसाधकत्वाद्, वाक्याधिकरण-वार्तिकोक्त-हेतूनाम् अर्थभेदएव पदभेदकत्वोप-गमात्.

नच *'स्वरु'-'यूपादि'-शब्दानां लोके अप्रयोगाद्, 'अश्व'-'वाला'दि (निरु.नैघ.२।७।२८,११।३।३१) शब्दानाम् अर्थभेदस्यापि स्पष्टत्वात्, "उत्ताना वै देवगवा वहन्ति" [पा.भे.५७] (आप.श्रौ.सू.११।७।६—द्रष्ट.शाब.भा. १।३।९।३०)[टि.१] "हिरण्यपर्णं प्रदिवस्ते अर्थम्" (द्रष्ट.शाब.भा.१।३।९।३०) इत्यादौ

१.नच *लौकिकगवीषु अविद्यमानस्य उत्तानवहनस्य देवगवीषु प्रतिपादनमात्रेण कथं वाच्यभेदः तथा सति स्थूलत्वादिधर्मभेदेऽपि वाच्यभेदापत्तेः* इति वाच्यं, ये उत्तानाः वहन्ति ते देवानां 'गो' शब्दवाच्याः इत्येवं लोकविलक्षणवस्त्वन्तरस्यैव अनेन 'गो' शब्दवाच्यत्वप्रतिपादनेन वाच्यभेदावश्यम्भावाद् इति भावः (शा.दी.मयू.मालि.१।३।१०।३०) (श्या).

अर्थस्वरूपस्यापि अन्यविधत्वात् सोऽपि अस्ति* इति वाच्यं, तावतापिकेषाञ्चिदेव भेदसिद्धेः, सर्वेषां भेदस्य अप्रमाणकत्वाद्, 'उत्ताना'दिवचनस्य अन्यपरत्वेन अर्थभेदानापादकत्वाद्, अन्यथा तदुपायाभावात् तेभ्यो अर्थानवगमप्रसङ्गात्. अतएव भट्टपादैः लोकवेदाधिकरणे (शाब.भा.१।३।१०।-३०) "लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः" (द्रष्ट.जै.न्या.मा.वि.१।१।२) इत्यादिना लोकवेदस्थ-शब्दयोः अभेदएव प्रतिपादितः इति * चेत्,

न, लोकवेदाधिकरणस्य कल्पितत्वेन अप्रामाणिकत्वात् जैमिनिना अनुक्तत्वेन तथावसायात्, आकृत्यधिकरणस्यैव तत्र दर्शनात्.

नच *वैदिकपदानाम् अन्यत्वे तदर्थस्यापि अन्यस्य वक्तव्यत्वात्, तेषां सम्बन्धग्रहणोपायाभावेन* आकृत्यधिकरणानारम्भप्रसङ्गः, उपायस्य वक्ष्यमाणत्वात्, स्वमतेनापि पदपदार्थसम्बन्धनित्यत्वाय तस्य आवश्यकत्वात्, "उत्तानादि"वाक्यस्य अन्यपरत्वेऽपि लोकानधिगतार्थ-बोधकत्वेन स्वार्थे प्रमाण्यानपायाद् अन्यथा प्रतारकवाक्यवद् अप्रामाण्यप्रसङ्गात्, केषाञ्चिद् भेदे अभ्युपगते तदर्थस्येव इतरेषामपि अर्थस्य सुखेनैव बोद्धुं शक्यत्वात्, 'निनाद'-'निनद'-'ध्वनि'-'ध्वान'-'कुतुक'-'कौतुक[गा.भे.५८]'-'दव'-'दावा'दि (अम.को.१।६।२२,१।७।३१,३।३।२०६)शब्देषु अर्थभेदाभावेऽपि पदभेदस्य कोशे अङ्गीकारेण तथा उपगमस्य अप्रयोजकत्वात्, प्रत्यभिज्ञायाः वस्त्वैक्यविषयत्वेन रूपभेदाबाधकत्वात्, पातञ्जलमहाभाष्येऽपि "अथ शब्दानुशासनम्. केषां शब्दानां? लौकिकानां वैदिकानां च" (पात.म.भा.१।१।१) इति भेदम् उपन्यस्य 'गौः'-'अश्वः' 'पुरुषो'-'हस्ती'-इति लौकिकानां "शन्नो देवीरभिष्टये" (अथर्व.संहि.१।६।१) "इषे त्वा" (तैत्ति. संहि.१।१।१) इत्यादीनां वैदिकानां च भिन्नतया उदाहरणात्, "मयड्वैतयोर्भाषायां" (पाणि.सू.४।३।१४३) "द्व्यचश्छन्दसि" (पाणि.सू.४।३।१५०) "सर्वत्र विभाषा गौः" (पाणि.सू.६।१।१२२) इत्यादिसूत्रेषु पाणिनिनापि रूपभेदस्यैव बोधनाद् वैदिकानि तानि भिन्नान्येव इति निश्चयः.

नच * उदात्तादीनां ध्वनिधर्माणां वर्णेषु आरोपितत्वेन अवास्तवत्वात्, न वर्णादिभेदकत्वं युक्तम् * इति वाच्यं, विधानवैयर्थ्यापाताद्, आरोपस्य उच्चारणविशेषादेव सिद्धेः. नच * एवमपि कृत्रिमत्वानपायाद् अवास्तवत्वमेव * इति शङ्क्यं, विधानस्य व्युत्पत्तिमात्रार्थत्वेन वास्तवत्वानपायाद्, "दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा" (द्रष्टः पात.म.भा.१।१।१, पाणि.शि.५२) इत्यत्र पदएव स्वराङ्गीकारात् च. नच * "यज्ञकर्मण्यजपन्यूंखसामसु" (पाणि.सू.१।२।३४) इत्यादौ एकश्रुतेरपि विधानात् न एवम् * इति वाच्यं, विरुद्धधर्माश्रयत्वेन उभयथापि सत्त्वे वचनेन तथापाठनियमनाद् अदोषात्. नच * "दृष्टं साम" (पाणि.सू.४।२।७) इति अधिकृत्य पठितानां "कलेर्ढक्"[टि.१] (पाणि.सू.४।२।८) "वामदेवाड्यड्यौ" (पाणि.सू.४।२।९) इत्यादि सूत्राणां "यद् अकालयत् तत् कालेयस्य कालेयत्वं" (ताण्ड्य.ब्राह्म.८।३।१) "वामं वा इदं देवेभ्यो अजनि तस्माद् वामदेव्यम्" ( ) इत्यादिश्रुतिविरोधेन अप्रामाण्यवद् एषामपि अप्रामाण्यम् * इति शङ्क्यम्, अत्र वेदविरोधादर्शनात्, कालेय-वामदेव्य-स्थलेऽपि श्रुतिनिरुक्तो यः कालनसाधकत्व-देववामत्वरूपो[पा.भे.५९] धर्मः तत्पुरस्सरमेव साम्नः कलिना वामदेवेन च दृष्टत्वस्य शक्यवचनत्वेन श्रुतौ प्रकृत्याद्यनिर्देशेन च विरोधाभावात् च; एवं यत्र-तत्र विरोधाङ्गीकारे तस्य अङ्गत्वभङ्गप्रसङ्गात् च इति न किञ्चिद् एतद्. अतो लौकिकवैदिकभेदेनापि युक्तएव पदवर्णस्वरूपभेदः. एवं वैदिकवाक्यान्यपि भिन्नानि बोध्यानि, आनुपूर्वीभेदात्, छन्दःशास्त्रे वाक्यधर्माणां लौकिकवैदिकच्छन्दसां पृथङ्निरूपणाद्, अध्यापनाध्ययनादि-नियमभेदात्, "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (कठोप.२।१५), "वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः" (भग.गीता.१५। १५), "मां विधत्तेऽभिधत्ते माम्" (भाग.पुरा.११।२१।४३) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यो अर्थभेदावसायात् च. * ननु लौकिक-वैदिक-वर्ण-पद-वाक्यानां भेदो न युक्तः, तथा सति

१. "कलिना दृष्टम्" इति अर्थे "कलेर्ढग्" इति 'ढक्' प्रत्ययम् उत्पाद्य 'कालेय' शब्दो व्युत्पादितः; तथा "वामदेवेन दृष्टं साम" इति अर्थे "वामदेवाड्यड्यौ" इति 'वामदेव' शब्दाद् 'ड्य' प्रत्ययं वा उत्पाद्य 'वामदेव्य' शब्दो व्युत्पादितः. वेदेतु "यद् अकालयत् तत् कालेयस्य कालेयत्वम्" इति कालनक्रियां निमित्तीकृत्य 'कालेय' शब्दो व्युत्पादितः; तथा, "आपो ऋत्वीयमर्छंस्तासां वायुः पृष्ठे व्यवर्तत ततो वामं वसु समभवत् तद् मित्रावरुणौ अपश्यतां तावब्रूतां वामं वा इदं देवभ्योऽजनि" इति रजोधर्म प्राप्ताभिः अद्भिः वायोः सङ्गमे सति उत्तमं वसु धनं जातं तच्च देवतासम्बन्धि जातं तेन इदं वामदेवाख्यं साम इति 'वामदेव्य' शब्दो व्युत्पादितः. (शा.दी.म.मा.१।३।९)[(श्या)].

तादृशानुपूर्वी-स्वर-योगेन तत्सदृशवाक्यादिपाठे शूद्रादेः पापाभावाद् अपशूद्राधिकरणविरोधापत्तेः* इति चेत्, न, शूद्रादीनां वैदिकसदृशस्यापि वाक्यादेः वेदबुद्ध्या पाठेऽपि दोषः इति अभिप्रायकत्वाद्, उक्तहेतुभिः सिद्धभेदस्य अपलपितुम् अशक्यत्वाद्, व्याकरणस्मृतेः "ताम् इन्द्रो मध्यतो अवक्रम्य व्याकरोद्" (तैत्ति.संहि.६।४।७)इति श्रुत्या वेदमूलकत्वात्, छन्दःशास्त्रस्यापि तथात्वात् च. तस्मात् न विवादलेशइति वर्णादित्रयेऽपि षड्धर्मत्वम् अप्रत्यूहम्.

निखिल-वेदवाक्यानां भगवद्वाचकत्वम् :

ननु वेदवाक्यानां भगवद्वाचकत्वं न युक्तं, मन्त्राणां तत्र-तत्र विनियुक्तानां तत्तत्प्रकाशकत्वाद्, ब्राह्मणस्यापि तत्तदाख्यायिका-पुरावृत्त-तत्तत्कर्म-बोधकत्वाद्, वाक्यानां संसर्गएव शक्त्युपगमाच्च तदनङ्गीकारे यज्ञादिप्रतिरोधप्रसङ्गात्, "सर्वे वेदाः" (कठोप.२।१५) इत्यादीनां तात्पर्यवृत्त्यापि उपपत्तेः इति चेत्, न, "मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहं एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदा मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति" (भाग.पुरा.११।२१।-४३) इत्यत्र 'मां विधत्ते' इत्यादिना विधेयाभिधेय-विकल्प्यापोह्यानाम् अर्थानां स्वत्वकथनेन तत्तद्रूपस्यैव स्वस्य वेदार्थत्वबोधनात्, शिष्टानां मन्त्रादिवेदान्तेषु सर्वेषु वाक्येषु पूर्णत्वव्यवहाराद् भगवतः तत्तद्रूपस्यापि पूर्णत्वाद्, अतएव वेदस्य सर्वत्र वर्णादिरूपेण वाचकत्वात् मन्त्रादीनां तत्तत्प्रकाशकत्वेऽपि भगवद्वाचकत्वस्य अबाधात् तावता यज्ञादिनिर्वाहेण दूषणान्तराभावात् च; एवम्, उत्तरकाण्डेऽपि ज्ञानशेषाणां भगवत्त्वात् तन्निरूपकवाक्येष्वपि द्रष्टव्यम्. ज्ञानकर्मणोः परस्परोपकारकत्वेन शास्त्रैक्यम्. षडङ्गविशिष्टस्य पुरुषस्य प्रतिशाखं निरूपणाच्च शाखास्वपि पूर्णत्वम्. नच *यज्ञादेः लौकिकक्रियात्मकत्वाद् अपूर्वात्मकस्य जन्यत्वात् च न ब्रह्मत्वम्* इति शङ्कनीयं, लौकिकक्रियायाः तदभिव्यञ्जकत्वेन तत्र यज्ञादिव्यवहारात्. अतो वेदस्य सर्वत्र भगवद्वाचकत्वे न कापि अनुपपत्तिः.

एवं "पुराणं हृदयं स्मृतम्" ( ) इति वेदहृदयत्वाद् "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेद्" (ब्रह्मा.पुरा.१।१।१७१) इति वेदार्थनिश्चायकत्वात् च

वेदवदेव नित्यो भगवानेव वाक्यार्थइति तत्रापि पूर्वोक्तैव व्यवस्था. तदितरत्रतु वाक्यार्थस्य बुद्धिकल्पितत्वात् न तद्रूपत्वम्.

अतो व्याकरण-वैयासदर्शन-भगवन्मत-रीत्या ब्रह्मवादम् अनुसृत्य शब्दादिस्वरूपविचारे, शब्दस्य नित्य-सम्बन्धो वस्तुतो भगवद्रूपेणैव अर्थेन, व्यवहारेतु पदानां प्रवाहरूपेण नित्यो, वाक्यानान्तु यक्षबलि[टि.१] न्यायेन काल्पनिकः इति सिद्धम्.

वैदिकपदपदार्थयोः सम्बन्धग्रहोपायः :

अथ[टि.२] प्रसङ्गाद् इदं विचार्यते : वैदिकपदपदार्थानां भिन्नत्वात् कथं तत्र सम्बन्धग्रहः, कस्य वा सम्बन्धस्य ग्रहः ? इति, लोकेच कथम् ? इति.

तत्र "भगवद्दयया वृद्धव्यवहारादिना" इति ब्रूमः. कथम् ? इति चेद्, उच्यते "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तंवै(ह!) देवमात्मबुद्धिप्रकाशम्" (श्वेता.उप.६।१८) इति श्रुतौ ब्रह्मणे वेदपाठनस्य आत्मबुद्धिप्रकाशनस्य च उक्तेः, पुरुषसूक्ते च "पुरुषएवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्" (पु.सू.२=ऋक्संहि.१०।९०।२) इत्यादिना भूतादिरूपेण व्यवह्रियमाणस्यापि पुरुषात्मकत्वेन नित्यत्वम् उक्त्वा ततः "तस्माद् विराड् अजायत" (पु.सू.५) इत्यादिना सर्वपदार्थानाम् ऋगादीनां मन्त्राणाञ्च उत्पत्तिम् उक्त्वा "तेन देवा अयजन्त" (पु.सू.८) "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते" (पु.सू.१६) "तानि धर्माणि प्रथमानि" (पु.सू.१८) इति च उक्तेः, श्रीभागवतेच "एवं पुरा धारणयात्मयोनिर्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य तुष्टात् तथा ससर्जेदममोघदृष्टिर् यथाप्ययात् प्राग् व्यवसायबुद्धिः" (भाग.पुरा.२।२।१) इति कथनात् च, भगवान् पाठयन् ब्रह्मबुद्धिं प्रकाशयति, युगपत् सृष्टौ च सर्वेषां बुद्धिम्. तदा ब्रह्मा वा ते वा यागे प्रवर्तन्ते. यागसम्भाराश्च पुरुषावयवात्मकाएवेति

१. "यादृशो यक्षो भवति तादृशो बलिः तस्मै प्रदातव्यः" इति न्यायः द्र. भुव.लौकि.न्या.साह.१४६(ग्या). २. शब्दप्रामाण्य-परिकरीभूत-शब्दार्थसम्बन्ध-स्वरूपादि-विचारोत्तरम् इति अर्थः(अ).

प्रथमं तेष्वेव तेषां सम्बन्धयोः ग्रहः, तत्समाननामरूपत्वेन लौकिकेषु च एकस्य सः. ततो वृद्धव्यवहारेण ईश्वर-प्रकाशित-बुद्धीनां बालानामपि अदूरविप्रकर्षात् तथैव अवगमः.

विच्छिन्नपरम्पराणान्तु वैदिकपदार्थस्य अतीन्द्रियत्वात् लोके पूर्वं ततो वाचकसादृश्येन भगवदनुगृहीत-पूर्वाचार्यग्रन्थादिनाच लौकिकसमानाकारत्वेन अवगमः, तत्रापि आश्रयाश्रयिभावस्य अत्यन्तं पारोक्ष्येण अतीन्द्रियेषु स्वर्ग-मेरु-सुपर्ण-प्रभृतिषु, [पा.भे.६०] साम्प्रतम् अप्रसिद्धेषु सिंहशरभादिषु [टि.१] च यथा भवति तद्वत्. येषां पुनः अत्यन्तपरम्पराविच्छेदः तेषामपि भगवत्कृपया सुखेन अवगमः, कल्यन्ते कल्क्यङ्गराग-सौरभसनाथ-पवनसंसर्गेण धर्मस्येव. येषां पुनः न सा तेषान्तु उपायाभावात् तदभावएव; प्रत्युत, गुणक्षोभकृत-स्वभाववैचित्र्याद्, विपरीतज्ञानमपि. नच इदम् अप्रयोजकम्, अविच्छिन्नपरम्पराणामपि तथाश्रवणाद्, यथा "एष आत्मा" (छान्दो.उप.८।७।४) इति ब्रह्मवाक्येन विरोचनस्य देहे 'आत्म'-पदशक्तिग्रहः, एकादशस्कन्धे च "वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः तेषां विकल्पप्राधान्यम् उताहो एकमुख्यता" (भाग.पुरा.११।१४।१)इति प्रश्ने भगवता उक्तं :—

"कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता। मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥
तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा। ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः॥
तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः। मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः॥
किन्देवाः किन्नरा नागा रक्षःकिम्पुरुषादयः। बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः॥
याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा। यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि॥
एवं प्रकृतिवैचित्र्याद् भिद्यन्ते मतयो नृणाम्। पारम्पर्येण केषाञ्चित् पाषण्डमतयोऽपरे॥
मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ!। श्रेयो वदन्त्यनैकान्त्याद् यथाकर्म यथारुचि॥"
(भाग.पुरा.११।१४।३-९) इति.

अतो विधिबलाद् अध्यापने अध्ययनेऽपि चेद् एवम्भावः, तदा

१. "अष्टपाद् ऊर्ध्वनयनः ऊर्ध्वपादचतुष्टयः" इति लक्षणको मृगजातीयः पशुविशेषः सिंहमुखाकृतिमान् शरभः, सिंहशरभः स्यात् (म्या).

इदानीन्तनानां तदभावे कः सन्देहः ! इति न तेन अस्माकं काचन हानिः.

यातु प्राथमिकशक्तिग्रहे परेषां प्रणाडी : *''घटम् आनय'' इति प्रयोजकवृद्धेन उक्तः प्रयोज्यवृद्धः, तदर्थम् अवगत्य घटम् आनयति, तत् पश्यन् बालः, तया क्रियया तस्य प्रयत्नं, तेन इच्छां, तयाच तद्विषयकं ज्ञानं, स्वदृष्टान्तेन अनुमिनोति, ततः तत्र हेत्वाकाङ्क्षायाम् उपस्थितत्वात् शब्दमेव कारणत्वेन कल्पयति, ततो 'घटा'दिपदानां प्रत्येकम् आवापोद्वापाभ्यां'' - 'घट'पदं घटधीजनकम्'' इत्यादि कल्पयति, क्लृप्ते च तस्मिन् अतिप्रसङ्गभङ्गाय तज्जननानुकूलं शक्तिरूपं सम्बन्धं कल्पयति. तदुत्तरञ्च क्वचिद् व्यवहारात् क्वचिद् उपमानात् क्वचित् शब्दाद् व्याकरणादिरूपाद् भवति* इति, सातु न अस्माकं रोचते, प्रत्यक्षविरोधात्. तथाहि : यः एतावत्कल्पकः स न अतिबालः किन्तु प्रगल्भएव वाच्यः. तथा सति वृत्तान्तान्तरमिव इदमपि स्ववृत्तान्तं स्मरेत्. अथ अतिबालः, तदातु तावत् प्रणाडीज्ञानादिकमेव तस्य दुर्लभमिति दूरापास्तं कल्पकत्वं व्याप्तिज्ञानादिवैधुर्यात् च.

किञ्च, तस्य यद् ज्ञानं तत् किम् उपेक्षाबुद्धिरूपं ग्राहकबुद्धिरूपं वा? न आद्यं, तथासति अग्रे शक्तिं न स्मरेत् संस्कारानुदयाद्, उपेक्षान्य-संशयान्य-ज्ञानस्यैव संस्कारजनकत्वात्. द्वितीयं चेत्, तर्हि प्रणाडीमपि स्मरेत्.

किञ्च सादिसृष्टिवादे प्राथमिको बालः चतुर्मुखएव वाच्यः, तदुपशिक्षणायच ईश्वरेण रूपद्वयं[टि.१] विधीयते इत्यपि वाच्यं, तदपि न उचितं, तथा सति नानाश्रुतिपुराणेषु नानावृत्तान्तवद् इदमपि क्वचिद् उपलभ्येत. तस्मात् न इदं साधीय इति.

शब्दानाम् अर्थप्रत्यायकत्वे शक्तिलक्षणादिवृत्तिविचारः :

अथ इदं[टि.२] विचार्यते : शब्दार्थयोः प्रत्याय्यप्रत्यायकभावः सम्बन्धः

१. प्रयोजकवृद्ध-प्रयोज्यवृद्धरूपम् (ग्या). २. सम्बन्धस्वरूपविचारेण नित्यत्वम् (ग).

पूर्वम् उक्तः तत्र प्रत्याय्यत्वम् अर्थगतं प्रत्यायकत्वं(च!) शब्दगतं प्रतिपादकत्वापरर्यायम्, तच्च (क) शक्ति-लक्षणा-गौणी-सङ्केत-(ख) शक्तिभ्रमान्यतरेण प्रकारेण बोधकत्वम्. तस्य नित्यत्वन्तु न शक्यवचनं, तथा सति तच्छरीरप्रविष्ट-प्रकारणामपि नित्यत्वापत्त्या शक्ति-लक्षणादि-कृत-गौण-मुख्यत्व-विभाग-वैयर्थ्यापत्तेः. नच *शक्त्या बोधकत्वमेव प्रत्यायकत्वम्* इति वाच्यं, प्रकारान्तरेण बोधके शब्दे प्रत्यायकत्व-व्यवहार-बाधापत्तेः शक्त्यवच्छेदकानिर्वाच्यतापत्तेः च. तथाहि : न तावत् 'श्रोत्रग्राह्यत्वं' शक्त्यवच्छेदकं, तस्य ध्वनावपि तौल्यात् तत्रापि शक्त्यापत्तेः. नापि ''तथात्वे सति प्रत्यायकत्वं'', विभागवैयर्थ्यापत्तेः, अपभ्रंशेष्वपि शक्त्यापत्त्या अनेक-शक्ति-कल्पनाप्रसङ्गात् च. नापि 'साधुत्वं' तथा, तस्यैव अनिर्वाच्यत्वात्. न तावद् 'वाचकत्वं' तद्, गाव्याद्यपभ्रंशसाधारण्याद्, अर्थप्रत्ययप्रयोगाभ्यां तत्रापि तदवगमात्. नच *तेषां लाक्षणिकत्वम्!* इति युक्तं, तेषां क्वापि शक्त्यभावे तत्र लक्षणायाअपि अशक्यवचनत्वात्, नापि अदृष्टसाधनत्वं तत्, तस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वेन प्रयोग-नियामक-विध्यनुपलम्भेन च तथात्वस्य निश्चेतुम् अशक्यत्वात्. नापि अनादिवाचकत्वं तत्, मीमांसकादिमते सम्बन्धुः अस्मरणस्य, नैयायिकादिमते ईश्वरसङ्केतस्य अपभ्रंशेष्वपि तौल्यात्, शब्दापशब्द-विभाग-भङ्गापत्तेः; अतः, शक्त्यवच्छेदकस्य अनिर्वाच्यत्वाद्, ईश्वरसङ्केतातिरिक्तशक्त्यभावेन तदुपगमस्य गौरवग्रस्तत्वात् च.

कथं सम्बन्धस्य नित्यत्वम् इत्यत्र उच्यते, न तावत् शक्त्यवच्छेदकानिर्वाच्यत्वं येन सम्बन्धनित्यता हन्येत, अनादेः शब्दस्वरूपस्यैव तदवच्छेदकत्वात्. नच अपभ्रंशेषु तदापत्तिः, तेषां देशनियतत्वेन देशानां भूमिविभागोत्तरभावित्वेन भूमेश्च जन्यत्वेन तेषामपि अर्वाचीनत्वात्, प्रलयदशायां वेदवत् तत्सत्ताबोधक-प्रमाणाभावात्. नच ततः पदार्थबोधानुपपत्तिः, आद्यानाम् 'इन्द्रा'दिशब्देन इन्धादेरिव [टि.१] तच्छक्तेः वाचकशक्तिजन्यतया तेन

१. ''इन्धे भूतानि इति वा. तद्यदेनं प्राणैः समैन्धन् तद् इन्द्रस्य इन्द्रत्वम् इति विज्ञायते'' (निरु.दैव.का.१०।१।१०) इन्द्रियेण ऐन्ध्य तस्माद् इन्धः. इन्धो हवै तम् 'इन्द्रः' इति आचक्षते'' (शत.ब्राह्म.६।१।१।२) (श्या).

तन्मूलशब्दोपस्थापनाद्. अर्वाचीनानान्तु परम्परया तत्रैव सङ्केतग्रहाद्युपपत्तेः. अतएव प्रयोगप्रत्यययोः वाचकत्वानियामकतया तदसिद्धेः न तत्र साधुत्वम्. वाचकत्वञ्च अर्थप्रतीतिजननानुकूलानादि-शक्तिमत्त्वं बोध्यम्. एवञ्च शक्त्या बोधकत्वस्य औत्पत्तिकत्वेन अभिप्रेतत्वात् न तस्य नित्यत्वे किमपि बाधकम्.

शक्तिस्तु अर्थसापेक्षं शब्दस्वरूपमेव वाचकत्वापरनामकं कारणत्वादि-वद् इति **वैयाकरणाः**.

वस्तुतस्तु साधुत्वापरपर्याया अनादि-वाचकत्व-रूपा अर्थबोधाविर्भावक-शक्तिः अतिरिक्तैव. नच *अतिरिक्तशक्तिकल्पने गौरवं शङ्क्यम्, आविर्भावकशक्तेः पूर्वं साधितत्वेन तस्याएव अर्थबोधार्थं शब्देऽपि सत्त्वेन अतिरेकाभावात्, तदाधारत्वस्यच बोधरूपकार्यादेव सिद्धत्वात्. नतु ईश्वरेच्छारूपः सङ्केतः, शब्दावृत्तित्वात्. शब्दनिष्ठ-शाब्दबोधानुकूल-पदपदार्थसम्बन्धस्य वृत्तित्वेन इच्छायाश्च वैयधिकरण्यात्, तद्व्याप्यत्वाभावेन तद्विशेषत्वाभावापत्तेः च. किञ्च परेच्छायाः परेण ज्ञातुम् अशक्यत्वाद्, ईश्वरेच्छायाः सुतरां तथात्वात्, तज्ज्ञापको व्यवहारप्रवर्तको अभिलापनियमः सर्वथा अङ्गीकार्यः. तथा सति सएव सङ्केतो अस्तु न इच्छा. सोऽपि पूर्वोक्तश्रुत्यादिना ज्ञाप्यतइति संस्कृतशब्देषु सङ्कोचिकैव सा श्रुत्यनुरोधात्. अतः "एतद्देशकालविभेदेन अस्माभिः उच्चार्यमाणो अयं शब्दः इममेव अर्थ बोधयतु नतु अन्यम्" इति ईश्वरकृतनियमरूपः शक्तिसङ्कोचएव 'सङ्केत' पदेन उच्यते. लोके व्यवहारार्थं संस्कृते व्याकरणादीनां तद्व्यवस्थापकत्वम्. यत्र पुनः व्याकरणादिभिः न व्यवस्था तत्र पूर्वोत्तरतन्त्रस्थैः न्यायैः. एवं सति "लोकतो अर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः" (पात.म.भा.पस्पशान्हिके) इतिव्याकरणस्मृत्या अनुमातव्ये प्रयोगनियमविधौ प्रतिपदवाक्यकल्पनायाः गुरुत्वात् "सुशब्दमेव प्रयुञ्जीत न अपशब्दम्" इति एवं नियमो अनुमीयते. तेन पर्यायस्थले प्रयोगानियमो यद्यपि न दुष्टः तथापि "अन्यायश्च अनेकशब्दत्वम्" (जैमि.सू.१।३।९।२६) इति जैमिनिस्मृत्या एकस्य अर्थस्य एकशब्दवाच्यत्वनियमावधारणात्, पर्यायाणामपि धर्मविशेषपर्य

वसानं ज्यायः, विकल्पव्यवस्थासिद्ध्या षड्दोषाप्रसङ्गात्. अन्यथा अष्टदोषापत्तेः. अतएव 'घट-कलश' शब्दयोः सत्यपि पर्यायत्वे माङ्गल्येषु 'कलश'पदमेव प्रयुञ्जते 'कलशस्थापनम्' इति, अमाङ्गल्ये च 'घट'-शब्दं 'घटस्फोटः' इति. करहस्तादिषुतु अन्याय्यापि अनेकशब्दता आर्यप्रयोगसाधारण्य-दर्शनेन गत्यन्तराभावाद् अङ्गीक्रियते. एवम् अनेकार्थप्रयोगस्थलेऽपि बोध्यम्, अनेकेषु अर्थेषु कस्यापि 'गङ्गा' पदात् तीरस्येव अर्थान्तरप्रतीतिपूर्वक-प्रतीतिकत्वादर्शनात्. सर्वासाम् आकृतीनां तुल्यतया एकत्र एकस्य, इतराभावेन, सत्त्वाभावाद्, आकृत्यधिकरणन्यायेन आक्षेपलभ्यत्वासम्भवात्, सर्वप्रवाहतौल्येन समान-नाम-रूप-सूत्रस्यापि तूष्णीकत्वात् च, आर्यप्रयोगसाधारण्याद्, विशेषलाभे गुणस्य उक्तत्वात् च इति.

विकल्पदोषाणान्तु अयं संग्रहः :—

यदा वाक्यद्वयात् कल्पो विकल्पो ह्यव्यवस्थितः।
तदैकादरणेऽन्यस्य प्रामाण्यत्याग आपतेत्॥
अप्रामाण्योररीकारश्चैवं द्वौ तद्भियेतरत्।
आदृतं चेत् तदा त्यक्तप्रामाण्यस्य परिग्रहः॥
स्वीकृताऽमानतात्यागः तस्मिन् पूर्वत्र चोभयम्।
पूर्वोक्तमिति चत्वारः तद्भिया पूर्वआदृते॥
दोषद्वयं द्वितीयोक्तम् एवं दोषाष्टकं भवेत्।
वारत्रयप्रयोगेणेत्येवन्तु मम भासते॥
चतुर्थादिप्रयोगेतु ते ततो नोद्भवः पुनः।
इत्येवमवस्थायां विकल्पस्य व्यवस्थितौ॥
एकवाक्ये भवेद् दोषद्वयं तेनायमुत्तमः।
बोध्यः सुधीभिः पूर्वस्मादिति शास्त्रविनिश्चयः॥

अत्र उदाहरणं व्रीहियवशास्त्रे तद् यथा :

(१)व्रीहिवाक्यार्थोपादाने : यववाक्यप्रामाण्यत्यागाप्रमा-ण्यारोपौ.

(२)यववाक्यार्थोपादाने : व्रीहिवाक्यस्य स्वीकृतप्रामाण्य-त्याग-त्यक्ताप्रामाण्यारोपौ. यववाक्यस्य व्रीहिवाक्यार्थ-ग्रहणदशायां : त्यक्तप्रामाण्यारोपारोपिताप्रमाण्यत्यागौ, इत्येवं चत्वारः.

(३)व्यवस्थाभावात्, पुनः, व्रीहिवाक्यार्थोपादाने व्रीहिवा-क्यस्य यववाक्यार्थग्रहण-दशायां : त्यक्तारोपारोपित-त्यागौ.

इत्येवं पर्यायत्रयेण वाक्यद्वये प्रत्येकं चत्वारइति अष्टौ.

साम्प्रदायिकमीमांसकास्तु *व्रीहिवाक्यार्थोपादाने यववाक्यप्रामाण्य-त्यागाप्रामाण्यारोपौ व्रीहिवाक्यप्रामाण्योज्जीवना-ऽऽरोपिताप्रामाण्यत्यागौ इति चत्वारः. एवं यववाक्यार्थोपादाने शास्त्रद्वयविपर्यासेन चत्वारइति पर्यायद्वयेन अष्टौ * इति आहु.

तत् न अस्माकं रोचते, प्रथमं त्यागस्वीकारयोः अभावेन उज्जीवना-रोपयोः वक्तुम् अशक्यत्वाद्, अप्रामाण्यस्य अत्र फलकृतत्वेन प्रयोगदशायामेव तन्निर्द्धारणापि पूर्वं तदनवगमात् चेति. तत्त्वन्तु पा.भे.६१ त्यक्तप्रामाण्योज्जीवनस्य स्थूणाखननतुल्यतया आरोपिताप्रामाण्यत्यागस्य च आस्तिक्यसम्पादकतया गुणत्वेन तयोः दोषत्वं न युक्तम्. यदिच एतयोः शास्त्रतात्पर्यगोचरतया अकाल्पनिकत्वं विभाव्यते तदातु अग्निष्टोमीयपशुहिंसाव-देव अदोषत्वम्, एतयोः दोषत्वेन शास्त्रगोचरतया अवाचनिकत्वाद् इत्यतः चत्वारएव अव्यवस्थितेऽपि दोषाः. तेऽपि अनुष्ठापकएव वाक्ये नतु पा.भे.६२ बोधकेऽपि आकाङ्क्षादिमद्वाक्यश्रवणे शाब्दबोधस्य अनुभवसाक्षिकत्वाद् इति.

प्रकृतम् अनुसरामः : भाषायान्तु अपूर्वस्य सङ्केतस्य प्रयोजिका(...!) तद्व्यवस्थापकत्वं च तत्तद्देशीयोच्चारणस्य. अतो अर्वाचीनानां भाषाशब्दैरपि तेनैव बोधो नतु शक्तिभ्रमेण. अतएव शक्तपदादिव तेभ्योऽपि तत्तद्देश्यानां

तेषु गृहीतसङ्केतानाम् अन्यदेश्यानां च पदार्थोपस्थितिः युज्यते. नच *तत्र शक्तिभ्रमात् पदार्थोपस्थित्यादिकम्* इति युक्तं, भ्रमत्वविनिगमकस्य अभावात्. पर्यायशब्देष्विव तेष्वपि पूर्वोक्तरीत्या सङ्केतस्य सिद्धौ तद्ग्रहस्य प्रमात्वसम्भवे भ्रमत्वकल्पनायाः अन्याय्यत्वाद्, अग्रे बाधाभावात् च. नच तत्र लक्षणा, तेषां कुत्रापि शक्त्यभावे शक्यसम्बन्धरूपायाः लक्षणायाअपि असम्भवेन अशक्यवचनत्वात्.

अत्र **साम्प्रदायिकनैयायिकाः** *संस्कृतपदानां सकल-देशकाल-साधारण्येन परिगणिततया च अल्पत्वम् अपभ्रंशानान्तु तत्तद्देशकालभेदेन आनन्त्यमिति तदेव विनिगकमिति न अपभ्रंशे शक्तिः पर्यायेषुतु विनिगमकाभावात् सर्वत्र शक्तिरेव* इति **आहुः**.

तएव **नव्यास्तु** *संस्कृतत्वापभ्रंशत्वाभ्याम् अल्पत्वानन्तत्वसम्भवेऽपि प्रत्येकम् एकैकत्वेन संस्कृततुल्यतया विनिगमकासम्भवात्, संस्कृतत्वेन अपभ्रंशत्वेन वा शक्त्यभावाद्, 'घो'त्तर-'ट'त्वादिना प्रत्येकमेव तस्याः सर्वत्र सिद्धत्वात्. तथाच 'घट'-'घइला'[टि.१]-शब्दयोः प्रत्येकं सर्वत्र एकत्वात् शक्तौ कोऽपि न विशेषः. नच *शक्तौ सत्यां तत्पदात् तद्देशीयानामिव अन्यद्देश्यानामपि बोधः स्याद्* इति वाच्यं, शक्तितदभावयोः पदार्थोपस्थिति-तदभावौ प्रति स्वरूपतो नियामकत्वाभावात्, शक्तिग्रहाग्रहयोरेव तथात्वात्. अतएव च अगृहीतशक्तिकाद् 'घटा' दिपदादपि न अव्युत्पन्नानां पदार्थोपस्थित्यादि, गृहीतशक्तिकाद् 'घइला'पदादपि पाश्चात्यानां[टि.२] पदार्थोपस्थित्यादि इति युज्यते. अतः उक्तयुक्तेः अप्रयोजकत्वाच्च न किञ्चिद् एतत्. किन्तु कोशाद्यभावादेव न अपभ्रंशे शक्तिः. अतएव प्राकृतसञ्जीविन्यादिभिः प्राकृतव्याकरणैः परिगणितानामपि प्राकृतानां न शक्तिः इति उपपद्यते. नच *व्यवहारएव तत्र शक्तिग्राहकः* इति वाच्यं, शक्तिभ्रमलक्षणादिभिरपि व्यवहारसम्भवेन तस्य शक्तिप्रमापकत्वाभावाद्, अनन्यलभ्यस्यैव शक्यत्वाभ्युपगमात्. अतएव प्राकृतव्याकरणैः प्राकृतेषु

१. मैथिलभाषायां 'घट'पदपर्यायो अयम्(श्या). २. बंगदेशात् पश्चिमायां दिशि मिथिला वर्ततइति. एतेन अयं पक्षः बंगदेशीयस्य कस्यचन लेखकस्य इति अनुमातुं शक्यते.(श्या).

साधुत्वबोधनेऽपि न तेषां शक्तत्वं, कोशस्यैव प्राधान्येन शक्तिप्रमापकत्वात्. व्याकरणव्यवहारादीनान्तु अनन्यलभ्यत्वसहकृतानां शक्तिपरिच्छेदकत्वस्यैव युक्तत्वात्. तथाच अव्युत्पन्नानां शक्तिभ्रमाद् व्युत्पन्नानां शक्तपदस्मारणात् पदार्थोपस्थित्यादि-सम्भवेन प्राकृते अपभ्रंशे च न शक्तिकल्पनम् ✻ इति आहुः,

इदमपि आपातरम्यमेव, अग्रे बाधाभावेन तत्र भ्रमत्वकल्पनायाः अयुक्तत्वात्, संस्कृते गृहीतशक्तीनाम् अगृहीतशक्तीनां वा स्वस्वभाषाशब्देषु शक्तिबाधादर्शनात्, प्रत्युत बाल्ये भाषया गृहीतशक्तीनां पौगण्डादिषु पठिते कोशादौ भाषाशब्दैरेव विवरणे तत्परिच्छितिरिति वैपरीत्यस्यापि दर्शनात् च, अप्रतारकीय-प्राथमिक-व्यवहारादेः भ्रमप्रयुक्तत्वे मानाभावात् च, कुत्रापि तेषां शक्त्यभावे लक्षणायोगादेव तयापि व्यवहारासम्भवात् च. अतः तेषु शक्तिपक्षएव साधीयान्. यत् पुनः फणिभाष्ये "अपभ्रंशेषु न शक्तिः" इति प्रतिपादितं, तत्तु अनादि-वाचकत्वरूप-शक्त्यभावाभिप्रायं, "तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै न अपभाषितवै. म्लेच्छो वा एष यद् अपशब्दः" (वाज.ब्राह्म.ज्यो.ष्टो.प्रक.) इति श्रुत्यनुरोधाद्, यज्ञेषु तादृशशब्दोच्चारस्य अनिष्टाधायकत्वात्, तन्निवृत्त्यर्थं च. अतो यत् श्रीमद्भागवते "तद् वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकम् अबद्धवत्यपि नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः" (भाग.पुरा.१।५।११) इति अपशब्दवतोऽपि वाग्गुम्फस्य अघनाशकत्वम् उक्तं, तदपि भगवन्नामभिः सह पाठादेव नतु स्वरूपतः इति युज्यते. शक्तिश्च पर्यायेष्विव तेष्वपि तत्तदानुपूर्व्या अवच्छिद्यते. ते विकृताइति तदुच्चारणे फलमपि विकृतमेव भवति. लौकिकेषु 'देवदत्ता' दिपदेष्वपि भाषावदेव भगवदिच्छा (प्रयोजिका!) ज्ञेया तेन न काचिद् अनुपपत्तिः.

मुख्यगौणीतात्पर्यभेदेन शब्दवृत्तीनां त्रैविध्यम् :

साच शक्तिः नामलीलानिर्वाहाय व्यवहारे (१) मुख्या-(२) गौणी-(३) तात्पर्य-वृत्तिभेदेन त्रिधा वर्तमाना, (१) मुख्या-(२) तात्पर्य-वृत्तिभेदेन द्विधा वर्तमाना वा, 'वृत्तिः' इति उच्यते.

(१ **मुख्या वृत्तिः**) : तत्र वाचकत्वरूपेण वर्तमाना मुख्या, सापि (१/क) रूढि-(१/ख) योग-(१/ग) योगरूढि-भेदेन त्रिधा :

(१/क) तासु यत्र प्रकटो व्यवहारो अभिप्रेतः तत्र पूर्वोक्ता शक्तिसङ्कोचलक्षणा रूढिः, यथा, 'कपित्थ'-'मण्डपा'दि-पदे[पा.भे.६३].

(१/ख) यत्र ईषत्तिरोधानेन अभिप्रेतः, पदभङ्गेन श्लेषो वा, तत्र अवयवशक्तिम् आदाय कल्पिता स योगः. यथा 'पाचक'-'विश्वामित्रा' दिपदे.

(१/ग) यत्र किञ्चिदर्थापवादेन कश्चिद् अर्थो दृढीकर्तुम् इष्टः. तत्र उभयशक्तिम् आदाय योगरूढिः, यथा, 'पङ्कजा' दिपदे.

यत्तु * 'उद्भिदा'दिपदे उद्भेदकर्तुः तरुगुल्मादेः यौगिकस्य यागविशेषस्य रूढस्य च स्वातन्त्रेण बोधाद् यौगिकरूढिः अतिरिक्ता * इति **मुक्तावलीकारः**, तत् न, समुदायशक्त्यनवधारणे अवधारणे च 'पङ्कज' पद-समानकक्षत्वेन स्वातन्त्र्यस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्[टि.१]. एवं मुख्या व्याख्याता.

(२ **गौणी वृत्तिः**) : शक्यसम्बन्धेन बोधिका गौण्यपि द्विधा : (२/क) फ-ललक्षणा-(२/ख) गौणी-भेदात् :

(२/क) तयोः मध्ये यत्र किञ्चित्फलार्थं पारोक्ष्येणैव अर्थो बुबोधयिषितः तत्र पदे[पा.भे.६४] शक्यसम्बन्धरूपा प्रयोजनलक्षणा, यथा, "गङ्गायां घोषः" इत्यादौ 'गङ्गा'पदे[पा.भे.६५].

(२/ख) एवम् उपचारार्थं सादृश्यात्मक-शक्यसम्बन्ध-रूपा गौणी, यथा, "गौः वाहीकः" इत्यादौ इति ऊह्यम्.

अतो नानाविधव्यवहारसिद्ध्यर्थं शक्तेः नाना प्रकारेण वर्तनम् इति

१. अवयवशक्तौ समुदायशक्त्यभावेऽपि हि अतिरिक्तशक्ति-तत्प्रागभावादिकल्पना-गौरवापेक्षया शक्तित्रिकपक्षएव ज्यायान् इति (क).

वृत्तीनां भेदः.

निरूढलक्षणातु न युक्ता, "कर्मणि कुशलः" इत्यत्र "कुशान् लाति" इत्यादौ योगस्य बाधं परिकल्प्य विवेकादि-सम्बन्धात्मक-लक्षणा-कल्पनस्य योगापहारिकया रूढ्या बाधात्, "कृती कुशल इत्यपि" (अम.को.३।१।४) इत्यादिकोशेन शक्तेरेव ग्राहणात्, चित्रतुरगादौ 'तुरगा' दिपदानां गौण्यैव उपपत्तेः, ध्वस्तघटादौ 'घट' व्यवहारस्य सूक्ष्मघटसत्तां कारणनिष्ठाम् आदाय शक्त्यैव उपपत्तेश्च. यत्तु *'द्विरेफ' शब्दे शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षितलक्षणा* इति मतं, तत् न, 'द्विरेफ'[पा.भे.६६] पदेन 'भ्रमर' पदीय-रेफद्वय-सम्बन्धे ज्ञायमाने रेफद्वयवतां 'बर्बर'-'बर्कर'-'शर्करा'-'रुचिरा' दिशब्दानां व्युदासस्यापि प्रत्ययापत्तेः इत्यादि बोध्यम्. अतएव न यौगिकरूढिरपि[पा.भे.६७].

फललक्षणाभेदास्तु[पा.भे.६८] ग्रन्थविस्तरभयात् न उच्यन्ते.

एवं गौण्यपि "यजमानः प्रस्तरः" (तैत्ति.ब्राह्म.३।३।६।८) "अग्निः ब्राह्मणः" (तैत्ति.संहि.२।३।३।३) "आदित्यो यूपः" (तैत्ति.ब्राह्म.२।१।५।२) इत्यादिषु न गुणयोगात् किन्तु विधेयस्तुत्यर्थोपचारतएव तावद्गुणयुक्त-धर्मिरूपेण धर्म्यन्तरस्यैव उपचारात्. धर्मस्फुरणन्तु धर्मिज्ञानादेव. अन्यथा बाधप्रतिसन्धानम् अन्तरेण पूर्वं धर्मएव स्फुरेद्. एवं "गो-अश्वाएव पशवो अन्येतु अपशवः" (तैत्ति.संहि.५।२।९।४), "सृष्टीरुपदधाति" (तैत्ति.संहि.५।३।४।७।) "प्राणभृत उपदधाति" (तैत्ति.संहि.५।२।१०।९, ५।३।१।१) "छत्रिणो यान्ति" इत्यादावपि अपश्वादि-धर्मिस्फूर्त्यनन्तरं बाधप्रतिसन्धाने गवाश्वप्रशंसार्थम् अजादिषु आरोपितम् अपशुत्वं, सृष्ट्यसृष्ट्यादिसङ्ख्ये भूम्ना लिङ्गेन च उपलक्षणविधया आरोपितं सृष्टित्वं प्राणभृत्त्वं च प्रतीयत — इति षड्विधापि गौणी उपचारादेव इत्यपि ज्ञेयम्.

सादृश्यस्य षड्विधत्वञ्च :—

"[१]तत्सिद्धि - [२]जाति - [३]सारूप्य - [४]प्रशंसा - [५]लिङ्ग - [६]भूमभिः।
षड्भिः[टि.१] सर्वत्र शब्दानां गौणी वृत्तिः प्रकल्पिता॥"
(शा.दी.१।४।१८।२८) इति पूर्वतन्त्रग्रन्थेषु उक्तम्.

([३] **तात्पर्यवृत्तिः**) : तात्पर्यञ्च "तत्प्रतीतीच्छया उच्चारितत्वम्."

सङ्केतशक्तिभ्रमौतु रूढिपरिकरत्वाद् रूढावेव अन्तर्भवतः.

तेन रूढि-योग-योगरूढि-फललक्षणा-गौणी-तात्पर्य-वृत्तिभेदात् षोढा पदवृत्तयः.

आलंकारिकास्तु *न एताएव वृत्तयो, व्यञ्जनायाः आभ्यो अतिरिक्तत्वात्. तथाहि : "गङ्गायां घोषः" इत्यादौ तटादिगतातिशयित-शैत्यपावनत्वादि-प्रयोजनप्रतीतौ न अभिधाव्यापारः, तत्र 'गङ्गा' दिपदसङ्केताभा-वात्. नापि लक्षणागौण्यौ, शक्यार्थेन सह सम्बन्धसादृश्ययोः अभावात्. नच *पावनत्वादिविशिष्टे लक्षणा* इति वाच्यं, लक्ष्यप्रयोजनयोः अत्यन्तभेदाभावेन फलाभावे फललक्षणात्व-हानिप्रसङ्गात्, 'घोषा' दिपदान्वया-नुपपत्त्या मुख्यार्थबाधे अनुसंहिते 'गङ्गा' पदस्य तटे लक्षणाप्रतिसन्धानवत् पावनत्वादिविशिष्टतटे तत्प्रतिसन्धान-बीजाभावाच्च. नच *तत्र वृत्तिं विनैव अर्थबोधः* इति वाच्यं, "शाब्दबोधे शब्दोपस्थापितएव पदार्थो भासते" इति नियमभङ्गप्रसङ्गात्. किञ्च अनेकार्थस्थले संयोगादेः शब्दस्य वाचकत्वे नियमिते या अवाच्यविषया बुद्धिः सा वृत्त्यन्तरं विना न उदेतीत्यतो

१. (१)"यजमानः प्रस्तरः" इत्यत्र यजमानवत् कार्यसिद्धौ अभ्यर्हितत्वात् प्रस्तरस्य यजमानत्वेन प्रशंसा.(२)"अग्निर्वै ब्राह्मणः" इत्यत्र सृष्टिकालेहि अग्निब्राह्मणौ मुखाद् जाताविति "जननं जातिः" इत्यर्थम् आदाय ब्राह्मणस्य अग्नित्वेन प्रशंसा.(३)"आदित्यो यूपः" इत्यत्र अञ्जनेन सूर्यतेजस्सारूप्याद् यूपस्य आदित्यत्वेन प्रशंसा.(४)"अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः पशवो गो-अश्वाः" इत्यत्र गवाश्वयोः हि यत् प्राशस्त्यं न तद् अन्येष्विति तत्प्राशस्त्याभावः पश्वन्तराणाम् अपशूनां च तुल्यमिति पश्वन्तराणाम् अपशुत्वेन निन्दा.(५)"प्राणभृत उपदधाति" इत्यत्र प्राणभृद्गणे प्राणभृत्समवायो अस्ति, अप्राणभृद्गणेऽपि प्राणभृत्समवायो अस्तीत्यनेन अल्पसादृश्यलिङ्गेन अप्राणभृद्गणस्य प्राणभृत्त्वेन निरूपणम्.(६)"सृष्टीरुपदधाति" इत्यत्र सृष्टिसमुदायो भूमा अस्तीति असृष्टिसमुदायेऽपि तत्र 'सृष्टि' शब्दप्रयोगः (श्या).

वृत्त्यन्तरं स्वीकार्यम्. तेन लक्षणास्थले फलप्रत्यायिका नियतशक्त्यनेकार्थस्थले विवक्षितातिरिक्त-वाच्यप्रत्यायिका वृत्तिः व्यञ्जना सा अतिरिक्तैव * इति आहुः.

तत् न, लक्षणामूलव्यञ्जनास्थले "गङ्गायां घोषः" इत्यादौ 'घोष' पदार्थे वक्तुः अप्रतारकत्वे च निश्चिते अन्वयानुपपत्त्यादिना तटे लक्षणानुसन्धाने "किमर्थं लक्षयति ?" इति आकाङ्क्षायां तात्पर्यवृत्त्या शैत्यपावनत्वादि प्रतीयते तात्पर्यं च तादृशवाक्योच्चारणमहिम्ना.

लक्षणा यथा अर्थगता शब्दे आरोप्यते; तथा, तात्पर्यं वक्तृगतं तत्र आरोप्यतइति आरोपितवृत्तित्वम् उभयोः वादिनोः तुल्यम्.

व्यञ्जनायाः व्यापारत्वेतु अश्लीलस्थलइव अत्रापि केशवालुकादेरपि प्रतीत्यापत्तिः, तन्नियमनाय तात्पर्यवृत्तेः तवापि आवश्यकत्वात् 'तद्धेतु'[टि.१] न्यायेन व्यञ्जनायाः अजागलस्तनप्रायत्वम्.[टि.२] . "गच्छ ![पा.भे.६९] गच्छसि चेत् कान्त ! पन्थानः सन्तु ते शिवाः, ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान्" इत्यत्रापि प्रियेण वियोक्ष्यमाणायाः तदभावाय गमनाभावे तात्पर्यं तादृशवाक्योच्चारणमहिम्नैव ज्ञायतइति तत्रापि न अतिरिक्ता व्यञ्जना.

यत्तु * तात्पर्यानुपपत्त्या अत्र लक्षणा * इति **मञ्जरीकारः**, तत् न, 'ममापि' इत्यादिषु एकस्मिन् तदभावेन वाक्येच शक्त्यनङ्गीकारेण तन्मते तस्याः अनुपपन्नत्वात्. यदपि * "गङ्गायां घोषः" इत्यत्र लक्ष्यप्रतीतिरेव प्रयोजनं नतु शैत्यपावनत्वादिप्रतीतिः * इति उक्तं, तदपि न, तादृशवाक्यवक्तुः मूर्खतापत्तेः, ऋजुमार्गे विद्यमाने एवं द्रविड़मण्डकस्य अप्रयोजकत्वात्. अतः फलप्रतीतिरेव प्रयोजनत्वेन आदरणीया. अतः तन्मते न कथमपि व्यञ्जनां [पा.भे.७०]

१. "तद्धेतोरेव तदस्तु किमन्तर्गडुना तेन ?" इति (भु.लौ.न्या.सा.१।३९)न्यायः. 'तस्य'=कपालादेः 'हेतोः'=मृदादेरेव 'तद्'=घटादिकारणत्वम् 'अस्तु'=कल्पनीयम्. 'किमन्तर्गडुना तेन'= कपालादिरूपकार्यस्यापि कारणताकल्पनेन (श्या). २ 'अजायाः'=छागायाः 'गले'=कण्ठे 'स्तनौ'= स्तनाकारौ मांसविकारौ निष्प्रयोजनौ यथा भवतः तथा अस्याः व्यञ्जनाख्यायाः अतिरिक्तायाः वृत्तेरपि स्वीकारो निष्प्रयोजनएव(श्या).

विना निर्वाहइति तात्पर्यमेव आदरणीयम्. नच * व्यञ्जनानुपगमे बोधशैघ्र्यानुपपत्तिः * इति वाच्यम् उक्तवाक्यस्य प्रसिद्धत्वेन अभ्यासपाटवादेव उपपत्तेः. नूतनवाक्ये बोधविलम्बस्य अनुभवसाक्षिकत्वेन सुमेधसः तच्छैघ्र्यस्य तात्पर्यज्ञानादेव उपपन्नत्वेन च तस्य व्यञ्जनासाधनासामर्थ्यात् च.

किञ्च "मुखं विकसितस्मितम्" (काव्य.प्र.२।१९।९) इत्यादिगूढव्यंग्यस्थले टीकाकारैः तेषां-तेषां व्यंग्यानां विवरणात्, "उअ णिच्चल... पा.भे.७१" (काव्य प्र.२।८।८) इत्यत्र काव्यप्रकाशेऽपि व्यंग्यद्वयविवरणात्[टि.१] च, सर्वेषां न एकं व्यंग्य भासते इति निश्चीयते. एवं सति तृतीयोल्लासे वक्तृबोद्धव्य-वैशिष्ट्यादिभिः[टि.२] अर्थव्यञ्जकतया स्वीकृतेन अर्थधर्मेणैव यथासम्भवं व्यंग्यार्थबोधनिर्वाहे शब्दगत-धर्मान्तर-स्वीकारः सर्वथा न न्याय्यः. एवम् अभिधामूल-व्यञ्जना-स्थलेऽपि अभिधैव व्यापारो न अतिरिक्ताव्यञ्जना, वक्त्रा स्वविवक्षितबोधोत्पादनाय संयोगाद्यैः तस्याः एकत्र नियमनेऽपि, अभिधेयान्तराभिधा-विषयक-संस्कारस्य सदृशादिभिः उद्बोधे तयैव अभिधेयान्तर-स्फूर्ति-सिद्धौ वृत्त्यन्तरकल्पनस्य व्यसनमात्रत्वात्. नच * संयोगादीनां संस्कारोद्बोधप्रति- बन्धकत्वं* शक्यवचनम्, "अस्यानं योनिरुदारवाचाम्" इत्यत्र पदान्तरसाहचर्येऽपि अश्लीलानुसन्धानजन्य-जुगुप्सायाः अनुभूयमानत्वात्. नच * शब्दबुद्धिकर्मणां पा.भे.७२ विरम्यव्यापारानङ्गीकाराद् अभिधा-लक्षणा-तात्पर्याख्यानां तिसृणामपि वृत्तीनां स्वस्वार्थं बोधयित्वा उपक्षये कथं व्यञ्जनां विना निर्वाहः * इति वाच्यम्, अस्य प्रहारस्य नैयायिकभीषकत्वात्, शब्दबुद्धि-स्थायित्व-वादिनाम् अस्माकं मते शब्दस्य अविरतत्वेन वृत्तीनां सत्त्वात् तद्भीतेः अभावात्. अतो यथासम्भवं तात्पर्यवृत्त्यर्थधर्माभिधासु[टि.३] अन्तर्भावात् न अतिरिक्ता व्यञ्जना. तेन सुबोधिन्यादौ "ध्वन्यते-व्यज्यते" इत्यादिप्रयोगाणां "तात्पर्य-विषयीक्रियते" इति अर्थो बोध्यइति न किञ्चिद्

१. "अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वं तेन च जनरहितत्वम्. अतः सङ्केतस्थानम् एतद् इति कयाचित् कञ्चित् प्रति उच्यते. अथवा 'मिथ्या वदसि न त्वम् आगतो अभूः' इति व्यज्यते" (काव्यप्रका.२।८।८)(ज्या). २. "वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यावाच्यान्यसंनिधिः प्रस्तावदेशकालादेः वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषां योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा" (काव्यप्रका.३।३७।२१-२२)(ज्या). ३. तात्पर्यवृत्तौ वा, अर्थधर्मे वा, अभिधायां वा अन्तर्भावसम्भवाद् इति अभिप्रायः(ज्या).

अनुपपन्नम्. तस्माद् एताएव पदवृत्तयः. तत्प्रीतीतीच्छया उच्चारितत्वं तात्पर्यम् इति त्रेधावृत्तिपक्षप्रपञ्चः.

द्वेधा वृत्तिपक्षेतु तात्पर्यं नाम ''बुभुत्सितावाचकत्वेऽपि तत्प्रतीतिजनकत्व-मेव'' नतु तत्प्रतीतीच्छया उच्चारितत्वं, तेन फललक्षणादि-व्यञ्जनान्तानां तात्पर्यएव निवेशात् सुखेन संग्रहः.

शब्दवृत्तीनाम् आकाङ्क्षादिधर्माणां ज्ञाततया उपकारकत्वं न स्वरूपेण :

उक्ताः वृत्तयः आकाङ्क्षादयः च ज्ञाताएव उपयुज्यन्ते.

आलङ्कारिकास्तु * ''तत्प्रतीतीच्छया उच्चारितत्वं''=तात्पर्यम्. तच्च वाक्यवृत्तिः, वाक्यमेव आकाङ्क्षायोग्यतासत्तिसहकृतं सत् 'तात्पर्या'ख्यवृत्तिव्यापा-रेण स्वार्थम् अन्वयं बोधयति * इति **आहुः**. तत्र प्रतीत्यपर्यवसानम् आकाङ्क्षा, बाधाभावो योग्यता, पदानां सन्निधिः आसत्तिः, ''अर्थोह्यनन्वितावस्थः पदेनाभिहितो यतो अन्विताम् आत्मनोऽवस्थां लक्षितामेव लक्षयेद्'' ( ) इत्यादौ भट्टवार्तिके तात्पर्यवृत्तिरेव 'लक्षणा'पदेन उच्यते. मुख्यार्थबाधाभावेन पूर्वोक्तलक्षणायाः वक्तुम् अशक्यत्वाद् * इति **वदन्ति**.

भाट्टास्तु * पदज्ञानानां पदार्थज्ञानानां च अस्थायित्वात् न प्रत्येकम् अन्वयबोधसामग्रीत्वं, क्रमिकत्वात् न मिलितानां तथात्वं, नापि अन्त्यपदार्थज्ञानकाले पूर्वसंस्कारसहकृतेन तत्कारणेन जनितस्य सकलपदार्थ-समूहालम्बनस्य तत्सामग्रीत्वं, तत्तद्विशिष्टोपस्थितिं विना विशिष्ट-वैशिष्ट्य-ज्ञानात्मक-वाक्यार्थबोधानुपपत्तेः. नच * ''गाम् आनय'' इत्यत्र सुपा स्वार्थबोधनकाले गोविशिष्टं कर्मत्वं बोध्यते, ततो धातुना तादृशकर्मविशिष्टम् आनयनं, ततः आख्यातेन तादृशानयन-विशिष्टा भावना बोध्यतइति न पा.भे.७३ विशिष्टवैशिष्ट्य-ज्ञानात्मक-वाक्यार्थ-बोधानुपपत्तिः * इति वाच्यम्. नैयायिक-मते प्रकृत्यर्थविशिष्टबुद्धिं प्रति, 'सुब्' जन्योपस्थितेः कारणत्वेन 'अम्' जन्यकर्म-त्वोपस्थितिकाले गोविशिष्टबुद्धेः तदनन्तरपदान्तरजन्य-कर्मत्वविशिष्टानयनादि-

बोधकाले च तादृशकर्मत्वादि-विशिष्टबुद्धेः च असम्भवेन वाक्यार्थज्ञानात्मक-विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धेः अशक्यवचनत्वात्. तस्माद् आकाङ्क्षादिसचिवाः समुचितानुपूर्वीविशिष्ट-पदोपस्थापिताः पदार्थाएव वाक्यार्थबोधं जनयन्तीति तादृशाः पदार्थाएव सामग्री. नच अस्थायित्वादिकृता अनुपपत्तिः, आकृत्यधिकरणे गवादीनां पदानां नित्याकृतिवाचितया अरुणाधिकरणे शुक्लादीनां नित्यगुणवाचितया, अभ्यासाधिकरणे समिदादीनां यज्यादीनां च यागैकत्व-समिद्यागैकत्व-तदनेकत्व-पक्षेषु नित्यार्थतया व्यवस्थापनात्. नापि अन्या, अभिहितान्वयवादिभिरपि प्रकृतिप्रत्ययस्थले अन्विताभिधानं स्वीकृत्य 'अमा' दिप्रत्ययेन कर्मत्वाभिधानकालएव विशिष्टप्रत्यायनाभ्युपगमात्. नच * तथापि धातुना कर्मत्वादिविशिष्टोपस्थित्यनङ्गीकाराद् अस्त्येव अनुपपत्तिः * इति वाच्यं, वाक्यार्थे निरूढलक्षणायाः अङ्गीकारात्, तस्याः च जातिव्यक्त्यादौ युगपदेव शक्यलक्ष्यार्थ-बोधकत्वदर्शनाद् धातुनापि कर्मत्वादि-विशिष्टोपस्थिति-सम्भवेन वाक्यार्थज्ञानात्मक-विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धौ अनुपपत्त्यभावात्. नच * पदधीव्यवधानात् न उत्तरपदार्थजन्यधीसमये पूर्वपदार्थधी वर्ततइति कथं विशिष्टादिबुद्धिसिद्धिः * इति शङ्क्यं, तत्तत्पदान्त्यक्षणे तादृशधियो अनुभवमहिम्नैव पूर्वपदार्थज्ञान-कारणतायाः संस्कारसाधारणरूपेण स्वीकारात्. नच * एवं सति पदार्थज्ञानानामेव कारणत्वं कुतो न अङ्गीक्रियते * इति वाच्यम्, अनन्तज्ञानव्यक्तीनां हेतुत्वापेक्षया स्वविषयक-ज्ञानसम्बन्धे नैकव्यक्तिकगोत्वस्यैव गोत्वान्वयबोधकत्वे लाघवाद्, इदृशसम्बन्धस्वीकारेणैव "घटं करोति" इत्यादौ घटकारकत्वादेः निर्वाह्यत्वात्. अतएव वाक्यार्थप्रतीतेः न स्वाप्नप्रतीतिवत् निर्मूलत्वम्. तस्माद् उक्तरूपाः पदार्थाएव ज्ञानद्वारा वाक्यार्थरूपम् अन्वयं बोधयन्ति * इति आहुः.

नैयायिकास्तु * आकाङ्क्षादिसहकृतं क्रमिकपदानुभव-जन्यानेकसंस्कारैः युगपद् उत्पन्नं सकलपद-स्मरणमेव युगपत् सर्वपदार्थोपस्थितिद्वारा अन्वयं बोधयति, तादृशानि पदानि वा; तथा, अन्वयस्तु अपदार्थोऽपि संसर्गमर्यादया भासते * इति आहुः.

आकाङ्क्षादयस्तु आकाङ्क्षा-योग्यता-सत्तयः :—

तत्र * पदविशेष-समभिव्याहृत-वाक्यगतम् अन्वयबोधसामर्थ्यम् आकाङ्क्षा. संसर्गविरोधि-रूपराहित्यं योग्यता * इति **भवदेवठक्कुराः**.

* यत् पदं यत्पदेन सह तादृशान्वयबोधजनकं तत्पदस्य तत्पदसमभिव्याहारः तादृशान्वयबोधे आकाङ्क्षा. एकपदार्थे अपरपदार्थस्य प्रकृतसंसर्गवत्त्वं योग्यता अर्थधर्मः पदेषु आरोप्यते. प्रकृतान्वयबोधाननुकूलपदा-व्यवधानम् आसक्तिः. दूरान्वये श्लोकादौतु पदात् न अन्वयबोधः किन्तु योजनावाक्याद् * इति **प्राञ्चः**.

नव्यास्तु : * आकाङ्क्षादिमत्त्वे सति तात्पर्यज्ञाने व्यवहितेऽपि अन्वयबोधात् तद्विलम्बे विलम्बात् च तात्पर्यमेव आसक्तिः. तच्च "एतत्पदम् एतत्पदोत्तरम् अन्वेतु" इति अभिसन्धातुः इच्छाः. एतत्त्रयज्ञानं हेतुः.

मञ्जरीकारस्तु * वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितिः आसत्तिः सातु स्वरूपसती हेतुः * इति **आह**.

अन्विताभिधानवादिमतेतु अन्वयः पदार्थः इति विशेषः.

वैयाकरणास्तु * पदसमुदायरूपम् अखण्डं वाक्यमेव तात्पर्यज्ञानासत्तिस-चिवं पदविशेषसमभिव्याहारात्मकाकाङ्क्षापरनामक-बोधनसामर्थ्यात्मक-स्ववृत्तिं व्यापारीकृत्य स्वार्थम् अन्वयं बोधयति * इति आहुः.

इदमेव युक्तं, "गङ्गायां घोषः" इतिवद् "वह्निना सिञ्चति" इत्याद्ययोग्यवाक्येऽपि लक्षणया बोधसम्भवेन योग्यताज्ञानस्य तात्पर्यज्ञानपर्यवस-न्नत्वाद्, आसत्तेः पदगतस्मारकशक्तिरूपत्वाद्, आकाङ्क्षायाः वाक्यसामर्थ्यानति-रिक्तत्वात् च. एतावतैव निर्वाहात्, पदस्मरणकरण-पदार्थकरण-पक्षयोः वाक्यार्थाशाब्दत्वादिदोषग्रासात्, पदकरणपक्षेऽपि एकेन पदेन अन्वयबोधाभावेन पदसमूहएव पर्यवसानाद् "वाक्याद् अयम् अर्थो बुद्धः" इति अनुभवात् च.

सिद्धान्तेतु : स्वभावतएव सत्त्वप्रसृत्वरैः वायूपनितेः वा ध्वनिभिः

श्रोतृकरणशष्कुलिषु अभिव्यक्तं पूर्वोक्तरीत्या निष्कृष्टं वैयाकरणोक्तरीतिकं वाक्यमेव[टि.१] चिरस्थायिना ज्ञानेन हृदि वर्तमानं पदजन्यपदार्थस्मृतिसचिवं वैयाकरणप्रणाड्या स्वार्थम् अन्वयम् अनुभावयति. तस्य ज्ञानस्य ज्ञानान्तरादिना स्थूलावस्थातिरोभावेन संस्कारावस्थया स्थितौ तद्वाक्यमपि अभिभूतमिव तिष्ठति. उद्बुद्धेतु संस्कारे हृद्येव प्रकटं सत् स्वार्थं स्मारयति. वैदिकन्तु कृपाविषयाणां सर्वतो भगवन्तमेव सलीलं सहजशक्त्या बोधयति इति एषः संग्रहः.

वैदिकशब्दानां प्रवर्तकत्वविचारः :

ननु एवं सति वेदस्य सिद्धार्थवाक्यत्वम् इति आगतं; तथाच, विधिनिषेधाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्ती नोपपद्येयाताम्. क्रियार्थत्वञ्च, जैमिनीयदर्शनसिद्धं, विरुध्येत. उन्मार्गवर्तित्वापत्त्या त्रैलोक्यसङ्करोऽपि स्याद् इति चेत्, न, "एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति. एष उ एव असाधु तं यमधो निनीषति" (कौषी.उप.३।८) इत्यादिश्रुत्या भगवतएव नियामकत्वेन सङ्कराभावात्. जैमिनीयदर्शनस्य मन्दाधिकार्यर्थत्वेन तद्विरोधेऽपि वैयासदर्शनाविरोधेन दोषाभावात्. नच विधिप्रतिषेधानर्थक्यं, तत्तत्साधनफलनिरूपणमात्रेणैव तयोः चरितार्थत्वात्. *ननु प्रवृत्तेः शब्दश्रवणानन्तरभावित्वात् शब्दस्वरूपस्य अभिप्रायज्ञानस्य वा विध्यर्थभूतायाः भावनायाः अभिधायाः नियोगस्य इष्टसाधनत्वस्य कृतिसाध्यत्वस्य वा ज्ञातस्य प्रवर्तकत्वम् उचितम्. एवमेव निषेधस्य निवर्तकत्वं नतु भगवतः, शब्दश्रवणं विनापि तथा सति प्रवृत्त्याद्यापत्तेः* इति चेत्, न,

उक्तेषु सर्वपक्षेषु व्यभिचारस्य दर्शनात्।
न प्रवर्तकता लोके नापि वेदे फलोन्मुखी॥

तथाहि : न तावत् शब्दस्वरूपं प्रवर्तकं, शब्दस्य सर्वाधिकारिसाधारणत्वेन श्रवणोत्तरं सर्वेषामपि प्रवृत्त्यापत्तेः. नापि अभिप्रायज्ञानं, ज्ञातेऽपि अभिप्राये

१. समुदायात्मकं विशिष्टं च इति अर्थः (अ).

धृष्टानां प्रवृत्त्यदर्शनात्. अतएव न भावनादयः. नापि इष्टसाधनताज्ञानं कृतिसाध्यताज्ञानं वा, अनिष्टसाधनत्व-कृत्यसाध्यत्व-प्रमितावपि विषभक्षणयुद्धादिभ्यो निवृत्त्यदर्शनात्. तयोः प्रवर्तकत्वे तद्विपरीतज्ञानेन निवृत्तेः आवश्यकत्वात्, तादृशस्थले भ्रमात् प्रवृत्तेः वक्तुम् अशक्यत्वात्, "तुष्यतु दुर्जन"न्यायेन भ्रमात् प्रवृत्त्यङ्गीकारेऽपि तस्य क्वचिद् उत्पत्तौ क्वचिद् अनुत्पत्तौ कारणविमर्शे शब्दस्य सर्वसाधारणत्वेन तत्कारणतायाः अशक्यवचनत्वेन अदृष्टादेरेव अङ्गीकार्यत्वेन व्यापकात्मवादिनां च अदृष्टनियमस्यापि दुर्वचत्वेन ईश्वरेच्छायामेव पर्यवसानात् च. नच भगवति वैषम्यादिदोषप्रसङ्गः, आत्मसृष्ट्युपगमेनैव निरस्तत्वाद्. "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वाद्" (ब्र.सू.२।१।३४) इतितु लोकबुद्ध्यनुसारीति भगवानेव प्रवर्तकः तादृशभ्रमाद्युत्पादकोऽपि सएव "एष उ एव" (कौषी.उप.३।८) इत्यादिश्रुतेः.

ननु एवं सति अर्थवादानां वैयर्थ्यापत्तिः प्ररोचनां विनापि ईश्वरेच्छयैव प्रवृत्तिसिद्धेः, एवं निन्दार्थवादेऽपि[पा.भे.७४]. अतो विधिनिषेधाभ्यामेव अर्थवादसचिवाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्ती अङ्गीकार्ये. उक्तश्रुतिस्तु ईश्वरेच्छायाः सहकारित्वमात्रं वेदयन्ती न विरोत्स्यते इति चेद्, उच्यते, न ताभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्ती सम्भवतः साधारणत्वात्. सर्वेषामेव ततो विहिते प्रवृत्तौ निषिद्धात् च निवृत्तौ नरकः कस्यापि न स्यात्. तथा सति तद्बोधक-शास्त्र-वैयर्थ्यापत्तिः. नच *सो अर्थवादएव* इति वाच्यं, तथापि रोगाद्यनुत्पत्तिप्रसङ्गः, पातकिदर्शनविरोधो राजदण्डादिविषयाभावप्रसङ्गः तत्प्रणयनविधायक-शास्त्रवैयर्थ्यापत्तिश्च सर्वथा दुष्परिहरैवेति न ततः प्रवृत्तिनिवृत्ती. अर्थवादास्तु विधेयनिषेध्यस्वरूपं निरूपयन्ति ज्ञापनार्थं, ज्ञानस्य कर्माङ्गत्वात्, "यदैव विद्यया करोति तत्तदेव अस्य वीर्यवत्तरं भवति" (छान्दो.उप.१।१।१०) इति श्रुतेः "ज्ञात्वा-ज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयम् अनुतिष्ठति विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात् तथा नाविदुषो भवेद्" (भाग.पुरा.१०।२४।६) इति स्मृतेः च. तत्रापि "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" (तैत्ति.संहि,२।१।१।१) इत्याद्युक्तं देवतायाः क्षिप्रकारित्वादिकं "वषट्कारो वै गायत्रियै" (तैत्ति.संहि.२।१।७।१) इत्याद्युक्तं खदिरादिस्वरूपम्, एवम् अन्यत्रापि तत्तत्प्रकरणोक्तं तत्तत्पदार्थस्वरूपं ज्ञात्वैव तत्तत् कर्म कर्तव्यम् इति विशेषतः

प्रकरणाद् अवसीयते. तथा निन्दादिस्थले यथासम्भवं निषेध्यस्वरूपं ज्ञात्वा न कर्तव्यम् इत्यादि ज्ञेयम्. तदैव सम्यक्फलसिद्धेः अतः सर्वसाधनफलस्वरूप-निरूपणमात्रेणैव चेत् प्रवर्तकत्वं निवर्तकत्वं च अङ्गीक्रियते तदातु 'ओम्!' इति ब्रूमः. विशिष्य फलमुखन्तु तत् न वक्तुम् उचितं दृष्टादृष्टदोषाणाम् उक्तत्वात्. तस्मात् प्रवर्तकत्वं निवर्तकत्वं च भगवतएव इति निश्चेयम्. नच * "फलश्रुतिरियं नृणां नः श्रेयो रोचनं परं श्रेयोविवक्षया प्रोक्ता यथा भैषज्यरोचनम्" (भाग.पुरा.११।२१।२३) इत्यादिषु फलश्रुतेः [पा.भे.७५] प्ररोचकत्वोक्त्या तदेकवाक्यतापन्नस्य विध्यर्थस्य प्रवर्तकत्वमपि अर्थायातमिति [पा.भे.७६] न पूर्वोक्तं साधीय * इति शङ्क्यं, प्रवर्तन-व्यापार-मात्र-सत्तायाएव तावतापि सिद्ध्या फलमुखस्य तस्य प्रतिपादयितुम् अशक्यत्वात्.

वस्तुतस्तु "परोक्षवादो वेदोऽयं बालानाम् अनुशासनं कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा" (भाग.पुरा.११।३।४४) इत्यादिवाक्यान्तराद् वैद्यके भेषजनिष्ठानां सतामेव गुणानां रोगिणो रोगनिवृत्त्या तदौषधत्यागार्थं यथा कीर्तनं तद्वद् अत्र कर्मत्यागार्थं कर्मणि सतामेव गुणानां फलकीर्तनम् इति अवसीयते. अतः एवम् अभिप्रायावेदकशास्त्रसत्त्वेऽपि यद् वेदतात्पर्याज्ञानं तत्र तादृगीश्वरेच्छैव हेतुरिति तद्विपरीतेच्छैव तात्पर्यज्ञानेऽपि हेतुः. तस्माद् विधिनिषेधयोः न फलमुखत्वं किन्तु द्वारत्वम् इत्येव निश्चयः.

किञ्च वेदस्य तात्पर्यं भगवत्येव, उक्तरीत्या शब्दशक्त्यापि तमेव वदति. एवं सति 'सर्वरसा'-'ऽऽप्तकामा'-(बृह.उप.४।३।२१ - छान्दो.उप.३।-१४।४)ऽऽदिश्रुत्या सर्वत्र सर्वपूर्णोऽपि स्वभावतएव यत्र येन भोगेन [टि.१] यां लीलां कृतवान् तत्र तं तादृशं बोधयति. तत्र पूर्वकाण्डे षोडशर्त्विग्यजमानाद्यात्मना यज्ञनाम्ना च या लीला कृता सा सपरिकरा बोध्यते. तच्च एकस्मिन् कर्मणि विरुद्ध-नाना-फल-बोधनाद् अवसीयते.

यथा, "सुवर्गाय वा एतानि लोकाय हूयन्ते" (तैत्ति.संहि.६।६।१।१) इति उपक्रम्य दक्षिणहोमे दक्षिणासंस्कारत्वेन क्रियमाणम् आहुतिचतुष्टयम्.

१. यदाहुत्याद्युपयोगेन इति अर्थः (अ).

तत्र आहुतिद्वयस्य "द्वाभ्यां गार्हपत्ये जुहोति द्विपाद् यजमानः प्रतिष्ठित्यै"(तैत्ति.संहि.६।६।-१।१) इति संख्याफलम् उक्तम्, "सौरीभ्यामृग्भ्यां गार्हपत्ये जुहोति अमुमेवैनं लोकं समारोहयति" (तैत्ति.संहि.६।६।१।१) इति ऋग्धर्मफलम्, आग्नीध्रे आहुतेः अन्तरिक्षाक्रमणम्, आहवनीये आहुतेः स्वर्गः. तच्च परस्परं विरुध्यतइति न तस्य जीवपरत्वम्, एकदा तदसम्भवाद् अनिष्टजनकत्वात् चेति तस्य भगवत्परत्वमेव इति "शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था" (सुबो.२।२।२) इत्यत्र निर्णीतम्.

तेन [पा.भे.७७] अर्थवादोऽपि अनुवाद-भूतार्थवाद-भेदेन द्विविधएव, नतु गुणवादोऽपि, विरोधस्य भङ्गतात्पर्यकत्वेनैव परिहारे तदभावेन गुणवाद-विभाजकस्य अभावाद्. इत्यतोऽपि न प्रवर्तकत्वं किन्तु उक्तरीत्या [टि.१] प्रमाणत्वमेव इति निश्चयः. तेन अननुष्ठानस्य न अप्रामाण्यापादकत्वं, विकल्पस्यापि न दुष्टत्वं, व्यवस्थायास्तु मन्दार्थत्वं, निन्दायास्तु विधेयस्तुत्यर्थत्वम् इति अवधेयम्.

स्मृत्याद्यात्मकशब्दस्वरूपविचारे प्रमाणत्वेनाभिमतस्मृतिस्वरूपम् :

अथ स्मृत्यादिकं विचार्यते : तत्र स्मृतिः ऋषीणां पूर्वचरितस्मरणं तत्प्रयुक्तत्वात् तद्बोधकवाक्येऽपि 'स्मृति' पदप्रयोगः. स्मरणस्य च अनुभवो मूलं, सतु पूर्वर्ष्याचारात्, तथैव लोकव्यवहारात् तादृशनीतिशास्त्राद् नित्यानुमेयवेदात् च इति बहुधा जायतइति न सर्वासां वेदवत् प्रामाण्यं किन्तु नित्यानुमेयमूलानामेव. तदिदं स्मृतिपादे स्मृत्यधिकरणएव उपपादितम्. नच *तासाम् उत्सन्न-विप्रकीर्ण-शाखा-मूलत्वं* शङ्क्यं, सर्ववेदद्रष्टृणां व्यासादीनां "स्मृतेश्च" (ब्र.सू.१।२।६) "अपिवा कर्तृसामान्यात् प्रमाणम् अनुमानं स्याद्" (जैमि.सू.१।३।२) इत्यादि सूत्रप्रणयनविरोधापत्तेः. विद्यमाने प्रत्यक्षवेदे द्व्यन्तरितोदाहरणस्य असङ्गतत्वात्, "प्रमाणम् उत्सन्नं स्याद्" इत्यादिपाठौचि-त्यात् च इति निबन्धे (त.दी.नि.२।३४) व्युत्पादितत्वात्. तदपि प्रामाण्यं "विरोधे त्वनपेक्षं स्याद्" (जैमि.सू.१।३।३) इति न्यायेन प्रत्यक्षवेदाविरोधेनैव.

१. अबाधित-लोकानधिगतार्थ-गन्तृत्वेन इति अर्थः [अ].

इतरासान्तु तदुभयाविरोधेनैव. वर्णव्यवस्थितधर्मविषये पुराणानामपि एवम्. व्यासस्मृतौ वर्णव्यवस्थितधर्मप्रश्ने तदुत्तरवाक्येषु "श्रुति स्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते तत्र श्रौतं बलिष्ठं स्यात् तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा" (व्याससंहि.स्मृ.१।४) इति व्यासवाक्यात्. इतरत्रतु पुराणमेव प्रबलं, वेदोपबृंहणत्वाद्, "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं चालयिष्यति" (महाभा.आ.प.१।६६ - ब्रह्मा.पुरा.१।१।१७१) इति वाक्यात्. "पुराणं हृदयं स्मृतम्" ( ) इति वाक्यात् च. तथैव वाल्मीकिरामायण-भारतयोः यथायथं समाधिभाषात्वाद् वेदव्याख्यानरूपत्वात् च. सांख्य-योग-कणादाक्षपाद-वासिष्ठरामायणादीनान्तु संवाद्यंशएव प्रामाण्यम् इत्येवं ज्ञेयम्. "अक्षपादप्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः त्याज्यः श्रुति विरुद्धोंऽशः श्रुत्यैकशरणैः नृभिः" (पराश.पुरा.) इति पराशरोपपुराणवाक्यात्. एवं तन्त्राणामपि श्रुत्यविरोधेनैव प्रामाण्यम् अनुसन्धेयम्. इदं यथा तथा प्रहस्ते व्युत्पादितम् अस्माभिः.

प्रत्यक्षानुमानमूलकवाक्यप्रामाण्यमीमांसा :

प्रत्यक्षानुमानयोस्तु इतोऽपि नैर्बल्यं, पूर्वोक्तापेक्षया अस्मदादीनां अविद्यापारवश्याधिक्येन अल्पज्ञत्वात्. अतः शब्दब्रह्मात्मकत्वस्य तुल्यत्वेऽपि भ्रमप्रमादविप्रलिप्सादि-पुंदोषदुष्टत्वेन लौकिकानां ततोऽपि हीनं प्रामाणम्.

तत्रापि सिद्धार्थवाक्यस्य सन्निकृष्टे विषये प्रत्यक्षसहकारित्वात् प्रत्यक्षहेतुत्वमेव. विप्रकृष्टविषयेतु तदानीन्तनार्थ-सत्तायाः सन्दिग्धत्वेन सम्भावनात्मकस्यैव ज्ञानस्य ततो जननमिति तादृशमेव प्रामाण्यम्.

तथा बालादिवाक्येऽपि.

प्रतारकवाक्येतु श्रोतृविश्वासजाड्यादेव प्रामाण्यबुद्धिः नतु शब्दबलाद्, द्रष्टुः अनाप्तत्वेन तत्र शब्दत्वाभावात्, भ्रान्तप्रतारकवाक्येऽपि तथा. प्रवृत्तिसामर्थ्येतु वक्तरि प्रतारकत्वबुद्ध्यभावात् श्रोतुः प्रमेयबलेन प्रामाण्यबुद्धिरिति विश्वासजाड्यकृतत्वं न हीयते. तस्य प्रतारकत्वज्ञानेऽपि प्रवृत्तिस्तु न शब्दस्यैव

बलात् किन्तु अननुगतादेव कारणादिति न तया प्रामाण्यम् आपादयितुं शक्यते. भ्रान्तवाक्यस्यतु शब्दत्वेऽपि वक्तुः दुष्टत्वात् तज्जन्यज्ञानस्य अप्रामाण्यम्.

अतः सिद्धार्थस्य लौकिकस्य गौणमेव प्रामाण्यम् इति निश्चयः. साध्यार्थेतु लौकिके वाक्यार्थो बुद्धिकल्पितः संसर्गिण्याः क्रियायाः तदानीम् अभावेन तत्संसर्गस्यापि अभावात्. अतो वक्तुः अदृष्टार्थवादित्वेन तद्वाक्यस्य अप्रामाण्येऽपि प्रवृत्तिसामर्थ्यात् प्रमेयबलेनैव प्रामाण्यम्.

विविदिषादशायां श्रुतिस्मृतिसूत्रभागवतादीनां मुख्यप्रामाण्यव्यवस्था :

तस्मात् सकलप्रमाणमूर्धन्यता वेदएव. तदर्थनिश्चयश्च तपआदिभिः सन्देहवारक-स्मृति-पुराण-मीमांसादिभिः च. अतो गौणमुख्यभावस्य सत्त्वाद् वेदे सन्देहे भगवद्गीतावाक्यैः निर्णयः, तत्र सन्देहे व्याससूत्रैः, तदविरुद्धैः जैमिनीयैः च. तत्रापि सन्देहे श्रीभागवतेन, समाधौ अनुभूय भगवदवतारेण व्यासेन उक्तत्वात्.

एतेषाम् इतरेतरविरोधे, यः कश्चिद् अर्थः स्वबुद्ध्यादिना भासते सो अर्थाभासइति, तद्वाक्येऽपि आभासत्वम् आपादयतीति चतुर्णाम् एकवाक्यतायामेव विविदिषादशायां प्रामाण्यम् इति निश्चयः.

विद्वद्दशायां शब्दप्रामाण्यव्यवस्था :

विद्वद्दशायान्तु सर्वं वाङ्मयं वेदतुल्यमेव तच्च प्रागेव उपपादितम्. तथा "पुरूष एवेदं सर्वं" (नृ.पू.ता.उप.५।५) "स आत्मानं स्वयम् अकुरुत" (तैत्ति.उप.२।७) इत्यादिश्रुतिभ्यः. "आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वर" (भाग.पुरा.११।२८।६) इत्याद्युपबृंहणेभ्यः च अर्थमात्रस्य भगवद्रूपत्वम्. एवं सति क्रीडार्थमेव [पा.भे.७८] अवयववैलक्षण्यादिना ततस्ततो रूपभेदस्येव तादृशतत्तद्रूपप्रत्यायनार्थम् अस्मदादिमुखेन नानावाक्यभेद

स्यापि भगवतैव करणात् सर्वस्यैव प्रामाण्यम्.

नच *निराकाङ्क्षाऽयोग्यवाक्यानामपि दर्शनाद् दुष्टानां कथं वेदतुल्यत्वम्* इति शङ्कनीयम्, आकाङ्क्षादीनाम् अर्थप्रत्यायनार्थं कल्पितत्वेन तदभावेऽपि वाक्यस्य अदुष्टत्वात्. एतेनैव "आकाङ्क्षाद्यभावे अवाक्यत्वम्" इत्यपि निरस्तम्. वस्तुतः सर्वस्य भगवद्रूपत्त्वाद् अप्रतारकोक्तानां "दश दाडिमानि" इत्यादीनाम् अनाकाङ्क्षाणां पदार्थनिरूपकत्वेन, "वह्निः अनुष्णः" इत्यादीनामपि तत्तद्रूपभगवन्निरूपकत्वेन, "वह्निना सिञ्चति" इत्यादीनाम् अयोग्यानां च कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं भगवतो अलौकिकसामर्थ्याद् वह्निरूपस्यापि सेककरणतायाः सम्भवेन प्रामाण्यस्य अबाधात्. व्यवहारेऽपि शैत्यपावनत्वादि-प्रतीत्यर्थं "गंगायां घोषः" इत्यादिवत् सेचकमौर्ख्यप्रतीत्यर्थं 'वह्नि'पदस्य तद्वद्वारिलक्षकत्वेन च तदबाधात्.

अतो विद्वद्दशारम्भे अप्रतारकोक्त-वाक्यानां प्रामाण्यं, पूर्णदशायां क्वापि न अप्रामाण्यम्-इति शब्दः सर्वोऽपि वक्तृदोषन्यक्कारेण प्रमाणमेव इति सिद्धम्. तेन "अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि" (श्लोकवार्ति.१।१।२।६) इति अभियुक्तोक्तिः, प्रतारकादिवाक्येऽपि शब्दः पदार्थमात्रम् अपेक्ष्य ज्ञानं जनयतीति एतावन्मात्रपरा बोध्या.

<u>शब्दप्रामाण्यनिरूपणनिष्कर्षः</u> :

अतः शाब्दं ज्ञानञ्च शब्दत्वेन शब्दजन्यं परोक्षनिश्चयरूपमेव, धर्मसादृश्यज-संस्कार-विलक्षण-संस्कार-जनकत्वात् च न अनुमित्यादौ अन्तर्भावः.

केचित्तु *वाक्यार्थप्रतीतिः न अनुभवः, स्वर्गनरकादिकं शृण्वतोऽपि "तद् अनुभवामि" इति प्रतीत्यभावात्; किन्तु, स्मृतित्वादिव्याप्यम्, अन्यद्वा शाब्दत्वादिकं जातिः अनुभवबलाद्* इति आहुः.

तत् न रोचते, अनुमित्यादावपि 'अनुमिनोमि' इत्याद्यनुभवात् तस्यापि अनुभवभिन्नत्वापत्तेः. नच इष्टापत्तिः, स्मृतित्व-व्याप्यता-गमकस्यापि अभावात्. प्रकारान्तरीयत्वेऽपि अस्मदाद्यनुभवापेक्षया पुराणवाक्यस्यैव प्रबलत्वेन संशयादिषु अनिवेशे निश्चयत्वव्याप्यतायाएव युक्तत्वात्.

यत्तु "दशमः त्वम् असि" इति वाक्याद् "दशमो अहम्" इत्याकारकं प्रत्यक्षं केचिद् अङ्गीचक्रुः, तदपि न, शब्दे 'युष्मत्'पदप्रयोगेण तज्जन्ये ज्ञाने 'अहम्' इत्याकारस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्, पदजन्यपदोपस्थितेः शाब्दबोधे तन्त्रत्वात् 'युष्मत्'पदेन स्वार्थविरुद्धप्रत्यक्त्वस्य उपस्थापयितुम् अशक्यत्वाद्, अन्यथा अतिप्रसङ्गापत्तेः. नच *तत्र विपरीतलक्षणयैव उपस्थितिः* इति युक्तं, तथासति परोक्षज्ञानस्यैव आपत्त्या प्रतिज्ञाव्याघातात्.

किञ्च अत्र 'अहं' पदेन प्रत्यक्षं सङ्घातस्य, तद्विशिष्टस्य, विविक्तस्य वा आत्मनो अभिमतम्? न आद्यौ, अपेक्षाबुद्ध्या सङ्घातएव दशमत्वजननात् संख्याज्ञानस्य पूर्वं विद्यमानत्वात् च अनन्धस्य शब्दसाहचर्येण चक्षुषा मनसा वा द्राक् तत्रैव दशमत्वस्य स्फूर्तेः तादृशप्रत्यक्षे शब्दकरणतायाः अशक्यवचनत्वात्. न अन्त्यः, प्रतीचिविषये[१] बहिरिन्द्रियाणामपि असामर्थ्येन तदुपजीवकस्य लौकिकस्य शब्दस्य सुतराम् असामर्थ्यात्. तत्र प्रमेयबलादेव ज्ञानाङ्गीकारे न्यायसाम्याद् अन्यत्र करणम् अन्तरेण तदापत्तेः, तथासति मर्यादाभङ्गापत्तेः, शब्दस्यापि अकारणत्वापत्तेः च, करणाभ्युपाययोः विद्यमानत्वेन साध्यार्थवाक्यादपि 'घटानयनादि' रूपस्य अर्थस्य प्रत्यक्षतापत्तेः च. किञ्च चीत्कारादिना गजो अनुमीयते, यदि तेन प्रत्यक्षं स्यात्, तदा आकृतिपरिमाणादेरपि साक्षात्कारः स्यात्.

परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोः प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वयोः अत्र साङ्कर्यात् तयोः जातित्वहानिप्रसङ्गः च. तस्मात् शब्देन परोक्षमेव भवति इति निश्चयः.

१. प्रत्यगात्मरूपविषये इति अर्थः (श्या).

एवं शब्दविचारे ये विशेषास्तेऽत्र बोधिताः।
शेषं व्याकरणाद् ज्ञेयं यतस्तन्मतम् आदृतम्॥
इति शब्दः समाप्तः.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदे प्रमाकरणस्वरूपनिरूपके द्वितीये कल्लोले शाब्दप्रमाकरणनिरूपको द्वितीयः तरङ्गः

समाप्तः

पाठभेदावली

१. एतेषु श्लोकेषु श्लोकानां शब्दानां तत्क्रमस्य च ग्रन्थकृतैव स्वयं **आ** मातृकायां परिवर्तनं कृतं तेन **क च** मातृकयोः भूयान् पाठभेदः क्रमभेदः च सञ्जातः. इहतु **आ** मातृकां तदनुसारिणीः **ख ग घ ङ** मातृकाः अनुसृत्य शब्दक्रमयोजनाः कृता इति विज्ञेयम्. २. तस्य 'च' इति **क** पाठे नास्ति. ३. **अ क ख** पाठेषु 'जननेनैव' इत्यस्य ग्रन्थकृता स्वहस्ताक्षरेणैव **अ** पाठे 'सम्पादने' इति शोधः. ४. **अ** पाठे 'लिङ्गकत्व' इति शोधनं प्रतीयते तथापि **अ क ख** गपाठेषु लिङ्गकस्य इति उपलब्धेः अर्थस्वारस्यसंरक्षणायापि तस्यैव ग्रहणम्. ५. चैत्रम् इति **ख** पाठस्तु अशुद्धः. ६. इत्यादि आहुः इति **आ** पाठः. ७. सम्बन्धी इति **क ख** सम्बन्धा इति **अ ग घ ङ** पाठः. ८. "सैव...दर्शनाद्" इत्यन्तो भागः **अ ग घ ङ च** मातृकासु. ९. विकल्पाकरमात्रमिदं इति **अ क** पाठः, विकल्पाकार... इतिख पाठः. १०. **क** पाठे टिप्पणी-१तः आरभ्य टिप्पणी-३पर्यन्तः क्रमव्यत्ययो **अ आ** पाठानुरोधेन पुनर्योजितः. ११. किंचिद्वैलक्षण्यभेदप्रत्ययात् इति **क** पाठः. १२. तत्त्वम् इति **ख** पाठस्तु अशुद्धः. १३. विचित्रबुद्धि इति **क** पाठः. १४. 'वस्तुतस्तु' इत्यारभ्य 'विषयत्वमात्रम् अर्थः'इत्यन्ता **आ** शोधनिका **ख ग घ ङ** पाठेष्वपि तथा. १५. अव्यभिचारात्मके इति **आ** शोधनिका **क ङ च** पाठेषु नोपलभ्यते. १६. **अ आ ख** पाठेषु सम्बन्धानित्यत्वे इति **क** पाठः शुद्धो भातीति गृहीतः. १७. यस्य इति **आ** पाठः **क ङ** पाठयोः परप्रसिद्धं इति. १८. तत्रसम्बन्धेन इति **आ** पाठानुरोधेन, 'तत्तत्सम्बन्धेन' इति **अ क** पाठयोः. १९. आवृत्तिपक्षे इति **अ आ आदि** सर्वेष्वपि पाठेषु, आकृतिपक्षे इति **ख** पाठे. २०. उपलब्धस्य प्रागेव इति **क** पाठः. २१. ब्रह्ममुखतो इति **आ ग** पाठानुसारेण. २२. "यत्तु नैयायिका द्रुतविलम्बितमध्यमोदात्तस्वरितानुनासिकानुनासिकभेदेन व्यक्तिभेदस्य कत्वादिना साजात्यस्यच उपलम्भात् तद् आदायैव प्रत्यभिज्ञा इति आहुः तद् असङ्गतम्" इति **अ** मातृकायां लिखिता पंक्तिः **आ** मातृकायां निरस्ता. २३. "नच... असिद्धेः" इत्यन्ता पंक्तिः

क पाठे पादटिप्पण्यां योजिता अ आ मातृकयोस्तु मूले शोधनिकैव. २४. स शक्तिग्रहं लभते अ आ क ख च पाठेषु. शक्तिग्रहणम् इति घ ङ पाठयोः. शक्तिं ग्राहयति इति ग पाठः. २५. शक्तिग्रहलाभे इति अ आ आदिसर्वेषु पाठेषु. शक्तिग्राहकत्वेन इति ग पाठे. २६. संस्काराधानपक्षः इतिआ ख पाठानुरोधेन अ क पाठयोः संस्कारपक्षः इति. २७. संस्काराद् वा सर्वशब्दश्रवणं इति क पाठः. २८. नानादेशो इति ख पाठस्तु अशुद्धः. २९. श्रोत्रभेदेन इति क पाठस्तु अशुद्धो भाति. ३०. वाद्यमाने इति क पाठः अशुद्धः. ३१. सर्वेषु पाठेषु 'श्येन' इति उपलभ्यमानेपि अर्थानुरोधेन 'नाश्येन' इति पाठः गृहीतः. ३२. च वक्तव्यत्वाद् इति ग व्यतिरिक्ते नैकस्मिन्नपि पाठे उपलभ्यते. ३३. ननु पूर्वमीमांसकमतेन इति क पाठः. ३४. स्फोटाख्यः शब्दार्थ इति क पाठः. ३५. यद्यपि 'तदैव' इति अ आ ख पाठेषु तथापि क ग पाठानुरोधात् स्वारसिकार्थानुरोधात् च 'तथैव' इति पाठः गृह्यते. ३६. श्रोत्रग्राह्यवस्तुनि इति क पाठः. ३७. स्थानिनो वाचकत्वेन इति क पाठः. ३८. वर्णानामेव वाचकत्वं इति ख पाठः. ३९. रूपार्थबोधादर्शनात् इति क पाठः, यद्यपि अ ग पाठयोः रूपार्थाबोधादर्शनात् इति उपलभ्यते तथापि आ ख पाठानुरोधेन स्वारसिकार्थानुरोधेनापि रूपार्थावबोधादर्शनात् इति पाठः गृहीतः. ४०. अन्वयानुपस्थितैः इति अ पाठः अन्वयानुपस्थिते इति इतरसर्वे पाठानुसारेण.

४१. शक्तिवादोप्यंगीक्रियते इति क पाठः. ४२. घटपदानयपदयोः इति क पाठः. ४३. बोधकारणतायाः समुदाये पर्यवसानेनैव इति अर्थः इति च पाठे अधिकम् उपलभ्यते. ४४. अनुभवे आकांक्षा इति क पाठः. ' ४५. पदनिष्ठबोधकत्वस्य शक्तित्वे इति क पाठे अधिकं दृश्यते. ४६. जनकस्य इति ख पाठः. ४७. "नच व्याकरणादौ... मुख्यत्वात्" इत्यन्ता पंक्तिः अ आ ख च पाठेषु न उपलभ्यते गृहीतपाठस्तु क ग घ ङपाठानुसारेण. ४८. ईदृशां इति अ खपाठयोः ग पाठे विकारवताम् इति शोधनात् तस्यैव ग्रहणम्. ४९. 'दाडिमानीत्यादौ' इत्येतावानेव अ पाठः 'इत्यपि युज्यते' क ग पाठानुरोधेन. ५०. तेषाम् इति अ पाठे नास्ति गृहीतस्तु क ग पाठानुसारेण. ५१. 'ज्ञानत एव स्थित्यादेरिष्टत्वाच्च' इति क ग पाठयोः, ज्ञानतश्चिरकालस्थितेः इष्टत्वाद् इति अ आ ख पाठेषु. ५२. अस्मदादिमुखे इति क ख पाठयोः. ५३. सर्वस्य भगवद्रूपत्वात् नित्यत्वमेवेति न काचिद् अनुपपत्तिः इति च पाठे अधिकम् उपलभ्यते. ५४. न च वर्णेषु तथात्वस्य दुर्लभत्वं "वेदाक्षराणि यावन्ति..." इति क पाठः. गृहीतपाठस्तु अन्यसर्वपाठानुसारेण. ५५. "नच... अङ्गीकाराद्" इत्यन्ता पंक्तिः आ पाठीयशोधनम्. ५६. सर्वार्थाः इति ख पाठः. ५७. देवगावो वहन्ति इति अ पाठः गृहीतपाठस्तु शाबरभाष्यानुरोधेन. ५८. कुतुककौतुक इति अ घ ङ च पाठेषु नास्ति गृहीतस्तु आ पाठशोधनिकानुरोधात्. ५९. यः

कालसाधकत्वदेववामत्वरूपो इति **क** पाठस्तु अशुद्धः. ६०. स्वर्गमेरुसुवर्णप्रभृतिषु इति **क** पाठः. ६१. ''तत्त्वन्तु... शाब्दबोधस्य अनुभवसाक्षिकत्वाद्'' इत्यन्तः भागः **अ** पाठे नास्ति, **आ** पाठीया शोधनिका. **क** पाठेतु पादटिप्पणीरूपेण उपलभ्यते. ६२. अननुबोधके इति **आ** पाठे, ''नतु बोधके'' इति **ग** पाठे. ६३. यथा कपित्थमण्डपादिपदे इति **अ** पाठे नोपलभ्यते. ६४. पदे इति **ग** पाठीयं शोधनम्. ६५. गङ्गापदे इति **आ ख** पाठयोः 'गङ्गा' इति **क** पाठे. ६६. **अ** मातृकायां मूलस्थोपि अयं 'द्विरेफ...ज्ञायमाने' वाक्यांशः **क** पाठे टिप्पणीत्वेन अधस्तात् स्थापितो दृश्यते. ६७. अतएव न यौगिकरूढिरपि इति **क** पाठे नास्ति. ६८. फललक्षण...उच्यन्ते इति **आ ग** पाठयोः मूले **क** पाठे टिप्पण्यां वर्तते. ६९. ''गच्छ गच्छसि... आदरणीयम्''' इत्यन्तो भागः **क ग** पाठयोः विद्यमानः **आ** शोधनिकेति **अ घ ङ च** मातृकासु नोपलभ्यते. ७०. ''व्यंजनानिर्वाह इति तात्पर्यमेव आदरणीयम्'' इति **क ग** पाठयोः **आ ख** पाठयोस्तु ''व्यञ्जनां विना निर्वाहइति तात्पर्यम् अनादरणीयम्'' इति. ७१. 'उवणिच्यले' इति **क ख** पाठयोः, 'उबणिच्यले' इति **अ ग** पाठयोः, गृहीतपाठस्तु गाथासप्तशतीमूलानुरोधेन. ७२. - ''न च शब्दबुद्धिकर्मणां... तद्भीतेरभावाद्'' इत्यन्तो भागो **अ** पाठे नास्ति **आ** शोधनिका. ७३. बोध्यते इति विशिष्ट... इति **अ आ ख** पाठेषु, गृहीतपाठस्तु **क ग च** पाठानुसारेण. ७४. एवं निंदार्थवादेपि इति **क पाठे नास्ति. ७५. इत्यादिषु श्रुतेः इति अ आ ख** पाठयोः, गृहीतपाठस्तु **क ग च** पाठानुसारेण. ७६. प्रवर्तकत्वमपि अर्थाद् आयातम् इति **क** पाठः. ७७. ''तेन अर्थवादोपि... अभावाद्'' इत्यन्तो भागो **अ क** पाठयोः नास्ति गृहीतपाठस्तु **आ** पाठीयशोधनानुरोधेन. ७८. क्रीडार्थम् 'एव' इति **आ** पाठीयशोधनम्.

✻ प्रत्यक्षप्रमाकरणनिरूपकः तृतीयः तरङ्गः ✻

प्रत्यक्षस्य लक्षणं तत्र प्रत्यक्षे चक्षुरादिभेदेन षट् करणानि इति निरूपणम् :

अथ प्रत्यक्षं निरूप्यते :—

"इन्द्रियात्मकं प्रमाणं"=प्रत्यक्षम्.

दोषदुष्टेन्द्रियवारणाय 'प्रमाणम्' इति, शब्दादिवारणाय 'इन्द्रिय'- इति. तानि चक्षुः-त्वग्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनोभेदेन षट्.

मनः इन्द्रियं नेति मतस्य निरासः :

यत्तु ✻मनो न इन्द्रियम्, "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः" (कठोप.१।३।१०) "मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (नारा.उप.१ – मुण्ड.उप.२।१।३) इत्यादिश्रुतौ भेदनिर्देशात्. "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि" (भग.गीता.१५।७) इति भगवद्वाक्यन्तु "यजमानपञ्चमाः... इडां भक्षयन्ति" (श.प.ब्राह्म.२।४।४।२५) "वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्" (ब्रह्मा.पुरा.२।३।३५।१४) इत्यादौ यथा अनृत्विजो यजमानस्य अवेदस्य महाभारतस्य च पञ्चत्वसंख्यापूरकत्वं तद्वत् मनसः षट्त्वसंख्यापूरकत्वेनापि उपपद्यते ✻ इति **केचिद् आहुः**.

तत् न, "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि" (भग.गीता.१०।२२) इत्यस्य विरोधात्. नच ✻इदं विभूतित्वमात्रगमकं "नक्षत्राणाम् अहं शशी" (भग.गीता.१०।२१) "ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम्" (भग.गीता.१०।३८) इत्यादिवत् नतु तज्जातीयत्वस्यापि ✻ इति वाच्यं, बाधकाभावात्. उक्तश्रुतेः उत्कर्षमात्रपरत्वेनापि उपपत्तेः. शशिनि नक्षत्रव्यवहारस्य — ज्ञाने च तद्वत्ताव्यवहारस्य — अदर्शनात्, तत्र तन्मात्रपरत्वेऽपि, अन्यत्र तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्. नच विनिगमनाविरहः, प्रायपाठेनैव निर्णयात् "इन्द्रियाणि दशैकं च"

(भग.गीता.१३।५) इति वाक्यात् च. नच *इदं दत्तोत्तरम्!* इति वाच्यम्, अत्र तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्, तथासति इन्द्रियेभ्यः पूर्वं "महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः" (भग.गीता.१३।१५) इति पूर्वार्धे बुद्ध्या सहैव क्रमः स्यात्, "हस्तादि..."(ब्र.सू.२।४।६) सूत्रे प्राणगणनायां भगवता व्यासेनापि अङ्गीकारात् च.

यद्वा इन्द्रियत्वम् अनिन्द्रियत्वं च इति उभयमपि अस्तु क्रियाज्ञान-मयत्ववत्, यमे देवत्वपितृत्वयोरिव उभयोः निवेशेऽपि बाधकाभावात्, इन्द्रियत्वस्य अजातित्वात्. नच भावाभावविरोधो, धर्मान्तरत्वस्यापि उपगन्तुं शक्यत्वात्. नच *अनिन्द्रियत्वे क्रमविरोधः* शङ्क्यः, उत्कर्षमात्रार्थमेव अनिन्द्रियत्वादरणाद् इति दिक्.

चक्षुरादीन्द्रियग्राह्यविषयाणां स्वरूपम् :

एतेषाम् इन्द्रियाणां स्वरूपन्तु — अणुतमम् अतीन्द्रियम् अनित्यं चिरस्थायि विकारि च, इति — अग्रे प्रमेयप्रकरणे वक्तव्यमिति, साम्प्रतं तद्योग्यविषयादिकमेव उच्यते प्रमाणविभागज्ञानार्थत्वात्.

तत्र चक्षुर्योग्याः — उद्भूतरूपं, तद्वान् [पा.भे.१], उदभूतरूपवन्मात्रवृत्तयः, संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-वेगाः, कर्म च तदीयं, तेषां जातिः, तत्समवायः च इति. स्नेहद्रवत्वेतु त्वग्ग्राह्ये इति वक्ष्यते. 'मात्र' पदं वायुघटसंयोगादिवारणाय. आकाशस्यतु न संयोगः प्रमाणाभावात्, तस्य स्पर्शे अन्तर्भावस्य वक्ष्यमाणत्वेन तत्र तदभावात् च. 'समवाय' पदम् अत्र तादात्म्यवाचकं ज्ञेयम्. तत्र द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपवत्त्वेन योग्यता. अतः परमाणुपिशाचादीनाम् उद्भूतरूपाभावेनैव चक्षुषा अग्रहो, नतु महत्त्वसामानाधिकरण्यमपि तत्र निवेशनीयम्, अप्रयोजकत्वात्, परमाणुषु उद्भूतरूपसत्त्वे युक्त्यभावाद् इति. एवं द्रव्यगतधर्मचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपवन्मात्रवृत्तित्वेन योग्यता. धर्मगतजात्यादिचाक्षुषं प्रति योग्यद्रव्य-वृत्ति-

वृत्तित्वेन सा बोध्या. उद्भूतत्वञ्च आविर्भूतत्वम् अनुद्भूतत्वं च तिरोभूतत्वम् — इति च ग्रहणेऽपि[पा.भे.२] पूर्वं रूपस्य ग्रहणं, मुख्यतया तस्यैव विषयत्वात्, ततो द्रव्यादीनान्तु रूपद्वारकम्[पा.भे.३] इति बोध्यम्.

बाह्यास्तु, * रूपाद्यतिरिक्तं द्रव्यं न * इच्छन्ति, तत्तु आगमापायिषु रूपादिषु स्थिरत्वेन घटादेः अनुभूयमानत्वादेव निरस्तम्.

अथ त्वग्-योग्याः — उद्भूतस्पर्शः, तद्वान्, उद्भूतस्पर्शवन्मात्रवृत्तयः उक्तगुणादयः, तेषां जातिः, तत्समवायः च. नच * वायुः वायुपरिमाणं च त्वचा न गृह्यते * इति वाच्यं, "वायुः वाति" "स्वल्पो वायुः" "महान् वायुः" इत्याद्यनुभवापलापप्रसङ्गात्.

एवं घ्राणयोग्याः — उद्भूतो गन्धः, तद्वान्, तज्जातिः, तत्समवायः च.

एवं रसनायोग्याः — उद्भतो रसः, तद्वान्, तज्जातिः, तत्समवायः च.

श्रोत्रयोग्याः — उद्भूतः शब्दः, तद्वान्, तज्जातिः च इति.

अन्येतु * घ्राणरसनश्रवणानां द्रव्यग्राहकत्वं न * इच्छन्ति.

तत् न अस्माकं रोचते, तमसि रसनया दुग्धादेः, घ्राणेन चम्पकादेः, श्रवणेन भेर्यादेः, अनुभवस्य व्याप्तिज्ञानविधुराणामपि दर्शनाद्, अनुव्यवसायविरोधेन स्मृतिरूपत्वस्य तत्र वक्तुम् अशक्यत्वात् च. नच * उपनीतभानं तद् * इति वाच्यं, तथात्वे मानाभावाद् घ्राणादीनां द्रव्याग्राहकत्वस्य[पा.भे.४] अभ्युपगमैकशरणत्वाद् इति दिक्. तेन उद्भूततत्तद्गुणा पृथिवी पञ्चानाम् इन्द्रियाणां योग्या, तादृश्यः आपो घ्राणव्यतिरिक्तानां चतुर्णां, तादृशं तेजो घ्राणरसनभिन्नानां त्रयाणां, तादृशो वायुः त्वक्श्रवणयोः द्वयोः, आकाशस्तु प्रमेयबलादेव चाक्षुषः, उद्भूतशब्दस्तु श्रावणोऽपि प्रतिध्वनिश्रवणेन

गर्भगृहाद्याकाशावगमात्. दिक्कालौतु ग्राह्यार्थविशेषणतयैव गृह्येते न साक्षात्. मनसस्तु कामादयो वृत्तयएव मनोग्राह्याः.

केवलात्मनः इन्द्रियाग्राह्यत्वनिरूपणम् :

आत्मातु, केवलः, शास्त्रीयसाधनम् अन्तरेण न प्रत्यक्षो, तथा [पा.भे.५] तद्धर्माः च. किञ्च "केवलात्मा लौकिकप्रत्यक्षाविषयः विभुत्वाद् आकाशादिवत्. स्वात्मा लौकिकप्रत्यक्षायोग्यः आत्मत्वात् परात्मवद्" इति अन्वयव्याप्त्या तन्निश्चयात्, सिद्धान्तेतु, [टि.१] "यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनो-बुद्धीन्द्रियासवः" (भाग.पुरा.६।१६।२३) इति वाक्यात्; तथा, अणुत्वात् परमाणुवद् इति अनुमानात् च. 'अहं'बुद्धिस्तु [टि.२] पटावृतघटबुद्धिवद् अहंकारसंसर्गद्वारिका व्यवहारोपयोगित्वात् प्रमाभासरूपैव, अहन्तातादात्म्यभानेन भ्रमरूपत्वात्. "यन्न स्पृशन्ति नविदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः" (भाग.पुरा.६।१६।२३) इति वाक्ये मनसो असंसर्गादिकथनात् च.

तमःप्रतिबिम्बादिग्रहणप्रणाली :

तमः-प्रतिबिम्ब-गन्धर्वनगरेन्द्रजालादि-प्रतीतिरपि पदार्थस्वभावादेवेति, न तत्र कार्यकारणभावान्तरापेक्षा नापि तामसेन्द्रियस्य [पा.भे.६].

अन्धकारस्थ-घटादिषुतु नृचक्षुः प्रति मायया तमोजननात् तदेव विषयीक्रियते, नतु विषयः तदावृतत्वात्. एवञ्च विषयालोकसंयोगस्य सहकारितापि न कल्पनीया, अभास्वर-द्रव्य-चाक्षुषत्वावच्छिन्नं [पा.भे.७] प्रति दूरत्व-व्यवधानाभावादिविशिष्ट [पा.भे.८]स्य विषयतयैव निर्वाहाद्, "यथाहि भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद् नतु तद् विधत्ते" (भाग.पुरा.११।२८।३४) इति वाक्ये भगवता सूर्योदयस्य नृचक्षुः-सम्बन्धि-तमो-निवारकत्वेनैव कथनेन आलोकसंयो-गस्य विषयादिसंस्कारकतायाः विरुद्धत्वात्. एवञ्च उलुकबिडालादीनाम्

१. सिद्धान्ते सच्चिदानन्दात्मकस्य ब्रह्मणः चिदंशरूपो अनध्यस्ताविद्यान्तःकरणादिपर्वात्मकः केवलात्मा न लौकिकप्रमागम्यइति तस्य अप्रत्यक्षत्वे शास्त्रवचनम् उदाहरन्ति (स्या). २. * ननु आत्मा 'अहं'वित्तिवेद्यः आत्मत्वात् यन्नैवं तन्नैवम् आकाशादिवद् इति सत्प्रतिपक्षः * इति चेत् तत्र आहुः (क).

आलोकसंयोगाभावे वस्तुचाक्षुषमपि अनुकूलीभवति. तमस्तु पदार्थान्तरमेव न तेजोऽभावः, "अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्" (अम.को.१।८।३) इत्यादिनामपाठात्, "ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम्" (अम.को.१।८।३) इत्यादिभेदपाठात्, "हृतरूपन्तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते स्वतेजसापिबत् तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः" (भाग.पुरा.११।३।१४) इति वध्यघातकविरोधकथनात् च. विशेषस्तु अन्धकारवादे अस्माभिः प्रपञ्चितइति न इह प्रतन्यते.

तथा प्रतिबिम्बस्यापि पदार्थान्तरत्वं तद्वादादेव अवसेयम्.

तन्न्यायेन गन्धर्वनगरादेरपि, मायिकत्वस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्.

अभावस्य उपादानकारणे आविर्भावतिरोभावयोः च अन्तर्भावात् तद्ग्राहक-सामग्री-ग्राह्यत्व-निरूपणार्थम् अभाव-चतुष्टय-स्वरूप-विचारः :

अभावस्तु, कारणे आविर्भावतिरोभावयोः च, यथासम्भवम् अन्तर्भवतीति तद्ग्राहकसामग्र्यैव गृह्यते. कथम् अन्तर्भावः ? इति चेद् उच्यते. प्रागभावध्वंसौ समवाय्यवस्थाविशेषरूपौ :—

(१)"तिरोभावसहकृता कार्याविर्भावानुकूलावस्था"=प्रागभावः.
(२)"तादृशी कार्यस्थितिप्रतिकूलावस्था"=ध्वंसः

इति, तदतिरेके मानाभावात्.

(१)नच * "इह कपाले घटो नास्ति" इति प्रतीतिरेव तत्र मानम् * इति वाच्यं, तस्याः घटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाव-विषयतया घट-संसर्गाभाव-सामान्यत्वेन प्रागभावात्मक-विशेषानवगाहित्वात्. नापि "इह कपाले घटप्रागभावः" इति प्रतीतिः तत्र मानं, तस्याएव अभावात्. तथा आग्रहेऽपि असार्वजनीनत्वेन प्रतिवाद्यनादरणीयत्वात्.

किञ्च अनया प्रतीत्या आपाद्यमानः प्रागभावः किं सकलघटप्रतियोगिकः

एकः उत यत्किञ्चित्तत्तत्प्रतियोगिको नैकः ?

न आद्यः, तस्य प्रतियोगिनाश्यत्वोपगमाद् यत्किञ्चिद्घटोत्पत्तावपि तन्नाशसम्भवे "इदानीम् अत्र कपाले घटो नास्ति — इदानीम् अत्र घटप्रागभावः" इति प्रतीतिबाधापत्तेः. नच *सकलप्रतियोगिनाश्यः सः* इति वाच्यं, तथा सति एकस्मिन् घटे उत्पन्नेऽपि तत्प्रागभावानाशात् तदवयवत्वेन प्रतीयमानेषु कपालेष्वपि "अयं घटो नास्ति – अत्र एतद्घटप्रागभावः" इति प्रतीत्यापत्तेः. नच *प्रतियोगिसत्तया प्रतीतिप्रतिबन्धात् न दोषः* इति वाच्यं, तथा सति प्रागभावप्रतियोगिनोः एकत्र स्थितौ सकल-प्रतियोगि-नाश्यत्वस्यापि अयुक्तिसहत्वात्, प्रतियोगिनां नश्वरत्वेन साफल्यस्यापि अशक्यवचनत्वाद्, एवं नाशकानिर्वाच्यत्वे "विनाश्यऽभावः प्रागभावः" इति लक्षणासम्भावापत्तेः च. नच *गन्धाद्यनधिकरणकाल-वृत्त्यभावत्वस्य अदृष्टत्वावच्छिन्नानधिकरण-काल-वृत्त्यभावत्वस्य वा तल्लक्षणस्य सत्त्वात् न लक्षणासम्भवः* इति वाच्यं, सृष्टिपूर्वदशायां जन्यज्ञानसामग्र्यभावेन ज्ञातुः अभावात् तदा तत्सत्त्वस्य अप्रामाणिकत्वेन अनवसरपराहतत्वात्. ईश्वरः पश्यति! इति चेत् तर्हि तदाज्ञया मंस्यामो न भवद्वाचा इति दिक्.

न द्वितीयो, अभावज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानाधीनतया तदानीं प्रतियोगिज्ञानाभावेन तत्प्रागभावस्य ज्ञातुम् अशक्यत्वात्. घटत्वेन रूपेण प्रतियोगिज्ञानाङ्गीकारे प्रागभावस्यापि सकलप्रतियोगिसामान्यतायां पूर्वविकल्पीय-दूषणापत्तेः. नच *घटत्वादिरूप-सामान्यलक्षण-प्रत्यासत्त्या भाविघटविषयक लौकिकज्ञानस्य संस्कारवशाद् उपनीतभानस्य वा शक्यवचनत्वात् न एवम्* इति वाच्यम्, अनुभवाभावेन भाविघटविषयकसंस्कारस्य अभावेन उपनीतभानस्य अशक्यवचनत्वात्. अलौकिकज्ञानपक्षेऽपि पूर्वं सकलघटादिविषयक-तादृशज्ञानोत्तरं प्रागभावस्य प्रतियोगिनाश्यत्वानुसन्धानाद्, विरोधप्रतिसन्धाने [टि.१] तत् सङ्कोचनीयम्. पूर्वं तादृशप्रतिसन्धाने सङ्कुचितमेव तद् उत्पद्यते इति

१. सामानाधिकरण्येन तयोः स्थितेः असम्भवात् (ग).

वा वक्तव्यम्. तदुत्तरञ्च भाविघटीयप्रागभावज्ञानं वक्तव्यम्. तथा सति आत्माश्रयः, भावित्वस्य प्रागभावघटितत्वात्. यदि च वर्तमान-कालोत्तर-कालवर्त्युत्पत्त्याश्रयत्वं भावित्वम् इति उपेयते तदातु प्रागभावाप्रतीतिरेव.

एतेनैव "घटो भविष्यति" इति प्रत्ययेनापि तत्प्रतीतिरपि अपास्ता, भविष्यत्ताप्रत्ययस्य तैनैव सम्भवात्.

नापि अनुमेयत्वम्. तथाहि "कपालं घटप्रागभाववत् घटीय-चरम-सामग्रीवत्त्वाद् यो यच्चरमसामग्रीवान् स तत्प्रागभाववान् पटीय-चरम-सामग्री-विशिष्ट-तन्तुवद्" इत्यादिषु प्रयोगेषु प्रागभावरूप-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-साध्याप्रसिद्ध्या अनुमानासम्भवाद् इति. अतः तद्[पा.भे.९] ग्राहक-मानाभावात् सामयिकात्यन्ताभावेनापि प्रतीतिनिर्वाहात् च न प्रतीत्यादिना तत्सिद्धिः.

ननु मास्तु प्रतीत्यादिना तत्सिद्धिः. तथापि घटत्वेन कपालत्वेन सामान्य-कार्य-कारण-भावे सत्यपि, एतेभ्यः कपालेभ्यः एतद्घटोत्पत्तौ कपालत्वेन नियमासम्भवाद्, एतत्कपालत्वेन नियमाङ्गीकारे च विनिगमानाविर-हाद्, बहुकपालजन्ये घटे गौरवग्रासात् च तद्देशनियामकः कश्चिद् वक्तव्यः. तादृशश्च भावाभावयोः मध्ये न प्रागभावाद् अन्यइति, तद्देशनियामकतया प्रागभावः सेत्स्यति इति चेत्,

मैवं, सत्कार्यवादे कार्यस्य कारणे सतएव अभिव्यक्तेः, कारणादेव देशनियमसम्भवेन च तथासिद्धेः अभ्युपगमैकशरणत्वाद्, बहुकपाले घटेऽपि समुदायस्यैव कारणत्वेन गौरवाभावात्, श्वो भाविनो अद्य अभावेन तत्कालवैशिष्ट्यस्य आवश्यकतया तेनैव निर्वाहात् च. नच *प्रागभावा-नङ्गीकारे उत्पन्नस्य पुनः उत्पत्तिप्रसङ्गः, कालोपाधीनां क्रमिकत्वेन तद्वैशिष्ट्य-तिरोभावकृत-सामग्रीविघटनादेव तदभावसिद्धेः. अतो न एवमपि प्रागभावसिद्धिः. नच *यत्र पक्वे घटे युगपत्[पा.भे.१०] स्पर्शरूपरसगन्धानां पाकजानाम् उत्पत्तिः, तत्र, कारणस्य कालवैशिष्ट्यस्य च साधारणत्वात्

तादृशस्पर्शादिप्रागभावं विना न निर्वाहः * इति शङ्क्यं, तादृशविपरिणामस्य पाकसहकृत-स्पर्शादिस्वभावेनैव सम्भवात्, स्वभावस्य धर्मत्वेन तत्कल्पनेऽपि लाघवात् च. एवम् अव्याप्यवृत्तिसंयोगादेः तत्तदवच्छेदेन उत्पत्तावपि कारणस्वभावस्यैव नियामकत्वं बोध्यम्. नच * प्रागभावानङ्गीकारे कारणशरीरे प्रविष्टस्य पूर्ववर्तित्वस्य कथं ग्रहणं तस्य प्रागभावावच्छिन्न-समयवर्तित्वरूपतया प्रागभावग्रहाधीनत्वाद् * इति वाच्यम्, आविर्भावकशक्त्याधारत्वस्यैव कारणत्वेन 'पूर्ववर्तित्व' घटितलक्षणस्यैव अनादरणीयत्वेन तद्ग्रहणस्य अनावश्यकत्वाद्. आवश्यकत्वेऽपि कार्यविषयकाग्रिम-जनन-ज्ञानेनैव तद्ग्रहणस-म्भवाद्. अन्यथा प्रागभावस्यापि कारणत्वेन तन्निष्ठपूर्ववर्तित्वस्यापि प्रागभावघटिततया तद्ग्रहणे आत्माश्रयेण प्रागभावकारणतादिज्ञानस्यापि असम्भवापत्तेः. प्रागभावस्य ज्ञायमान-कारणावस्थाविशेष-व्यंग्यत्वेन तस्य च उक्तरीत्या प्रागभावज्ञानाधीनज्ञानकत्वेन चक्रकापत्तेः च. नच * तस्य न कारणावस्थाव्यंग्यत्वम् * इति वाच्यं, घटजननाकूलां कारणावस्थाम् अपश्यतः कस्यापि "इह घटो भविष्यति, इदानीम् अत्र घटप्रागभावः" इति बुद्ध्यनुदयेन तथात्वस्य तवापि आवश्यकत्वात्. नच * अभ्यासपाटवादेव उदयसम्भवात् न तथा * इति वाच्यं, तथा सति कारणादर्शनेऽपि तदुदयापत्तेः. तस्मात्[टि.१] न कारणावस्थातिरिक्तः प्रागभावः.

(२)तथा ध्वंसोऽपि, कार्यस्थितिप्रतिकूलां कारणावस्थां पश्यतएव "इह घटो ध्वस्तः" इत्यादिप्रत्ययात्. नच * सामयिकात्यन्ताभावस्य घटाप्रतिकूलत्वाद् ध्वंसानङ्गीकारे घटोन्मज्जनापत्तिः * इति वाच्यं, तादृगवस्थायाः सत्त्वात् निमित्तविघटनात् च तथा आपादयितुम् अशक्यत्वात्. यत्रच अवस्थातिरोभावः तत्र उन्मज्जनेऽपि बाधकाभावः. अतएव ताम्रादिघटेषु भङ्गोत्तरमपि निमित्तान्तरेण पुनःसन्धानमपि युज्यते. तस्य घटान्तरत्वाङ्गीकारस्तु केवलम् अभ्युपगमैक-शरणइति शब्दनित्यतावादोक्तिदिशैव अवगन्तव्यम्.

१. कार्यस्य(क) अभाव-(ग) प्रतीतेः सामयिकात्यन्ताभावेन निर्वाहाद्, देशनियमस्य कालवैशिष्ट्येन सम्भवात् पूर्ववर्तित्वस्य अग्रिमजननज्ञानेनैव सम्भवात् च इति अर्थः(क.ग)

किञ्च आश्रमवासिकपर्वस्थ-कुरुपाण्डवसैन्य-प्रदर्शनस्य कश्यपकृतस्य तक्षकदग्धवटतरूज्जीवनस्य च भारतादौ दर्शनात्, तादृशस्थले पदार्थान्तरत्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वं च इति विद्वन्मण्डने प्रभुचरणैरेव व्युत्पादितम्.

नच 'ध्वंस'-'प्रागभाव' शब्दाभिलापबाधः, 'कार्य-कारणा'दिशब्द-वत्-सापेक्षवृत्तिकत्वेन कार्यस्थितिम् अग्रिमजननं च अपेक्ष्य कारणएव तदभिलापस्य सुखेनैव उपपत्तेः. एवं 'भावि'-'ध्वस्त' शब्दावपि अग्रिमजनन-पूर्वस्थिती अपेक्ष्य, सत्येव कार्ये प्रयुज्येते न असति, तेन जननानुकूल-कारणावस्था-निरूपकत्वं भावित्वं स्थितिप्रतिकूलकारणावस्थानिरू-पकत्वं ध्वस्तत्वम् इति बोध्यम्. नच *प्रागभावध्वंसदशायां कार्यसत्त्वे तद्दर्शनप्रसङ्गः* शङ्कनीयः, सौक्ष्म्यादेव तदभावोपपत्तेः. सूक्ष्मत्वञ्च अनुद्भूताकृतिकत्वम्.

सत्कार्यवादप्रपञ्चः उत्पत्तिवाददूषणं च आविर्भावतिरोभाववादे सम्यग् उपपादितमिति न इह तद्विस्तरः.

तस्माद् ध्वंसोऽपि कारणावस्थातो न अतिरिच्यते.

(३)अन्योन्याभावस्तु : प्रतियोगितावच्छेदकारोपापवाद-लक्षणकत्वे प्रतियोगितावच्छेदकता-नियामक-सम्बन्धावच्छिन्न- प्रतियोगितावच्छेदकात्य-न्ताभावरूपत्वे च अत्यन्ताभावएव, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाव-रूपत्वेतु अतिरिक्तः.

तत्र अतिरिक्तपक्षे ''घटः पटो न'' इत्यादिप्रत्ययस्य तादात्म्यसम्बन्धारोप-पूर्वक-तदभावावगाहितया प्रतियोगि-तिरोभाव-सङ्कीर्णानुयोगि-स्वरूपविष-यत्वात् स्वरूपएव निविशते. यदिच तत्र ''घटप्रतियोगिकान्योन्याभाववान् पटः'' इति बोधः आपाद्यते तदा पृथकत्वएव निविशते. तच्च आविर्भावविशेषएव, तस्यैव इतरव्यावर्तकत्वाद् इतरव्यावृत्तत्वात् च. ''अयम्

अस्माद् भिन्नो अन्यः पृथग्'' इत्यादि-व्यवहार-साधकत्वेन तस्य आविर्भावातिरेके मानाभावात्. ''घटः पटो न'' इत्यत्र पञ्चम्यभावस्तु अनुशासनाभावात् स्वरूपात्मकत्वाद् वेति न तेनापि अतिरेकसिद्धिः.

नच *इतरतिरोभावएव घटापटाद्याविर्भावः [पा.भे.११] * इति वाच्यं, तस्य व्याप्य- वृत्तित्वे घटाप्रतीतिप्रसङ्गाद्, अव्याप्यवृत्तित्वे तस्यापि तिरोभावान्तरं कल्पनीयम् इति कल्पना तौल्यात्, अतो भावमुखप्रतीतेः ''आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुखैरिणः'' ( ) इतिवाक्यात् च आविर्भावाभ्युपगमस्य आवश्यकत्वात् नाग-ताम्रैक्ये [टि.१] कांस्यवद् अविविक्तौ विवक्षित-वस्त्वाविर्भाव-तदितर-तिरोभावावेव पृथक्त्वम्. तस्य भावप्रतीत्याधिक्याच्च आविर्भाव-विशेषत्वं तेन पृथक्त्वग्राहकसामग्र्यैव तद्ग्रहः.

(४)अतः परम् अत्यन्ताभावो अवशिष्यते. सतु तिरोभावएव, ''इहभूतले घटो नास्ति'' इत्यादिप्रतीतेः तिरोभावावगाहित्वात्, तिरोभावएव हि 'नास्ति' इति व्यवहारदर्शनाद्, घटाभावाभावस्य घटात्मकत्वेन सङ्कीर्णत्वेऽपि अभावमुखप्रतीत्या तिरोभावत्वाव्यभिचारात्. 'अभाव' पदेनापि भाव-प्रतियोगिक-पृथक्त्ववानेव प्रतीयते, ''न भावो अभावः'' — इति भावभिन्नो अभावइति. सच निषेधपूर्वको भावएव, अन्यथा असत्त्वात् खपुष्पवत् निःस्वभावः स्यात्, तथा सति न प्रतीयेतैव. अतः प्रतीत्यनुरोधाद् भावान्तरविलक्षणः तिरोभावशक्तिरूपएव सिद्ध्यति. तस्मात् न अभावः एभ्यो अतिरिक्तः. तत्र अत्यन्ताभावः केवलतिरोभावात्मा प्रतियोगि-तद्व्याप्येतरप्रतियोगिग्राहक-सामग्र्यैव गृह्यते. सामग्रीतु पूर्वोक्तेन्द्रियाणि तद्व्यापाराः च.

प्रत्यक्षकरणरूपाणाम् इन्द्रियाणां षड्विध-व्यापारस्वरूपनिरूपणम् :

तत्र इन्द्रियाणि उक्तानि. तेषां व्यापारो विचार्यते प्रत्यासत्तिरूपः.

१. ''नागं नपुंसकं रङ्गे सीसके करणान्तरे, नागः पन्नगमातङ्गक्रूराचाररिषु तोयदे...''इति मेदिन्यां.२२।७-९ इति अमरकोषीयरामाश्रम्यां (३।३।२१) तेन ताम्रसीसकयोः मिथो मिश्रणेन एकीकरणेन कांस्यधातुनिर्मितिः भवति इति अर्थः (श्या).

स तावत् लौकिकालौकिक-भेदेन द्विधा. तत्र अलौकिकः त्रिधा : (क) सामान्य-(ख) योगज-(ग) माया-भेदात्.

(क) तत्र सामान्यम् अनुगताकारेण तद्व्यक्तिज्ञाने उपयुज्यते, तस्य तथात्वञ्च अनुभवसिद्धं, (ख) द्वितीयो अनागतातीतातीन्द्रियादि-वस्तुसाक्षात्कारे, भगवद्ध्यानादेरपि अत्रैव निवेशः, (ग) तृतीयातु अविद्यमानानां पदार्थानां बुद्धौ उपस्थापने. अतएव नैयायिकानां ज्ञाने प्रत्यासत्तिभ्रमः. एतयोश्च तथात्वं शास्त्रसिद्धम्, "अनागतमतीतञ्च वर्तमानमतीन्द्रियं विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः" (भाग.पुरा.१०।६१।२१) "यदङ्घ्र्यनुध्यानसमाधिधौतया धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः" (भाग.पुरा.२।४।२१) "भक्त्या मामभिजानाति" (भग.गीता.१८।५५) "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तैत्ति.उप.३।३) "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्" (भाग.पुरा.२।९।३५) इत्यादिवाक्यात्.

लौकिकस्तु पञ्चविधः [पा.भे.१२] :—

(क) संयोगः (ख) तादात्म्यं (ग) संयुक्ततादात्म्यं
(घ) संयुक्तविशेषणतादात्म्यं (ङ) स्वरूपं च
इति भेदात्.

तत्र चक्षुषा द्रव्यग्रहे संयोगएव प्रत्यासत्तिः.

केचित्तु * इतरेन्द्रियवैलक्षण्यात् चक्षुषो अप्राप्यप्रकाशकारित्वं स्वीकृत्य दूरत्व-व्यवधानाभाव-सहकृतयोग्यता-मात्रेण प्रतीतिनिर्वाहात् तत्संयोगं न * **स्वीकुर्वन्ति.**

अन्येतु * नेत्रेन्द्रियगोलकस्य स्वच्छत्वेन तत्र वस्तुनः प्रतिबिम्बे सति योग्यतामात्रेण मायाद्वारिकां प्राप्तिं स्वीकृत्य संयोगस्य द्वारत्वं * **खण्डयन्ति.**

तद् उभयमपि असङ्गतं, भगवता संयोगस्वीकारात्, "चक्षुस्त्वष्टारं संयोज्य

त्वष्टारमपि चक्षुषि तत्र मां मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति दूरतः" (भाग.पुरा.११।१५।२०) इति एकादशे भगवद्वाक्यात्. अत्र तत्तत्प्रतियोगिकसंयोगद्वयनिरूपणेन योग्यता-प्रतिबिम्ब-पक्षानङ्गीकारात्,[टि.१] "दूरे घटं पश्यामि...निकटे हरिं पश्यामि" इत्यादि सार्वजनीनाबाधितप्रत्ययात् च, निबिडतम-काचाद्यन्तरितोपलब्धिस्तु अग्नेः स्थालीभेदकत्ववत् चक्षुःकिरणानां स्वच्छकाचा-दिभेदकत्वादपि सङ्गच्छते. अतएव गोलकस्य सच्छिद्रतापि निरस्ता ज्ञेया. ध्रुवादिविषयपर्यन्तं गतानां पुनः अन्तःप्रवेशस्तु मनसइव वेगादपि सम्पद्यते. एवं दूषणान्तरमपि निरसनीयम्, अस्य शास्त्रस्य अकाल्पनिकत्वात्. प्रतिबिम्बस्तु अदण्डवारितत्वाद् भवति. तेन मायापि प्रत्याययतीति चक्षुषा भूयोज्ञानम् उत्पद्यते तेजस्संयोगबाहुल्यइवेति न तस्य गतार्थता. अतएव इन्द्रियान्तरापेक्षया चक्षुषा भूयोज्ञानमपि युज्यते. तस्माद् अस्ति चक्षुषः संयोगो द्रव्यग्रहणे व्यापारः.

सएव योग्य-गुण-क्रिया-जाति-साक्षात्कारेऽपि उपयुज्यते. तेषां वस्तुतो द्रव्याभिन्नत्वात्. संयुक्ततादात्म्यं वा अस्तु. एवं त्वग्-घ्राण-रसन-ग्रहणेऽपि ज्ञेयम्. श्रोत्रेण शब्दग्रहणेतु संयोगएव व्यापारः. शब्दोहि वायुना उपनीतः श्रोत्रपर्यन्तं यदा आयाति तदा श्रोत्रावच्छिन्नत्वचा वाहकवायुसंयोगे तमेव संयोगं व्यापारयित्वा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते. शब्द-ग्राहक-सामग्री-प्राबल्येन[टि.२] संयोगाश्रयस्य वायोः अप्रत्यक्षत्वात् न तस्य संयोगस्य ग्रहणम्. संयोगग्राहकसामग्रीप्राबल्येतु संयोगस्यापि ग्रहणं, यथा कर्णाभ्यर्णम् आगतस्य वार्ताश्रवणे वक्तृ-मुख-वायु-संयोगस्य. अभावे विशेषणतेव, शब्दग्रहे संयुक्त-वायूढ-शब्द-स्वरूपमेव वा द्वारम्.

मनसस्तु बहिर्विषये स्वसंयोगद्वारकः इन्द्रियसंयोगादिः, स्वधर्माणां ज्ञानसुखादीनां ग्रहणे तादात्म्यं, वृत्तीनां ग्रहणेतु वृत्तिस्वरूपमेव द्वारम्.

तिरोभावस्तु इन्द्रिय-संयुक्त-विशेषणतया गृह्यते.

---

१. प्रतिबिम्बपक्षे दीर्घस्यापि पदार्थस्य ह्रस्वतयैव उपलब्धिः स्यात् ह्रस्वे पदार्थे तथाभूतएव प्रतिबिम्बते इति (आ). २. श्रवणमनस्संयोगः (अ).

सदसदात्मकवस्तुनः असत्ताग्रहणे अनुपलब्धिः प्रमाणम् इति मतस्य विमर्शे पार्थसारथिमतम् :

पार्थसारथिमिश्रास्तु ※ वस्तुमात्रं सदसदात्मना[टि.१] द्विविधम्. तत्र यद् यदा यत्र सद्रूपेण वर्तते तत् तत्र तदा प्रत्यक्षादिभिः 'अस्ति' इति प्रमीयते. यदातु असद्रूपेण वर्तते, तदा सद्रूपबोधकानां प्रत्यक्षादीनाम् अकिञ्चित्करत्वाद्, योग्यानुपलब्धिरूपेण तद् वस्तु 'नास्ति' इति प्रमीयते. तस्माद् योग्यानुपलब्धि-रूप-प्रमाणान्तर-गम्यएव अभावः. योग्यानुपलब्धिश्च स्वरूपसती कारणं नतु ज्ञानमपि तस्याः अपेक्षितम्. अन्यथा तस्याअपि प्रमेयत्वात् प्रमाणापेक्षायां[टि.२] अनवस्थापत्तेः. नच ※अन्धकारे हस्ताभ्यां वस्तुनः सर्वतः परामर्शे, जातायामपि योग्यानुपलब्धौ[टि.३] "किं कश्चिद् देशो अवशिष्टः!" इति सन्दिहानस्य वस्त्वभावबुद्ध्यनुदयात्, कदाचिद् अपरामृष्यापि सर्वतः परामृष्टम् इति भ्रान्त्या योग्यानुपलब्धिनिश्चये वस्त्वभावबुद्ध्युदयात् तस्याः ज्ञातायाएव कारणत्वम्※ इति शङ्क्यं, तादृशबुद्ध्यनुदयादेः योग्यानुपलम्भीय-योग्यताऽज्ञानज्ञानकृतत्वात्. तद्योग्यताया-[टि.४] ज्ञातायाएव उपयोगेऽपि अनुपलब्धेः स्वरूपसत्याएव कारणत्वेन अदोषात्. नच ※अभावज्ञानम् इन्द्रियेणैव अस्तु!※ इति शङ्क्यम्, इन्द्रियव्यापाराभावेऽपि तज्ज्ञानदर्शनात्. केनचित् प्रातरेव आगते माथुरे दीर्घतमे शुक्लवाससि पुंसि, मध्याह्ने पृष्टे, श्रोतुः प्रतियोग्यस्मरणादेव प्रातःकालीनतदभावज्ञानस्य अनुभव-साक्षिकत्वात्. नच ※प्रातः अवगतो अभावः तदा स्मर्यते※ इति वाच्यं, प्रातः प्रतियोगिनः कथञ्चिदपि बुद्धौ अनारोहात्, तत्प्रतियोगिकस्य अभाव-स्यापि तथात्वेन, तत्स्मरणस्य सर्वथैव अशक्यवचनत्वात्. एवं सिद्धे[टि.५] योग्यानुपलब्धेः कारणत्वे यत्र इन्द्रियव्यापारानुपरमे सन्निहित-देश-काल-वर्ती अभावः प्रतीयते तत्रापि सैव कारणं नतु इन्द्रियादिकम्※ इति आहुः.

---

१. मीमांसकमते सत्कार्यवादात् सदसदात्मकत्वम् आविर्भूततिरोभूतरूपत्वं बोध्यम्(अ ग). २. अनुपलब्ध्यन्तरापेक्षायाम् इति अर्थः(अ ग). ३. योग्यस्य प्रतियोगिनः अनुपलब्धौ इति अर्थः(अ). ४. वस्तुसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितोपलब्धिकत्वरूपायाः(अ). ५. अनुभवत्वेन स्मर-णत्वेन कार्यकारणभावः नतु स्मरणाभावत्वेनापि तथाच ध्वंसभिन्नसंसर्गाभावस्य नित्यत्वेन उक्तरीत्या सिद्धे इति अर्थः(अ).

इह केवलाद्वैतवादिनः वेदान्तपरिभाषाकारस्य मतम् :

वेदान्तपरिभाषायान्तु ✻ योग्यानुपलब्धेः कारणत्वेऽपि किं तत्स्वरूपं (१) योग्यस्य प्रतियोगिनो अनुपलब्धिः इति वा ? (२) योग्ये अधिकरणे प्रतियोगिनो अनुपलब्धिः इति वा ? (३) योग्यत्वविशिष्टानुपलब्धिः इति वा ? (१) न आद्यः, स्तम्भे पिशाचभेदाप्रत्यक्षत्वापत्तेः. (२) न द्वितीयः, आत्मनि धर्माद्यभावस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तेः. (३) तृतीयस्तु स्यात्, कर्मधारयाश्रयणात्. तस्याः योग्यत्वन्तु तर्कित-प्रतियोगिसत्त्व-प्रसञ्जित-प्रतियोगिकत्वम्. तदर्थश्च गृह्यमाणस्य अभावस्य यः प्रतियोगी तस्य सत्त्वेन, अधिकरणे तर्कितेन, यस्याः अनुपलब्धेः प्रतियोगिभूतम् उपलब्धिस्वरूपम् आपादयितुं शक्यते तादृशत्वम्. स्फीतालोकवति भूतले "यदि घटः स्यात् तदा उपलभ्येत" इति आपादयितुं शक्यत्वात्, तादृशस्थले घटाभावो अनुपलब्धिगम्यः. अन्धकारेतु तादृशापादनासम्भवात् न अनुपलब्धिगम्यः. अतएव स्तम्भे पिशाचसत्त्वे स्तम्भवत् प्रत्यक्षतापत्त्या तत्र तदभावो अनुपलब्धिगम्यः. आत्मनि धर्माद्यसत्वेऽपि आत्मनो अतीन्द्रियत्वेन निरुक्तोपलम्भापादनासम्भवात् न अनुपलब्धिगम्यः. नच * अधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्थले, उक्तरीत्या, अभावस्य अनुपलब्धिगम्यत्वं तव अनुमतम्. तत्र इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानाद् इन्द्रियस्यैव अभावाकारवृत्तौ कारणता अस्तु * इति वाच्यं, प्रतियोग्यनुपलब्धेः अभावग्रहे हेतुतायाः क्लृप्तत्वेन करणत्वमात्रस्य अधिकस्य कल्पनात्, इन्द्रियस्य अभावेन समम् असन्निकर्षाद् अभावग्रहहेतुत्वाभावाद्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोः अधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वेन तेषाम् अन्यथासिद्धत्वात् च. *ननु "भूतले घटो न" इत्यादौ भूतलांशे ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् उभयसम्मतं, तत्र वृत्तिनिर्गमने भूतलावच्छिन्नचैतन्यवत् तन्निष्ठ-घटाभावावच्छिन्न-चैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्न-तया घटाभावस्यापि प्रत्यक्षतैव आयाति * इति चेत्, न, तस्याः प्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य न प्रत्यक्षत्वं "दशमः त्वम् असि" इत्यादि-वाक्य-जन्य-ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षानन्तःपा-तित्वाभ्युपगमात्. नच * फलवैजात्यं विना कथं प्रमाणवैजात्यम् * इति शङ्क्यं, वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्योपपत्तेः. तस्माद् अभावस्य अनुपलब्धिगम्यत्वमेव ✻ इति **उक्तम्.**

इह कणभक्षाक्षपादमते :

वैशेषिकास्तु, उक्तरीतिकामेव योग्यानुपलब्धिं स्वीकृत्य, * स्फीतालोके तत्सहकृतेन चक्षुषा, तमसि च तादृशा त्वचा, घटाद्यभावप्रत्यक्षं; तथैव इन्द्रियान्तरैः तत्तद्ग्राह्याभावप्रत्यक्षं, संसर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगियोग्यतायाः अन्योन्याभावप्रत्यक्षे अधिकरणयोग्यतायाः अपेक्षां च * आहुः.

नैयायिकास्तु * अनुपलब्धेः पूर्वोक्तां योग्यताम् अनादृत्य योग्यसहकारि-सम्पन्नत्वरूपामेव योग्यताम् * इच्छन्ति.

अतएव (ते!) *अन्धकारे आलोकाधिकरण-सन्निकर्षात्मक-योग्यसहकार्यभावाद् योग्यानुपलब्ध्यभावेन न घटाभावग्रहः चक्षुषा. जलपरमाणौ च इन्द्रियसन्निकृष्ट-महत्त्ववद्-विशेषणतारूपस्य तस्य अभावात् न पृथिवीत्वाभावग्रहः. भूतले पिशाचात्यन्ताभावस्तु अयोग्यत्वादेव न गृह्यते. अत्यन्ताभावे योग्यतातु योग्यमात्रप्रतियोगिकत्वरूपा योग्यधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्वरूपा वा बोध्या. सर्वाभावसाधारणातु [पा.भे.१३] न काचिद् योग्यता किन्तु गुणयोग्यतावद् अननुगतैव * इति आहुः.

अत्र स्वसिद्धान्तनिरूपणम् :

ममतु प्रतिभाति — अनुपलब्धेः न अभावग्रहं प्रति करणत्वं, "चक्षुषा अवगतः" इतिवद् "अनुपलब्ध्या अवगतः" इति प्रत्ययाभावाद्, योग्यप्रतियोगिकत्वरूपया अभावनिष्ठयोग्यतयैव निर्वाहात्. अतः तद्योग्यत्वादि-विचारो व्यर्थएव. नच * योग्यानुपलब्धेः अकारणत्वे घटवत्यपि भूतले घटाभावग्रहप्रसङ्गः, तस्य घटाक्रान्तत्वेन देशान्तरे इन्द्रियसन्निकृष्टाभावासत्त्वेऽपि तद्विशेषणत्वेन असत्त्वाद् इन्द्रियसन्निकृष्टोद्भूतरूपवद्-विशेषणतारूप-प्रत्यासत्त्यभावादेव तद्वारणात्. अतएव न अन्धकारे, तमोवृतत्वेन भूतलस्य असन्निकृष्टत्वात्. [टि.१] * अनावरकत्वपक्षेऽपि [पा.भे.१४] अभावस्य प्रतियोगि-

१. इतः आरभ्य सर्वास्वपि मातृकासु पंक्तिव्यत्यासबाहुल्यं दृश्यते ततः अ पाठानुरोधमेव स्वीकृत्य सर्वाअपि पंक्तयः पुनः योजिताः (स्या).

तद्व्याप्येतर-प्रतियोगिग्राहक-यावत्सासामग्री-ग्राह्यत्व-नियमेन सामग्र्यभावा-देव[टि.१] वारणात्, गृहान्तर्देशस्य असन्निकृष्टत्वेन सन्निकृष्ट-विशेषणतारूप-प्रत्यासत्यभावेऽपि तेजोऽभावस्य तमोरूपमायाबलादेव भानसम्भवात् च. भूतले पिशाचात्यन्ताभावो, जलपरमाणौ पृथिवीत्वाभावश्च, अयोग्यत्वादेव न गृह्यते. स्तम्भे पिशाचभेदस्तु स्वरूपात्मा वा पृथक्त्वात्मा वा इति तद्ग्राहकसामग्र्यैव गृह्यते. नच * द्विष्ठगुणप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात् न एवम् * इति शङ्क्यं, पृथक्त्वभिन्नत्वस्य तत्र विशेषणीयत्वात्. अन्यथा तत्प्रतीतिबाधापत्तेः. नच इष्टापत्तिः, अनुभवविरोधात्. नच * भिन्नत्वस्य [पा.भे.१५] विशेषणत्वे सिद्धं भेदेन * इति वाच्यं, भेद-प्रतियोगिक-भेदवत् पृथक्त्व-प्रतियोगिक-पृथक्त्वाङ्गीकारेण अतिरेकेऽपि अदोषात्. नच * सन्निकर्ष-कल्पनम् अप्रामाणिकम् * इति वाच्यम्, अनुभवविरोधाद्, ''इदानीं घटः — प्राच्यां घटः'' इत्यादिप्रतीतिषु विशेषणीभूतयोः कालदिशोः विशेषणतयैव भानदर्शनात्, शास्त्रदीपिकायामपि तथा अङ्गीकारात्. नच * तयोः संयोगेनैव भानम् * इति वाच्यं, तस्य सदातनत्वेन तयोः सदा भानापत्तेः. नच * अयोग्यत्वात् न दोषः * इति वाच्यं, तस्य विशेषणत्वदशायामपि तुल्यत्वात्. नच * संयुक्तसंयोगेन तमोभानम् * इति वाच्यं [१] संयुक्तसंयोगस्य प्रत्यासत्तित्वं, [पा.भे.१६] [२] अनुपलब्धेः करणत्वम्, [३] अभावस्य असन्निकृष्टस्य भानम्, इति कल्पनात्रयगौरवात्. नच * कल्पनातौल्यम्! * इति वाच्यं, मानान्तरकल्पनायाः अप्रामाणिकत्वात्. प्रत्यक्षसूत्रीय-'सत्संप्रयोग'(जेमि.सू.१।१।४)-पदे कर्मधारयाश्रयणेऽपि अविरोधात्. 'सन्निक-र्षा'निरुक्त्या करणत्वस्य अशक्यवचनत्वाद्, असन्निकृष्टस्य मानान्तरेण उपलम्भाङ्गीकारे विप्रकृष्टदैशिकाभावग्रहापत्तेः च.

* अथ योग्यताज्ञापके तर्के अधिकरणप्रत्यक्षस्यापि सहकारित्वात् न दोषः * इति चेत्, न, अभावज्ञानस्य अनुपलब्ध्यधीनत्वेन, अनुपलब्धि-योग्यता-ज्ञानस्य उक्ततर्काधीनत्वेन, तर्कस्यच अभावसंसृष्टाधिकरण-प्रत्यक्षाधीनत्वेन अभावज्ञानाधीनत्वात् च चक्रकापत्तेश्च. नच * योग्यतायाः अज्ञातायाएव

१. आलोक-संयोग-रूप-सहकारि-विघटनेन तथात्वाद् इति अर्थः (अ).

उपयोगः * इति वाच्यं, तर्कोपन्यासवैयर्थ्यापत्तेः. तज्ज्ञानार्थमेव तदुपन्यासाद्, अन्धकारेऽपि तद्ग्रहापत्तेः च. नच * तत्र योग्यता नास्त्येव * इति वाच्यं, हस्तेन तज्ज्ञानात्. अतो "हस्ताभ्यां घटाभावं जानामि — चक्षुषातु न पश्यामि" इति अनुव्यवसायाद् ऐन्द्रियकमेव घटाभावज्ञानम्. नच * इन्द्रियाणाम् अधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वं शङ्क्यम्, अधिकरणज्ञानोत्तरं नेत्रनिमीलनेऽपि योग्यानुपलब्ध्या घटाभावग्रहापत्तेः. नच * फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वानुरोधेन तत्कारणस्य प्रत्यक्षत्वं न युक्तिसहं, "दशमस्त्वमसि" इत्यादि-वाक्यजन्य-प्रत्यक्षस्थले व्यभिचाराद् * इति वाच्यं, तदसङ्गतत्वस्य शब्दपरिच्छेदएव उपपादितत्वात्. वृत्तिवैजात्यस्य प्रमाणवैजात्योपपादकत्वे, फलवैजात्यस्य तदनियतत्वाद् आकस्मिकत्वापत्तेः. वृत्तिनियतत्वाङ्गीकारेण समर्थनेतु फलस्य वृत्तिनियतत्वेन, वृतेश्च प्रमाणनियतत्वेन, फलाद् वृत्तित्वद्वारा प्रमाणनिर्णयस्य अनपनोद्यत्वात्. उक्तवाक्याद् "दशमोऽहम्" इति प्रत्यक्षोत्तरम् "आत्मानं दशमं पश्यामि" इति 'जानामि' इति शब्दात्, 'प्रत्येमि' इति वा विशेषवृत्त्युदये, यत्नं विनापि प्रमाणनिर्णयात्. शब्दे चक्षुरादिसहकारित्वस्य परोक्षवृत्तिजनकत्वस्य च निश्चयेन, शब्दात् प्रत्यक्षस्य सर्वथा अनुपपन्नत्वात् च. अतो वृत्त्यनुरोधेनापि कारणम् इन्द्रियमेव. यत् पुनः मध्याह्ने प्रतियोग्यस्मरणात् प्रातःकालीन-माथुराभाव-ज्ञानं शास्त्रदीपिकायाम् उक्तं, तदपि न युक्तिसहं, प्रातः प्रतियोगिनो बुद्ध्यनारूढत्वेन स्मरणाभावस्य ध्वंसरूपतायाः अशक्यवचनत्वात्. प्रागभावात्य-न्ताभावरूपत्वे प्रश्नात् प्रागपि तत्सत्त्वेन तदापि तदभावज्ञानप्रसङ्गाद्, भेदरूपत्वेऽपि तथात्वात् च, अभावत्वेन संसर्गाभावत्वादिना च तत्कारणतायाः दुर्घटत्वात् सहकार्यन्तरापेक्षयाम् उक्तदोषप्रसङ्गात् च. अतः प्रश्नेन प्रातःकालीनसंसर्गशाब्दे जाते तस्य बुद्धौ आरोहे विरोधसंसर्गेण अभावज्ञानं मानसं, मायाद्वारकं वा मानसम्-इति, न तेन स्मरणाभावस्य कारणत्वसिद्धिः. एतेनैव सहकारित्वमपि दत्तोत्तरम्. तस्माद् अभावज्ञानम् अभाव[पा.भे.१७] योग्यतया साधितम् ऐन्द्रियकमेव इति निश्चयः. इति अभाववादः.

सांख्यमतानुसारेण वृत्तिसामान्यस्वरूपनिरूपणं तत्र मायावादि-नैयायिकयोः च विप्रतिपत्तेः विमर्शः :

प्रकृतम् अनुसरामः : उक्तसन्निकर्षजन्यमपि सविकल्पकं ज्ञानं

चाक्षुषादिभेदेन बुद्धिवृत्त्या जन्यतइति वृत्तिः विचार्यते.

तत्र, नेत्रनिमीलने कृते बहिर्दृष्टपदार्थस्येव कश्चिद् आकारो नेत्रान्तर् भासते. स आकारो न बाह्यवस्तुनः, आश्रयम् अतिहाय तत्र तस्य अशक्यवचनत्वात्. अतः स आन्तरस्यैव कस्यचन भवितुम् अर्हतीति तदाश्रयत्वेन सांख्यैः आहंकारिकं तत्त्वान्तरं 'वृत्ति' नामकं कल्प्यते.

यथाहि प्रवचनसूत्रद्वयं :—

"प्रमार्थप्रकाशलिङ्गाद्[टि.१] वृत्तिसिद्धिः" (सां.प्र.सू.५।१०६) "भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः..." (सां.प्र.सू.५।१०७) इति. अर्थस्तु : 'प्रमा' पूर्वोक्तरीतिकम्-आकारज्ञानं, तत्सहितो यो 'अर्थप्रकाशो' विषयज्ञानं, एवम् उभयविधाद् 'लिङ्गाद्' ('वृत्तिसिद्धिः') वृत्तिसत्तानिश्चयः. यदि वृत्तिः न स्याद् उक्तः आकारो न प्रतीयेत अतैजसत्वाद्, अचलं चक्षुः विप्रकृष्टं विषयम् अप्राप्नुवत् तत्प्रकाशनं न कुर्यात्, जायतेच तद् उभयम् अतः सा अस्ति इति निश्चयः. एवं 'भागो' विभागो अहंकाराद् विभज्य विषयदेशावधिगमनं, 'गुणः' उक्ताकारः, 'ताभ्यां' कृत्वा आहंकारिकं "तत्त्वान्तरं वृत्तिः" इति. अभियुक्तोक्तिश्च "वृत्तयः प्रसरद्रूपा स्फारिताक्षस्य यत्र च अदृष्टानुग्रहात् तत्तत्-(तत्र)सम्बन्धार्थावबोधिका" ( ).

(द्रष्ट. : सां.प्र.वृ.सार.५।१०७) इति.

अमूर्तायाः तस्याः कथं क्रिया इत्यतः तृतीयं सूत्रं :—

"न द्रव्यनियमः तद्योगाद्" (सां.प्र.सू.५।१०८) इति. अनियतत्वात् पदार्थानां 'न द्रव्य'एव क्रिया 'नियमः' किन्तु यत्र यत् प्रमाणतः सिध्यति तत्र तद् अनुमन्यामहे; अतो,

१. "प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गाद्" इति सर्वत्र उपलभ्यमानः पाठः (भ्या).

दूरस्थवस्तुनः आकारग्रहणदर्शनात् सापि क्रियावती इति अर्थः.

इति (तत्रैव).

एवं **मायावादिनोऽपि** * अन्तःकरणविशिष्टस्य चैतन्यस्य प्रमातृत्वम् अङ्गीकृत्य तस्मिन् ज्ञानसूक्ष्मावस्थारूपं विषयसंस्कारम् आधातुं विषयेन्द्रिय-सन्निकर्ष-सामर्थ्य-जन्याम् अन्तःकरणपरिणामरूपां वृत्तिम् * **अङ्गीकुर्वन्ति.**

नैयायिकादयस्तु * नयनकिरणानां निर्गमनेन विषयसन्निकर्षाद् ज्ञानम्. तेनच भावनासंस्काराख्यं गुणान्तरं चरमस्मृतिनाश्यम् आत्मनि अङ्गीकुर्वन्तो वृत्तिपदार्थमेव न * **इच्छन्ति.**

अथ उक्तपक्षयोः आलोचनपूर्वकं स्वमतनिरूपणं च :

ततु नेत्रान्तरनुभवस्य [पा.भे.१८] सार्वजनीनत्वाद् अप्रयोजकमिति वृत्तिः सर्वथा अभ्युपेयैव परन्तु या बुद्धिवृत्तिः "संस्काराधानाद्यर्थं जन्यते" इति उच्यते, सा वृत्तिः बुद्धेः न तत्त्वान्तरं नापि अन्तःकरणपरिणामान्तरं किन्तु बुद्धितत्त्वस्य कालक्षुब्धसत्त्वादिगुणकृतो अवस्थाविशेषएव. नच * तस्य अवस्थाविशेषत्वे निर्गमाभावेन विषयासंसर्गात् तदाकारकत्वं वृत्तेः दुर्घटम् * इति शङ्क्यं, मायागुणस्य रजसः चञ्चलत्वेन विक्षेपकत्वेन च दर्पणे मुखस्येव नेत्रगोलकेऽपि बाह्यविषयाकारसमर्पणे तदाकारकत्वस्य सुघटत्वात्. सएव मायिकः आकारो नयनकिरणेषु नेत्रमुद्रणे प्रत्यावृत्तेषु गोलकान्तर् अनुभूयते. एवमेव इन्द्रियान्तरेऽपि वृत्तिः ज्ञातव्या. यद्यपि सा न अनुभूयते तथापि तादृशसंस्काराधानात् निश्चीयते. "एकादशासन् मनसोहि वृत्तयः आकूतयः पञ्चधियोभिमानः मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां वदन्ति हैकादश वीरभूमिः" (भाग.पुरा..५।११।९) इति जडभरतवाक्यात् च. भूमिषु पञ्चानां ज्ञेयत्वेन विषयत्वं ततः पञ्चानां कार्यत्वेन, पुरस्य स्वकार्यत्वेन ज्ञेयम्. संस्कारस्तु "जातस्य ज्ञानस्य सूक्ष्मावस्था" इति उक्तम्. बुद्धिश्च कर्मज्ञानेन्द्रियानुग्राहिका इति वक्ष्यते. साच वृत्तिद्वारैव अनुगृह्णातीति इन्द्रियजन्यस्य विशिष्टज्ञानस्य नानाभेदाः अतो अवस्थयैव

निर्वाहि सांख्याभिमतस्य अन्तःकरणातिरिक्त-पदार्थान्तरत्वस्य निष्प्रमाणकत्वात्. "कामः संकल्पः" (बृह.उप.१।५।३) इति श्रुतौ 'कामा'दि पदानि शक्तानि 'धी' पदं लाक्षणिकम्" इति मायावादिकल्पनायाअपि वैरूप्यादिदोष-ग्रस्तत्वात् च तद् उभयमपि असङ्गतम्.

अतो बुद्धेः अवस्थाविशेषएव वृत्तिः इति निश्चयः.

ननु इन्द्रियार्थसम्प्रयोगोत्तरं सम्प्रयुक्तार्थाकारसमानो बुद्धौ आकारो जायतइति प्रमा भवतु, भ्रमादिकन्तु न भविष्यति शुक्त्यादौ [पा.भे.१९] तद्विरुद्धस्य रजताद्याकारस्य अभावेन बुद्धौ मायाकृततत्समर्पणायोगाद् अन्यथाख्यातिप्रभृतीनां च अनङ्गीकाराद् इति चेत्, न, स्वभावगुणानुग्रहादेव तस्यापि सिद्धेः, पूर्वोत्पन्नस्य रजताद्याकारकसंस्कारस्य रजसा बहिःक्षेपे, सम्प्रयुक्तार्थाकारस्य तमसा आवरणे च, भ्रमस्य सुखेन वक्तुं शक्यत्वात्. एवं नानाविधाद् गुणक्षोभज-वृत्ति-भेदादेव अन्येऽपि ज्ञानभेदाः उन्नेयाः.

<u>जाग्रदवस्थायां षड्विधेन्द्रियसन्निकर्षमात्रजन्यं ज्ञानं निर्विकल्पकं तदेव संशयादिबुद्धिवृत्त्यनुगृहीतं सत् सविकल्पकं ज्ञानं भवति इति निरूपणम् :</u>

यदा विषयेन्द्रियसंयोगात् निर्विकल्पकं तदा इन्द्रियदेशे बुद्धेः वृत्तिः. तया इन्द्रियानुग्रहे सविकल्पकम्, अननुग्रहेतु न. वृत्त्यन्तरेण पूर्ववृत्तेः नाशे सविकल्पकस्य संस्काररूपेण अवस्थानं, तस्य उद्बोधकैः उद्बोधे मायोपस्थापित-मायिकार्थ-सहकृता स्मृतिः, राजसैः रागादिभिः संस्कारप्राबल्ये मायया विषयाकारावरणपूर्वकं मायिकपदार्थ-सहितस्य ज्ञानस्य [पा.भे.२०] गोलकाग्रभागे क्षेपे भ्रमः, किञ्चिदावरणे संशयः, सत्त्वेन सर्वथावरणभङ्गे विक्षेपस्यापि निवृत्तौ विशेषदर्शनम् इत्यादि.

वृत्तिविषयातु वृत्तिः [पा.भे.२१] न भवतीति अनुभवानुसारेणैव निश्चीयते. नच *वृतीनां गुणजन्यत्वे मानाभावः* शङ्क्यो, "जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः" (भाग.पुरा.११।१३।२७)

इति एकादशे हंसवाक्यात्, संशयादिवृत्तीनां तदवान्तरभेदत्वेन तदनतिरेकात्.

यत्तु "जाग्रद्भोगप्रद-कर्मोद्बोधे जागरणं, तदुपरमे निद्रया स्वप्नसुषुप्ती" इति मतं, तत्रापि कर्मोद्बोधोपरमहेतोः अवश्यवाच्यत्वेन लाघवाद् ईश्वरेच्छानुगृहीतानां परस्परोपमर्दकादिस्वभावानां गुणानामेव अवस्थाहेतुत्वं साधीयः.

तस्माद् बुद्धिगुणजन्या तदवस्था वृत्तिः. सा यदा अनुगृह्णाति तदा वक्ष्यमाणप्रक्रियया सविकल्पकं ज्ञानं जन्यते.

तथाहि :—

"अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरं वाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य पा.भे.२२ हेतवः॥"

(भग.गीता.१८।१४-१५)

इति गीतायां कार्यमात्रं प्रति पञ्च हेतवः उक्ताः. तत्र : 'अधिष्ठानं'=शरीरं, 'कर्ता'=जीवः, 'करणं'=बाह्याभ्यन्तरं, 'चेष्टा'=प्राणादिवायुकर्माणि, 'दैवं'=काल-कर्म-भगवदिच्छादिः.

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" (भग.गीता.१८।६१) इति वाक्याद् अन्तर्यामी वा[टि.१] 'दैव' पदवाच्यो "देवानां समूहो दैवम्"इति तत्तदिन्द्रियाधिष्ठातारो वा. एवं सति ज्ञानजनक-मनःसंयोगादि-हेतुभूत-क्रियायामपि एतान्येव कारणानि.

तत्र अयं क्रमो : दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मनः तत्तत्कार्यार्थं प्रेर्यते,

१. 'वा' शब्दो वाक्यालङ्कारे (अ).

तत् च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण संसृज्यते. तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयसंसृष्टैः इन्द्रियैः स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते. तदा इन्द्रियदेशे बुद्धेः वृत्तिः. ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पकं भवति.

चाक्षुषेतु नयनकिरणाः विषयपर्यन्तं गच्छन्ति, इन्द्रियान्तरेतु किरणाभावाद् इन्द्रियेण सह विषयं मनः प्राप्नोति तदा, क्रमेण सहैव वा, निर्विकल्पकं सविकल्पकं च तत्तदिन्द्रियसंसृष्टे मनसि उत्पद्यते. ज्ञानद्वयेऽपि विषयेन्द्रियस्पर्शादिकं व्यापारः.

नच[पा.भे.२३] * नयनानां किरणाङ्गीकारे चक्षुषो व्यापकत्वापत्त्या "अणवश्च" (ब्र.सू.२।४।७) इति सूत्रविरोधः * शङ्कनीयः, अर्चीरूपाणां किरणानां सूर्यमण्डलाद् भेदस्य "आदित्यो वा एषः" (महाना.उप.१२।२) इति अनुवाके श्रावणात्. तैः अखिलमेरूत्तरदेशान् व्याप्नुवानस्य आदित्यमण्डलस्य दश-सहस्र-योजन-परिमाण-स्मरणेन तेषां तत्परिमाणाबाधकत्ववत् सूर्याध्यात्मिकचक्षुषः किरणानामपि तथात्वेन सूत्राविरोधात्. यद्वा "तथा प्राणः"(ब्र.सू.२।४।१) इत्यत्र प्राणेषु जीवातिदेशस्य सिद्धान्ते अङ्गीकारात् सर्वशरीरे जीवस्येव सामर्थ्याद् वा गुणाद् वा व्याप्तिवत् तेषामपि देवतासामर्थ्याद् वा गुणाद् वा व्याप्त्यङ्गीकारस्य वक्तव्यत्वात् "गुणाद्वालोकवद्" (ब्र.सू.२।३।२५) इति सूत्रे आलोकस्य गुणत्वाङ्गीकारात् तैजसस्य चक्षुषः आलोक-रूप-गुण-व्याप्त्यङ्गीकारेऽपि अदोषः. एवमपि सूत्राविरोधः चाक्षुष-रूप-कार्य-सिद्ध्योः सम्भवात्. अतएव त्वचः सकल-शरीर-व्यापित्वमपि देवता-सामर्थ्य-स्पर्श-गुणाभ्यां युज्यते. अन्यथातु सूत्रविरोध-सार्वत्रिक-स्पर्शानुभव-बाधयोः अन्यतरद् आपद्येतैव. तस्मात् नयन-किरण-गमन-द्वारिकैव प्रत्यक्षप्रक्रिया साधीयसी.

या पुनः * आलोकेन मायाकार्य-तमो-जनन-प्रतिबन्धे कृते, ज्योती-रूप-सूर्य-देवतया अण्वात्मकचक्षुषि सन्मुखाव्यवहित-देशस्थ-पृथुबुध्नोदराकारे विशिष्टरूपे प्रापिते सत्त्वप्रधानबुद्धेः अन्तरेव तदाकारतासम्पत्तौ

अणुरूपं जीवं प्रति ज्ञानाश्रिताध्यात्मिक-घटाभिव्यक्तिरेव चाक्षुषं, दूरस्थगन्धशब्दयोस्तु वायुना घ्राण-श्रोत्र-समीप-प्रापणे अन्तःसत्त्वात्मकबुद्धेः तदाकारतासम्पत्तौ ज्ञानाश्रिताध्यात्मिक-गन्धशब्दाभिव्यक्तिरेव घ्राणजं श्रावणं च, प्रत्यक्षमिति आध्यात्मिकाधिभौतिकयोः अभेदात् न बाह्यघटाग्रहणनिबन्धनो दोषः * इति केषाञ्चित् प्रत्यक्षप्रक्रिया.

तत्र आलोकेन तमोजनन-प्रतिबन्ध-कथनम् अयुक्तं, "यथाहि भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद्" (भाग.पुरा..११।२८।३४) इति एकादशस्कन्धीय-भगवद्-वाक्ये तमोनिहन्तृत्वकथनात्. एवं ज्योतीरूप-सूर्यदेवतायाः पुरुषचक्षुषि विषयनिष्ठ-रूपप्रापकत्व-कथनमपि तथा, बहुषु पश्यत्सु तान्-तान् प्रति रूपे प्रापिते विषयस्य नीरूपताप्रसङ्गेन पाश्चात्यानां तददर्शनप्रसङ्गात्, तद्दर्शनार्थं तस्मिन् विषये पुना रूपान्तरोत्पादनानयनादिरूपाप्रामाणिक-कल्पना-प्रसङ्गात् च, सन्ध्यायाम् अस्तंगते सूर्य रूपप्रापकदेवतायाः गतत्वात् तदानीं घटाद्यदर्शनापत्तेश्च.

नच *"निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च" (ब्र.सू.४।२।१९) इति सूत्रे "अथ या एता हृदयस्य नाड्यः" (छान्दो.उप.८।६।१) इति नाड़ीः उपक्रम्य "अमुष्माद् आदित्यात् प्रतीयन्ते ता आसु नाडीषु सुप्ता आभ्यो नाडीभ्यो प्रतीयन्ते ते अमुष्मिन् आदित्ये सुप्ता" (छान्दो.उप.८।६।२) इति दहरविद्यास्थश्रुत्या रात्रावपि आदित्यरश्मिसम्बन्धस्य उक्तत्वात् तदानीं सन्ध्यायाञ्च नाडीसृप्तरश्मिभिः विषयरूपप्रापणात् न घटाद्यदर्शनप्रसङ्गः * इति वाच्यं, नाडीसृप्तरश्मिनां हृदयाग्रप्रद्योतन-जीवोत्क्रमण-मात्र-कार्यार्थतायाएव श्रावणेन तद्रश्मीनां रूपप्रापकतायाः वक्तुम् अशक्यत्वात्. तदानीमपि रूपप्रापकत्वाङ्गीकारे तदानीं नश्यत्वाद्[पा.भे.२४] अस्तमिते आदित्ये "किञ्ज्योतिः अयं पुरुषः" (बृह.उप.४।३।२) इत्यादिज्योतिर्ब्राह्मणविरोधस्य प्रत्यक्षविरोधस्य च दुष्परिहरत्वात्. अतो "नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः"(भाग.पुरा.३।२६।३७)इतिवद् आदित्यादिरश्मीनां रूपप्रापकत्वस्य अशब्दगोचरत्वात् सूर्यरूपदेवतायाः रूपप्रापकत्वाङ्गीकारः सर्वथा न युक्तः.

किञ्च चक्षुषि रूपप्राप्तिश्च प्रतिबिम्बभवनरूपैव, सातु मायया "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत" (भाग.पुरा..२।९।३३) इति वाक्यात्, तस्याः विक्षेपकत्वात् च.

एवञ्च बुद्ध्याकारसमर्पकत्वमपि [पा.भे.२५] प्रतिबिम्बस्यैव. आध्यात्मिकरूपमपि मायामयं मनोमयत्वात्. तस्यच न सत्यता — अर्थक्रियाकारित्वमात्रम्. परम् आधिदैविकन्तु शब्दैकनिष्ठं भगवदात्मकं तत् सत्यमेव. आधिभौतिकन्तु प्रपञ्चात्मकम्. तस्यतु कार्यरूपत्वेऽपि कारणरूपेणैव सत्यत्वं, नतु स्वेन रूपेण, विकाराणां वाचारब्धत्वात् सदसद्ग्रन्थिरूपत्वात् च; तदेव च लौकिकव्यवहारविषयः.

सविकल्पकज्ञानजन्य-हानोपादानोपेक्षाबुद्धिस्वरूपाणि :

तत्र सविकल्पकं प्रमेयानन्त्याद् अनन्तविधं भवति. तत्रापि कारणान्तरसमवधानेन संशय-विपर्यास-निश्चय-स्मृति-भेदाः जाग्रति भवन्ति, यथासम्भवं स्वप्नेऽपि ते.

सविकल्पक-जन्य-हानोपादान-बुद्धौतु विशेषः :

"इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदाद्" (भाग.पुरा.४।२२।३०)इति वाक्याद् विषयैः इन्द्रियाकर्षः. ततः तैः मनसः, तच्च अशुद्धमिति तत्र कामोत्पत्तौ उपादानबुद्धिः, तादृशे मनसि द्वेषोत्पत्तौतु हानबुद्धिः. नच इदम् अप्रयोजकं कामिनी कुचकुम्भदर्शनादौ चक्षुषः, शीतादिकालेषु उष्मादिना त्वचो, रागादियुक्तगीतेन श्रवणस्य, चन्दनादिगन्धेन घ्राणस्य, भक्षितस्यापि दध्यादेः पुनः आस्वादनेन रसनस्य, तैश्च मनसः आकर्षस्य अनुभवसिद्धत्वात्.

मनसश्च [पा.भे.२६] रूपद्वयं : बाह्यम् आन्तरं च इति तृतीयस्कन्धे तत्त्वस्तुतौ "पराहतान्तर्मनसः" (भाग.पुरा.३।५।४४) इत्यस्य सुबोधिन्यां स्थितम्.

तत्र आन्तरं येन विषयेण इन्द्रियद्वारा कृष्यते तद्विषयिणी हानोपादानबुद्धिः भवति, येनतु न आकृष्यते तद्विषयिणी उपेक्षाबुद्धिरिति युगपत् नानाबुद्धिसत्त्वम्. नच * तत्र वेगाद् यौगपद्याभिमानएव * इति वाच्यम् ऐकाग्र्यदशायां पुस्तकदर्शने युगपत् नानाक्षरापेक्षाज्ञानस्थले वेगाङ्गीकारस्य अनुभवविरुद्धत्वाद्. अतो रूपद्वयमेव युक्तम् इति. यदा मनसो अनाकर्षः तदा उपेक्षाबुद्धिः. अतएव तस्याः न स्थिरत्वम्, अभ्यासाद्यभावात्.

स्वसिद्धान्ताभिमतसविकल्पकज्ञानजननप्रणाडी :

इदञ्च सर्वं ज्ञानम्, अन्तःकरणाद्यध्यासाद्, जीवात्मा स्वस्मिन् अभिमन्यतइति अस्य ज्ञानस्य लौकिकानाम् आत्मधर्मत्वप्रवादः इति. अन्तःकरणाध्यासस्तु, हृदयदेशे जीवस्य अन्तःकरणानां च स्थितत्वात्, तेषु तत्प्रतिबिम्बः; तस्य प्रतिबिम्बस्य इन्द्रियेषु प्रतिबिम्बान्तरे इन्द्रियाध्यासः, तस्य देहे प्रतिबिम्बे देहाध्यासश्च भवति. प्रतिबिम्बश्च तत्प्रकाशस्य तेषु संक्रमेण भवति सूर्यस्येव, नतु मुखस्येव सन्निधिमात्रेण, इति निर्णीतं "यथा जलस्थ आभास"(भाग.पुरा. ३।२७।१२) इत्यत्र तृतीयस्य सप्तविंशे अध्याये.

स्वप्नात्मिकायाः बुद्धिवृत्तेः स्वरूपम् :

एवञ्च पूर्वकृतस्य प्रारब्धकर्मणः पक्वस्य जाग्रति फलभोगो भोगे [पा.भे.२७] क्रियमाणे आहारश्रमादिभिः यदा निद्रा भवति, तदा 'स्वापः' - स्वप्नवृत्तिः. तत्र अयं हृदयदेशात् निःसृत्य 'हिता'भिधानासु शुक्ल-नील-हरित-लोहित-पीत-रसभृतासु केशसहस्रभागवद् अण्वीषु नाडीषु द्वासप्तति-सहस्र-संख्याकासु तस्यान्तस्याञ्चिद् [पा.भे.२८] ईश्वरेच्छादिवशेन अन्तर्बहिःकरणानि आदाय परिवर्तते, तदा चैतन्यसङ्कोचनेन बहिरिन्द्रियेषु मनसि च प्रकाशासंक्रमात् प्रतिबिम्बो न भवति, बुद्ध्यहंकारयोरेवतु भवति, तदा बुद्धिसहितो अहंकाराध्यासेन स्वाप्नं सुखदुःखादि भुङ्क्ते. तत्र प्रकाशो भगवतो, विषयश्च मायिको, भोगे बुद्धिः करणं, भोगश्च अहंकारे. यदा पुनः निद्रायां तमसः उद्रेकः ईश्वरेच्छादिवशात्, तदा अयं तैः सर्वैः सह पुरीतति प्रविशति. पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डो हृदयं, तद्वेष्टिताः नाड्यः 'पुरीतत्'—शब्देन उच्यन्ते. तदा

सुषुप्तिः. कदाचिद् भगवदिच्छया तस्य हृदयस्य अन्तर्, यः 'आकाश' शब्दवाच्यः परमात्मा, तत्र सम्पद्य शेते. द्विविधायामपि सुषुप्तौ कर्मासंसर्गाद् दुःखाभावः. द्वितीयस्यां परमानन्दः इति विशेषः. ततः पुनः भगवदिच्छादिवशेन परमात्मनः सकाशात् सर्वेषां प्राणादीनाम् आत्मान्तानां व्युच्चरणं ततो जागरणे स्वस्थानस्थितिः पूर्वोक्तरीत्या तत्तदनुभवादिः च इति.

सविकल्पकज्ञानजनने नैयायिकाभिमत-संयोगसम्बन्ध-घटित-प्रणाडी-विमर्शः :

नैयायिकास्तु * "आत्मा मनसा संयुज्यते, मनः इन्द्रियेण, इन्द्रियम् अर्थेन, इतिक्रमेण आत्मन्येव ज्ञानम् उत्पद्यते" इति आत्मधर्मत्वं जन्यज्ञानस्य * आहुः.

तत्तु श्रुतिविरोधादेव अपास्तं, विभोः निरवयवस्य आत्मनः संयोगं प्रति कर्तृत्वायोगात् च. नच * अन्यतरकर्मजएव संयोगः तत्र अस्तु * इति वाच्यं, मनसएव कर्तृत्वापातात्, तस्यैव क्रियाश्रयत्वाद्, जीवे गुणाधीनत्वेन कर्तृत्वायोगाद् इति.

उक्तविषये मायावादाभिमत-प्रतिबिम्ब-प्रणाडी-विमर्शः :

मायावादिनस्तु * ब्रह्मात्मकम् एकमेव ज्ञानं स्वीकृत्य बुद्धौ तस्य प्रतिबिम्बं, तस्यैव व्यावहारिकज्ञानत्वं च अङ्गीकृत्य, चिदुपरागावरणभङ्गाभेदाभिव्यक्तिपक्षान् जीवस्य किञ्चिज्ज्ञत्वाय * आहुः.

तदपि असङ्गतं, प्रतिबिम्बस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्, ब्रह्मणो नीरूपत्वात्, बुद्धेश्च अस्वच्छत्वात्. दर्पणवत् किञ्चिद्देशावच्छिन्नस्वच्छत्वम् अङ्गीकृत्य आकाशस्येव ब्रह्मणः प्रतिबिम्बाङ्गीकारेऽपि ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपत्वेन सदानन्दयोरपि प्रतिबिम्बापातात्. नच इष्टापत्तिः, ज्ञानवत् तयोरपि भानापत्तेः, सर्वदा सर्वेषाम् अन्तःशरीरस्थ-सर्वज्ञानापत्तेः च; प्रतिबिम्बाधारत्वयोग्यायां बुद्धौ ज्ञानस्येव आन्तराणां नाड्यादीनां सन्निहितत्वेन तत्प्रतिबिम्बेऽपि

बाधकाभावात्. किञ्च अविद्यायां ब्रह्मप्रतिबिम्बभूतानां जीवानां व्यापकतया स्वतः सर्वपदार्थसंसृष्टत्वाद् बाधकाभावेन [पा.भे.२९] अविद्यायामपि सर्वप्रतिबिम्बसम्भवेन तत्तत्संसर्गे द्विगुणीकृत्य जाते सर्वतादात्म्यापन्नस्य ब्रह्मण[टि.१]इव तेषामपि सर्वसंसृष्टत्वात् साक्षित्वात् च वृत्तिं विनैव स्वरूपचैतन्येन सर्वावभासकतायाः शक्यवचनत्वेन ब्रह्मवत् सर्वेषां सर्वज्ञता स्यात्[टि.२]. नच *अन्तःकरणभेदेन प्रमातृभेदात् तदनापत्तिः[टि.३], व्यापकत्वेन सर्वेषां सर्वान्तःकरणसंसृष्टतया प्रमातृभेदस्यापि अकिञ्चित्करत्वात्. संसर्गतौल्ये एकस्यैव एकान्तःकरणवैशिष्ट्यं [पा.भे.३०] न अपरस्य इत्यत्र हेत्वभावात्. अदृष्टादीनां[टि.४] हेतुताकल्पनस्यापि अनेनैव न्यायेन निरसितुं शक्यत्वात्.

ननु दूषणग्रासात् मा अस्तु व्यापकानेकजीववादः किन्तु व्यापकैकजीववादो अस्तु. तथाच तस्य सर्वज्ञतायाम इष्टापत्तिः इति चेत्, सत्यम् इष्टापत्तिः स्याद् यदि एकत्रैव सर्वज्ञता स्यात् नच एवम्, अविशेषण एकस्यैव सर्वशरीराधिष्ठाने[टि.५] सर्वत्र अविद्योपहितस्य साक्षिणः एकत्वात् सर्वत्र उपाधौ सर्वप्रतिबिम्बेषु संसृष्टत्वात् च, ब्रह्मणइव जीवस्यापि सर्वेषु प्रतिबिम्बेषु सर्वज्ञतायां बाधकाभावात्. नच *ब्रह्मापि एकत्रैव सर्वज्ञं न सर्वत्र* इति वाच्यं, ब्रह्मविष्णुशिवादि-शरीरावच्छेदेन सर्वज्ञताप्रतिपादकशास्त्रविरोधापातात्. नच *अविद्योपाधौ सर्वप्रतिबिम्बेऽपि अन्तःकरणभेदेन प्रमातृभेदात् तन्निकटस्थस्यैव ज्ञानं प्रमातुः भविष्यतीति न सर्वत्र सार्वज्ञ्यापत्तिः* इति वाच्यं, प्रमात्रभेदे [पा.भे.३१] करणभेदस्येव साक्ष्यभेदे प्रमातृभेदस्यापि अप्रयोजकत्वात्, सर्वत्र साक्षिणएव भासकत्वात्. नच *तस्य अविद्योपहितरूपेण न साक्षित्वं किन्तु अन्तःकरणोपहितरूपेण, तथाच रूपभेदेन साक्षिभेदात् न सार्वज्ञ्यापत्तिः* इति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वात्. तथासत्यपि हृदयनाडीप्रभृतीनाम् आन्तराणां अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितानां ज्ञानन्तु अस्य

१. ईश्वरस्य इति अर्थः (अ). २. ईश्वरप्रतिबिम्बत्वपक्षेऽपि बिम्बस्य सर्वतादात्म्यापन्नत्वेन बिम्बधर्माणामेव प्रतिबिम्बे भानेन प्रकाशक-प्रतिबिम्बत्वात् प्रकाशकत्वेन च स्वरूपचैतन्येनैव सर्वावभासकत्व-सम्भवाद् वृत्तिवैयर्थ्यं तेन चिदुपरागादि-पक्षत्रयमपि असङ्गतम् इति भावः (क ग). ३. तथाच करणभेदेन तावज्ज्ञानवत्प्रमातृभेदेन तावन्मात्रज्ञानम् इति भावः (अ क ग). ४. अभिमानभेदात् न सवेषां सर्ववैशिष्ट्यमित्यतः आह (अ ग). ५. सर्वशरीराभिमानित्वे इति अर्थः (अ ग).

निर्बाधमिति आन्तरसर्वज्ञतायाः दुर्वारत्वात्. *ननु सर्वेषां प्रतिबिम्बो न अस्माभिः अङ्गीक्रियते* इति चेत्, मा एवं, यद् अयं न स्वीक्रियते, कः तत्र हेतुः? न तावद् असन्निधिः, अविद्यायाः व्यापकत्वात्. नापि बिम्बालोकसंयोगाभावः, सूर्यादिः विद्यमानत्वाद्, अन्तःकरणस्थलेऽपि अन्तःकरणस्य अन्तःसन्निहितत्वाद्[पा.भे.३२], अन्तर्गृहगतदर्पणप्रतिबिम्बित-सूर्यप्रकाशेन आन्तरवस्तूनां प्रतिबिम्बदर्शनाद्, इहापि जीवचैतन्य-प्रकाशितान्तःकरण-संसृष्टे आन्तरबिम्बे आलोकान्तर-संयोगानपेक्षणात्. जीवचै-तन्येन आन्तरप्रकाशानङ्गीकारे साक्षात् संसृष्टान्तःकरण-तद्धर्मादीनामपि अनवभासप्रसङ्गात्. मतेच तदवभासे तद्वदेव तत्संसृष्टानामपि अवभासाद् अहंकारादिवद् हृदयनाडीप्रभृतीन्यपि अनुसन्धीयेरन्, संस्काराधायकस्य अवभासस्य तुल्यत्वात्. अथ एकप्रतिबिम्बावरुद्धे दर्पणादौ अन्यस्य प्रतिबिम्बादर्शनाद् व्यापकजीवावरुद्धे अविद्यादौ इतरेषां[टि.१] प्रतिबिम्बो न भविष्यतीति अत्ररोधएव प्रतिबिम्बाभावे हेतुः इति विभाव्यते, तदपि असङ्गतम् एकप्रतिबिम्बावरुद्धे अन्यप्रतिबिम्बः तदा न भवति यदा बिम्बान्तरं पूर्वबिम्बव्यवधेयं भवति इहतु ब्रह्मणो व्यापकत्वेन परिच्छिन्नानां सर्वेषां ब्रह्मान्तर्वर्तित्वेन तद्व्यवधेयत्वाभावात् न जीवेन तत्प्रतिबिम्बावरोधइति दुर्वारएव सर्वेषां प्रतिबिम्बः इति. *ननु[टि.२] भवतु सर्वेषां प्रतिबिम्बः तथापि न जीवस्य सर्वज्ञतापत्तिः भवित्री, जीवसाक्षिवादस्य अनङ्गीकारात्. तथा सति कूटस्थचैतन्यं[टि.३] वा जीवाभिन्नं सर्वप्रत्यग्भूतं शुद्धं ब्रह्मैव वा परमेश्वरस्यैव रूपान्तरं वा साक्षी भविष्यति तस्यतु सर्वज्ञत्वेऽपि अदोषः. जीवस्तु[टि.४], यथा सर्वगतं गोत्वसामान्यं स्वभावाद् अश्वादिसंगित्वाभावेऽपि सास्नादिमद्व्यक्तौ संसृज्यते, तथा विषयादौ सन्नपि जीवस्वभावाद् अन्तःकरणएव संसृज्यते. यदाच अन्तःकरणपरिणामो वृत्तिरूपो नयनद्वारेण निर्गत्य चक्षूरश्मिवद् झटिति

१. हृदयनाड्यादीनाम् इति अर्थः(अ). २. कूटस्थदीपादिमतानुसारेण पुनः प्रत्यवतिष्ठते 'ननु' इत्यादि. देहद्वयाधिष्ठानभूतं कूटस्थचैतन्यं स्वावच्छेदकस्य देहद्वयस्य साक्षाद् ईक्षणात् साक्षी. अयं न ब्रह्मकोटिः किन्तु अस्पष्टजीवेश्वरविभागं चैतन्यम् इति कूटस्थदीपे तत्त्वदीपिकायां सर्वप्रत्यग्भूतं विशुद्धं ब्रह्म जीवाभेदेन 'साक्षी' इति उक्तम्. कौमुद्यान्तु परमेश्वरस्यैव रूपभेदो जीवप्रवृत्तिनिवृत्त्योः अनुमन्ता स्वयम् उदासीनः साक्षी इति(अ ग). ३. वृत्त्यवभासकं निर्विकारं चैतन्यं कूटस्थचैतन्यम्(अ ग). ४. इदं विवरणानुसारिणां मतम् (अ ग).

दीर्घप्रभाकारेण परिणम्य विषयं प्राप्नोति, तदा तम् उपारुह्य जीवः तं विषयं गोचरयति. केवलाग्न्यदाह्यस्य तृणादेः अयःपिण्ड-समारूढाग्नि-दाह्यत्ववत् केवलजीवचैतन्याप्रकाश्यस्यापि घटादेः अन्तःकरण-वृत्त्युपारूढ-तत्प्रकाश्यत्वं युक्तमिति चिदुपरागार्थत्वेन वृत्तिनिर्गमम् अपेक्ष्य वृत्तिसंसृष्टविषय-मात्रावभासकत्वात् तस्य किञ्चिज्ज्ञत्वम् उपपत्स्यते* इति चेत्, मा एवं, एवं स्वभाववादेन समाधानेऽपि जीवस्य प्रकाशप्रतिबिम्बत्वाद् अवच्छिन्नत्वे च ज्ञानरूपत्वात् स्वप्ने 'स्वयञ्ज्योतिष्ट्व'(बृह.उप.४।३।९)प्रतिपादनात् च प्रकाशरूपत्वेन स्वप्नइव परोक्षवृत्ताविव च पूर्वपूर्वानादि-संस्कारवशादेव इन्द्रियं विनैव वृत्त्युपपत्तेः ज्ञानेन्द्रियाणि वृथैव स्युः.

किञ्च अयःपिण्डसमारोहेण दाहकस्य अग्नेः साक्षात्संसृष्ट-दाहकत्व-दर्शनाद् वृत्त्युपारोहेण प्रकाशकस्य जीवस्य साक्षाद् अन्तःकरण-संसृष्ट-प्रकाशकत्वं सुतरां सुवचमिति अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितानां प्रकाशो अस्य स्यादेवेति अधिकं तत्र अनुप्रविशेत्.

वस्तुतस्तु एवमपि गोत्वस्य सकलगोव्यक्तिष्विव एकस्यैव जीवस्य सर्वान्तःकरणसंसर्गस्य वक्तव्यत्वात्. तथा सति तत्तदन्तःकरणवृत्तिनिर्गमेण तत्तद्विषयप्राप्तौ तत्तद्वृत्त्युपारूढस्य जीवस्यापि तत्तद्विषयोपरागसम्भवात्, सर्ववृत्तिसंसृष्टविषयाणां गोचरीकरणे बाधकाभावेन किञ्चिज्ज्ञत्वस्य अनुपपन्न-त्वमेव. अतो विषयविषयिभावो वा, विषयसन्निहित-जीवचैतन्य-तादात्म्या-पन्न-वृत्तिविषय-संयोगद्वारको जीवविषययोः परम्परासम्बन्धो वा, अन्तःकरणवृ-त्त्युपादनस्य जीवस्य वृत्ति-विषय-संयोग-जनितः कार्याकार्यसंयोगात् कारणाकार-णसंयोगात्मा[गा.भे.३३] साक्षात् संयोगो वा अन्तःकरणोपहितस्य विषयावभासकचैत-न्यस्य विषय-तादात्म्यापन्न-ब्रह्म[टि.१]चैतन्याभेदाभिव्यक्तिद्वारा विषय-तादात्म्य-सम्पादनं वा, अन्यद् वा यत्किञ्चन चिदुपरागत्वेन अभिधित्सितं तस्य सर्वस्य वृत्तिसंसर्गजनितत्वेन वृत्तिजनकानां च अन्तःकरणानां सर्वशरीर-व्यापक-

१. "परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता संवित् सैवेह मेयोर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः" इति वार्तिकात् प्रमाणफलत्वेन विवक्षितो ब्रह्मचैतन्यसदृशः चिदाभासो ब्रह्मचैतन्यम्(अ).

जीव-संसृष्टत्वेन, सर्वेषां[पा.भे.३४] सर्वज्ञतापत्तिः अनिवार्यैव. तत्रापि अनुपदोक्ते विषय-तादात्म्य-सम्पादन-पक्षे मैत्रस्य चैत्रदर्शने "अहं चैत्रः" इत्याद्याकारकज्ञानापत्तिः अधिका आयातीति फल्गून्येव एतानि कल्पनानि.

अथ[टि.१] जीवः सर्वगतोऽपि अविद्यावृतत्वात् स्वयम् अप्रकाशमानतया विषयान् अनवभासयन् विषयविशेषे वृत्त्युपरागादौ आवरणतिरोधानेन तत्रैव अभिव्यक्तः तमेव विषयं प्रकाशयतीति आवरणभङ्गपक्षः किञ्चिज्ज्ञत्वार्थम् आलम्ब्यते, तदापि आवरणस्य वृत्त्युपरागतिरोभाव्यत्वाद् जाते वृत्त्युपरागे तेन आवरणभङ्गे सर्वान्तःकरणसंसृष्टो जीवः तत्तद्विषयेषु अभिव्यक्तः तं-तं विषयं प्रकाशयेदेवेति न किञ्चिज्ज्ञत्वोपपत्तिः. एवञ्च चैतन्यमात्रावरकाज्ञानस्य खद्योतप्रकाशेन महान्धकारस्येव ज्ञानेन एकदेशाज्ञाननाशो वा, पटवत् संवेष्टनं वा, भीतभटवद् अपसरणं वा, चैतन्यमात्रावरकस्यापि अज्ञानस्य तत्तदाकार-वृत्ति-संसृष्टावस्थ-विषय-चैतन्यानावरकत्व-स्वाभाव्यं वा, मूलाज्ञानावस्था-भेद-रूपाज्ञानान्तर-नाशो वा, अन्यो वा, यः कश्चनावरणभङ्गो निरुच्यतां[पा.भे.३५] स सर्वोऽपि वृत्त्युपरागजन्यएवेति जाते वृत्त्युपरागे पूर्वोक्तरीत्या सकलान्तःकरणसंसृष्टस्य जीवस्य सर्वज्ञतैव आयातीति न एतेऽपि रोचिष्णवः पक्षाः.

ननु एकस्मिन्नपि जीवे जन्मान्तरम् आपन्ने पूर्वजन्मानुसन्धानादर्शनात् शरीरभेदस्य सुखाद्यननुसन्धान-प्रयोजकत्वं क्लृप्तमिति सएव किञ्चिज्ज्ञतायाअपि प्रयोजको भवतु. तथाच व्यापकस्यापि जीवस्य शरीरान्तरे शरीरान्तरीयान्तःकरण-वृत्त्यादिभिः ज्ञानं न भविष्यतीति न सर्वेषां सार्वज्ञ्यापत्तिः इति चेत्, न, शरीरभेदस्य अननुसन्धानप्रयोजकतायाः योगिकायव्यूहे जातिस्मरे भूतादौ च व्यभिचारेण तस्य किञ्चिज्ज्ञतायामपि अतन्त्रत्वात्.

एतेनैव भोगायतनभेदस्य विश्लिष्टोपाधिभेदस्य च अननुसन्धानप्रयोजकत्वं परास्तं बोध्यम्, "उद्यदायुधदोर्दण्डाः पतितस्वशिरोक्षिभिः पश्यन्तो पातयन्ति स्म कबन्धा

१. इदमपि विवरणानुसारिणामेव पक्षान्तरम् (अ).

अप्यरीन् युधि'' (महाभा.) इति भारते भूतार्थवादात् च. नच * योगिप्रभृतिषु प्रभावविशेषेण अनुसन्धानेऽपि पूर्वोक्तोपाधीनाम् उत्सर्गतः तथात्वात् न अननुसन्धान-प्रयोजकत्व-हानिः * इति वाच्यं, बहुषु व्यभिचारदर्शनात्. एकत्र तथा दर्शनेहि औत्सर्गिकाननुसन्धान-तन्त्रत्वाविघातः प्रभाव-विशेष-समवधान-वशात् कल्पयितुं शक्यते, नतु बहुषु तथादर्शनि. अतो मनुष्यविशेषेषु भूतेषु, पा.भे.३६ मनुष्याद् उत्कृष्टयोनिषु सर्वेषु च, पूर्वजन्मीनज्ञानस्य तत्रतत्र उक्तेः शास्त्रस्य प्रामाण्यात् च, न पूर्वोक्तोपाधीनाम् अननुसन्धानतन्त्रत्वं साधीयः. नापि अन्तःकरणभेदस्य तथात्वं, दृष्टिसृष्टिवादे पूर्वपूर्वस्य अन्तःकरणस्य नष्टत्वेन अग्रिमाग्रिमस्य तस्य भिन्नत्वात् पूर्वदृष्टानुसन्धानाभावप्रसङ्गात्. साक्ष्यैक्यैन तत्समर्थनेतु अन्तःकरणभेदस्य अप्रयोजकत्वात्, तत्तदन्तकरणैः अस्य सर्वज्ञतायाएव आपत्तिः. अन्तकरणवैजात्येन सर्मथनन्तु मज्जत्-फेनावलम्बन-कल्पत्वात् कदर्यमेव. ''पादेन स्पृशामि''-''कर्णाभ्यां शृणोमि''-''चक्षुषा पश्यामि'' इति बाह्यकरणभेदेऽपि एकस्य ज्ञानवत् ''तेन-तेन अन्तःकरणेन तत्तद् जानामि'' इत्यादिज्ञानस्य अन्तकरणवैजात्येऽपि सुवचत्वात्. सृष्टिदृष्टिवादम् आलम्ब्य अन्तःकरणैक्याङ्गीकारेण सर्मथनेऽपि बहिःकरणवैजात्यस्येव अन्तःकरणभेदस्यापि पा.भे.३७ अप्रयोजकत्वाद् उक्तदूषणं निर्बाधमेव. नच * फलबलात् न अन्तकरणभेदस्य अप्रयोजकत्वम् * इति वाच्यं. फलबलस्य साधनभेदकल्पनामात्रप्रयोजकत्वेन अन्तःकरणभेदकल्पने अप्रयोजकत्वात्. फलबलेन जीवभेदकल्पनेऽपि दोषाभावात्. अतो व्यापकः एकः प्रतिबिम्बो जीवः इतिपक्षे कथमपि न सर्वज्ञतापत्तिपरिहारः.

* ननु तर्हि अस्तु नानाणुजीववादः. तथासति अन्तःकरणे प्रतिबिम्बित-चैतन्य-रूपस्य जीवस्य परिच्छिन्नत्वेन सर्वसंसर्गाभावात् न सर्वज्ञतापत्तिः भवित्री. विषयप्रकाशस्तु विषय-संसृष्ट-वृत्ति-द्वारा, तडागसलिलस्य कुल्याद्वारा केदारसलिलैक्यवद्, जीवस्य विषयावच्छिन्न-ब्रह्मचैतन्याभेदाभिव्यक्तौ भविष्यतीति किञ्चिज्ज्ञत्वम् उपपत्स्यते* इति चेत्, न इदं युक्तं भाति, ''सलिल एको दृष्टा(ऽद्वैतो) भवति'' (बृह.उप.४।३।३२) इति श्रुत्या सुषुप्तावेव जीवब्रह्मणोः एकीभावश्रवणात् तदितरत्र तदुपगमे पा.भे.३८

श्रुतिविरोधाद्, जाग्रदादौ व्यावतर्कोपाधेः विद्यमानत्वात् च, दर्पणसत्त्वे बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव जीवब्रह्मणोः अभेदस्य अशक्यवचनत्वात्.

किञ्च जीवब्रह्मणोः इदानीम् अभेदे अन्योऽन्यधर्म-विनिमयाद् ब्रह्मणो अल्पज्ञता अन्यस्य सर्वज्ञता च आपत्स्यत-इति न उक्त-दूषणोद्धार-सम्भवः. यदिच बिम्बभूतं विषयाधिष्ठान-चैतन्यमेव साक्षाद् आध्यासिक-सम्बन्ध-लाभाद् विषयप्रकाशकमिति आध्यासिक-सम्बन्धोपलक्षित-चैतन्यात्मना जीवैकीभावो, नतु बिम्बत्व-विशिष्टरूपेणेति भेदस्यापि सद्भावात् न उक्तदूषणापत्तिः * इति विभाव्यते, तदापि विषय-तादात्म्यापन्न-ब्रह्मणातु एकीभावो अस्य जातएवेति "अहं घटः" इत्याकारक-ज्ञानापत्तिः, अध्यासेन अन्तःकरणतादा-त्म्यापत्त्या 'अहम्' इति ज्ञानवद्, अन्तःकरणधर्माणां सुखादीनां स्वस्मिन् अभिमानवद् विषयधर्माणामपि अभिमानप्रसङ्गो, "अयं घटः" इत्यादिज्ञानाभावः च स्यात्.

यदिच * विषयावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यं विषयसंसृष्टायाः वृत्तेः अग्रभागे विषयप्रकाशकं प्रतिबिम्बम् अर्पयति, तस्य प्रतिबिम्बस्य जीवेन एकीभावे अभेदाभिव्यक्तिः, तस्यां सत्यां विषयप्रमितिः * इति विभाव्यते, तदातु सुतराम् असङ्गतं, वस्त्वन्तरावरुद्धे दर्पणादौ प्रतिबिम्बादर्शनाद्. विषयसंसृष्टे अग्रभागे ब्रह्मप्रतिबिम्बायोगात् विषयप्रकाशस्यैव अभावप्रसक्तेः. किञ्च प्रतिबिम्बार्पकं चैतन्यं यदि विषयाद् बहिः तदा तस्य वृत्तिसंसृष्टत्वात् प्रतिबिम्बायोगः ? यदिच विषयान्तः तदापि विषयेन व्यवधानात् तथा. यदि विषयाद् दूरवर्तिनः तदा विषयावच्छिन्नत्वस्यैव अयोगः. किञ्च अन्तःकरणोपाधि-परिच्छिन्न-प्रतिबिम्बस्य अणुत्वाद् ऊर्ध्वदर्शने वृत्तिद्वारा तस्य निर्गमात् प्राणानामपि निर्गमापत्तिः, "तमुत्क्रामन्तं प्राणानूत्क्रामन्ति" (बृह.उप.४।४।२) इति श्रुतेः. किञ्च एवं कल्पनैकशरणत्वे गोलकद्वारा तैजसस्य वेगवतो वृत्तिरूप-परिणामस्य निर्गमादेव प्रमातृ-वृत्ति-विषय-चैतन्याभेद-सिद्ध्या विषय-प्रकाश-सम्भवे गोलकातिरिक्तेन्द्रिय-कल्पनापि वृथा स्यात्. तस्माद् अनादरणीयाएव एते पक्षाः.

एतेन प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्न-चैतन्याभेदः ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रयोजकः इत्यपि निरस्तम्.

किञ्च यत्र भ्रमद्घटो गृह्यते तत्र वृत्त्युपरञ्जकस्य भ्रमणस्य विषयनिष्ठत्वाभावेन ततः चिदुपरागायोगात् तदग्रहणापत्तिः. नच *तत्र अर्निवचनीयं तज्जन्यतइति सुखेन तद्ग्रहणसम्भवः* इति वाच्यं, वृत्त्या घटाकारिकया आवरणाभिभवेन भ्रमणांशे विक्षेपस्य अशक्यवचनत्वात्.

किञ्च वृत्त्या विषयचैतन्याभेदाभिव्यक्तावपि विषयप्रकाशके ब्रह्मचैतन्ये तदभावात्, नयनप्रदेशे तदननुभवेन इन्द्रियेऽपि तदभावाद्, वृत्तिमात्रजनकस्य इन्द्रियसम्प्रयोगस्य विषयकारणत्वात्, क्लृप्तेश्च सम्प्रयोगेणापि विषये तदाधानायोगाद्, अन्तःकरणावच्छिन्नेऽपि "अहं भ्रमामि" इति अननुभवात् स भ्रमः सर्वत्र अलब्धसत्ताको घटेऽपि न स्याद्. यस्मात् क्वापि असन् घटदेशे अनुभूयते, तस्मात् तद्देशावच्छेदेन जायमाने मनोधर्मरूपे ज्ञाने अस्ति, तत् चेत्, प्रमातृविषय-चैतन्याभिन्नं स्यात्, तदा स भ्रमः सर्वानुभवगोचरः स्यात्. यस्मात् न एवं तस्मात् तज्ज्ञानं कार्यरूपं भिन्नमेव इति निश्चयः. नच *शुक्ति-रजतादिस्थले इदमाकारवृत्तौ सत्यामपि रजताध्यासदर्शनात् अंशतएव आवरणनाशइति, अंशान्तरेण भ्रमविक्षेपोऽपि भविष्यतीति, न तदननुभवानुपपत्तिः* इति वाच्यं, (क) विषये तत्सत्त्वे अन्येषामपि तदनुभवापत्तेः, (ख) अन्येषां घटद्रष्टृणां प्रमाणवृत्त्या तदंशावरणनाशाद् अस्यापि तदनुभवापत्तेश्च पा.भे.३९ विषयाश्रितावरणपक्षस्यैव दुष्टत्वात्, (ग) पुरुषाश्रितपक्षेतु, उक्तरीत्या, प्रमातरि प्रमाणे प्रमेये च वक्तुम् अशक्यत्वेन घट्टकुटीप्रभातवद् अननुभवस्य सर्वानुभवगोचरत्वस्य वा आपातात् शुक्तिरजतस्यापि एतत्तुल्यत्वाद्, (घ) एवंमूलाज्ञानावस्थारूपाज्ञानानां नानात्वं अङ्गीकृत्य, घटावरकाज्ञानस्य घटाकारकवृत्त्या निवृत्तावपि, नैश्चल्यावरकस्य अनिवृत्त्या भ्रमविक्षेपादरणेऽपि, पूर्वोक्तरीत्या पुरुषनिष्ठतैव तस्य वाच्येति चैतन्याभेदस्य पूर्ववदेव असिद्धेः, वृत्तेः ज्ञानात्मकत्वमात्रकल्पनया तस्य उत्पत्तिनाशशालित्वमात्रेण निर्वाहे विषयावरण-तन्नानात्व-कल्पनयोः गुरुत्वाद् अप्रमाणिकत्वात् च.

एतेनेव [टि.१] घटावरकाज्ञानगतावरण-शक्तिमात्रनिवृत्तिः नतु विक्षेप-शक्ति-निवृत्तिरपि इति पक्षो निरस्तो बोध्यः, नैश्चल्यावरणम् अन्तरेण भ्रमणविक्षेपासम्भवाद् आवरण-शक्ति-निवर्तकतायाः अप्रयोजकत्वात् च, जलप्रतिबिम्बित [टि.२]-वृक्षाधोग्रत्व-भ्रमेतु प्रतिबिम्ब-पदार्थस्य अतिरिक्तत्वेन, मूलसमीपवर्तिनि जले मूलस्य — ततो विप्रकृष्टे अग्रस्य — प्रतिबिम्बाद् प्रतिबिम्बत्वेनैव अवगाहाद् भ्रमत्वस्यैव दुर्वचत्वेन तत्र आवरणादि कल्पनायाएव अयोगात् च इति दिक्.

अतो जन्यज्ञानस्य इन्द्रियान्वय-व्यतिरेकानुविधान-दर्शनात्, शक्तिग्राह-केषु कोशादिषु "प्रेक्षोपलब्धिः चित् संविद्" (अम.को.१।५।१) इति 'चिदा' दिभिः सह 'बुद्धेः' ऐकार्थ्येन वृत्तेः ज्ञानात्मकत्वनिश्चये तत्र ज्ञानोपचारपक्षस्य अयुक्तत्वात् च जन्यज्ञानम् अतिरिक्तमेव तदुत्पत्तिप्रणाडी च पूर्वोक्तरीतिकैव इति निश्चयः

भगवत्साक्षात्कारप्रणाडी :

भगवत्साक्षात्कारेतु न एषा प्रणाडी. तस्य प्रमेयबलादेव भवनात् "नायमात्मा..." (मुण्ड.३।२।३) इति श्रुतौ इतरसाधननिरासेन उपलक्षणविधया निरस्तत्वाद्, उत्तरार्धे (द्रष्ट."यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" इत्यस्मिन्नंशे : मुण्ड.३।२।३) वरणस्य लाभसाधनत्वकथने स्वस्यैव तनुविवरणसाधनत्वोक्तेः च. वरणञ्च अनुग्रहः. सच धर्मान्तरमेव नतु फलदित्सा, "यस्यानुग्रहमिच्छामि" ( ) इति वाक्यात्. सच भक्तिबीजभूतो अतो "भक्त्या मामभिजानाति" (भग.गीता.१८।५५) 'भक्त्यात्वनन्यया शक्यः" (भग.गीता.-११।५४) "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" (भाग.पुरा.११।१४।२१) इत्यादिषु न विरोधः. अवतारदशायान्तु "मां सर्वे पश्यन्तु" इत्याकारिकया सामान्येच्छयापि दर्शनं; तत्रापि, नानाविधाभिः यथा "मल्लानामशनिः..." (भाग.पुरा.१०।४३।१७) इत्यादौ.

---

१. विषयाश्रितावरणपक्षनिरासेनैव इति अर्थः (अ). २ जले वृक्षप्रतिबिम्बस्थले वृक्षाणां दृश्यमानत्वेन आवरणस्य अभावात् केवलएव विक्षेपइति न उक्तदूषणापत्तिः इत्यतः आहः (अ).

एवञ्च भक्त्या सामान्येच्छया च इति द्वेधा दर्शनम्. उभयथापि प्रमेयबलमेव कारणमिति न विरोधः. स्वसाधनसामग्र्यादिभिः दर्शनज्ञानन्तु अभिमानमात्रात्. अतएव "अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्" (केनोप.२।३) इत्यादिश्रुतिः सङ्गच्छते. "मनसैवानुद्रष्टव्यः" (बृह.उप.४।४।१९) इत्यादावपि प्रमेयबलानुगृहीतमेव तदभिप्रेतमिति श्रुत्यन्तराविरोधाय अनुसन्धेयम् इति शुभम्.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदे प्रमाकरणस्वरूपनिरूपके द्वितीये कल्लोले प्रत्यक्षप्रमाकरणनिरूपको तृतीयः तरङ्गः

समाप्तः

पाठभेदावली

१. तद्वान् इति **क घ ङ** पाठेषु नास्ति. २. ग्रहणे पूर्वरूपस्य इति **अ ख** पाठयोः गृहीतपाठस्तु **क ग च** पाठानुरोधात्. ३. रूपद्वारकम् इति **अ** पाठे नास्ति **आ** शोधनिका **ख ग** पाठयोः उपलभ्यते. ४. घ्राणादीनां द्रव्यग्राहकत्वस्य इति **क** पाठः. ५. तथा तद्धर्माः च. किञ्च केवलात्मा लौकिकप्रत्यक्षाविषयः इति **अ** पाठे नोपलभ्यते **आ** शोधनिकेयं **क ख** पाठयोः अनुवर्तते. ६. नापि तामसेन्द्रियस्य इति **आ** शोधनिका. ७. अभास्वरइत्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति इति **ख** पाठो अशुद्धः. ८. भावादिति विशिष्टत्वेन इति **क** पाठः, भावादिति विशिष्टस्य इति **ख** पाठः. तथाभावादिविशिष्टत्वेन इति **ग** पाठः. गृहीतस्तु **अ आ** पाठानुरोधेन. ९. धर्मि इति **क च** पाठयोः. १०. युगपद् इति **अ** पाठीयं शोधनं **आ क ख ग** पाठेषु नास्ति. ११. तिरोभावएव घटपटाद्याविर्भाव इति **आ** शोधनिका **ख** पाठेपि वर्तते. १२. इह **ख** पाठे क्रमभेदः पाठभेदश्चापि दृश्यते. तथाहि "संयोगः संयुक्ततादात्म्यं संयुक्तविशेषणता तादात्म्यं स्वरूपम् इति. गृहीतस्तु **आ क** पाठानुरोधेन. १३. सर्वभावसाधारणा इति **आ ख** पाठयोः. १४. "अनावरकत्वात्... तद्ग्राहकसामग्र्यैव गृह्यते" इत्येतावद्भागे **आ ख ग घ ङ च** पाठेषु अतीव पंक्तिक्रमवैसादृश्यं दृश्यते तत्र अगतिकगतिकेन मया **अ** पाठैकनिर्भरेण भाव्यमिति तदनुसरणम्. १५. भिन्नत्वम् इति **अ क ग** व्यतिरिक्तेषु न उपलभ्यते. १६. प्रत्यापत्तित्वम् इति **आ ख** पाठयोः. १७. स्वयोग्यतया सिध्यदैन्द्रियकत्व इति **क ग** पाठयोः. १८. नेत्रान्तरानुभवस्य इति **क** पाठो अशुद्धो भाति. १९. श्रुत्यादौ इति **क** पाठस्तु अशुद्धः. २०. ज्ञापनस्य इति **आ ख** पाठयोः. २१. वृत्तिविषया अनुवृत्तिः इति **क ग** पाठयोः. २२. 'तत्र' इति **अ** आदि सर्वे पाठाः, 'तस्य' इति उपलब्धमूलगीतापाठानुरोधेन. २३. "नच

नयनानां किरणाङ्गीकारे... तदेवच लौकिकव्यवहारविषयः'' इति पञ्चाशत्पंक्त्यात्मको भागः **क ग** पाठयोरेव उपलभ्यते नान्येषु केषुचित्. २४. तत्सत्त्वाद् इति **ग** पाठे. २५. बुद्ध्याकारस्य मायिकत्वमपि इति **क** पाठे. २६. ''मनसश्च... रूपद्वयमेव युक्तम् इति'' इति **आ** शोधनिका **अ घ ङ च** पाठेषु नोपलभ्यते. २७. **अ** पाठो अवाच्याक्षरो, जाग्रति फलभोगे इति **क ग** पाठयोः, जाग्रति फलभोगो भागैः इति **आ** फलभोगो भोगैः इति **ख** पाठे **घ ङ च** पाठेषु फलभोगो भोगे इति. २८. तस्यां-तस्यांचिदीश्वरेच्छादि इति **अ आ ख घ ङ** पाठेषु **क ग च** पाठेषु तस्यां तस्यां क्वचिद् ईश्वरेच्छा इति. २९. संसृष्टत्वाबाधकाभावेन इति **अ** पाठे **आ ख ग घ ङ च** पाठेषु संसृष्टत्वाद् बाधकाभावेन इति. ३०. एकस्यैव अन्तःकरणवैशिष्ट्यम् इति **क** पाठे. ३१. प्रमात्रभेदे... साक्ष्यभेदे इति **आ ख ग च** प्रमातृभेदे... साक्षिभेदे इति **क घ ङ** पाठेषु. ३२. अन्तःकरणस्य अन्तःसन्निहितत्वाद् इति **ख** पाठे नास्ति. अन्तःकरणस्यान्तरं सन्निहितत्वाद् इति **अ** पाठो. गृहीतस्तु **क ग** पाठानुसारेण. ३३. कारणाकारणसंयोगाद् इति **आ ख** पाठयोः. ३४. ...संसृष्टत्वेन सर्वैः तैः **क ग च** पाठयोः. ३५. निरूप्यताम् इति **क** पाठः. ३६. भूतेषु इति **अ आ ग** पाठेषु **ख घ ङ** पाठेषु नास्ति. ३७. अन्तःकरणवैजात्यस्यापि **क ग** पाठयोः, बहिःकरणवैजात्यस्यापि अप्रयोजकत्वाद् इति **ख** पाठे. ३८. तदुपगमे श्रुतिविरोधाद् इति **आ** शोधनिका. ३९. तदननुभवापत्तेश्च इति **अ आ ख** पाठेषु. गृहीतस्तु **क ग** पाठानुसारेण अर्थानुरोधेन च.

✻ अनुमितिप्रमाकरणनिरूपकः चतुर्थः तरङ्गः ✻

विषयोपक्रमः :

एवं विशेषबोधाय प्रत्यक्षं विनिरूपितम्।
अनुमानेत्वितरवद् न विशेषोऽस्ति कश्चन॥
तथापि बालबोधाय प्रक्रान्तस्यापि पूर्तये।
प्रक्रियां काञ्चिद् आश्रित्य तत्स्वरूपं निरूप्यते॥

अनुमानादिलक्षणेषु अनुमितिप्रमाकरणलक्षणम् :

'अनुमितिकरणम्'=अनुमानम्. दण्डादिवारणाय 'मिति' इति. चक्षुरादिवारणाय 'अनु' इति. करणव्युत्पत्तिबोधनाय 'करणम्' इति. अनुमितेः फलत्वेन स्वं प्रति स्वस्य करणत्वायोगात्. अतः समुदितम् उपात्तम्.

नच ✻ लक्षणलक्ष्यतावच्छेदकयोः ऐक्यात् शाब्दबोधानुपपत्तिः, 'अनुमान' पदवाच्यत्वस्य लक्ष्यतावच्छेकत्वेन अदोषाद् ✻ इति **केचित्**.

वस्तुतस्तु शाब्दबोधस्य शक्तिग्रहाधीनत्वेन गृहीतशक्तेः लक्षणीयशब्देभ्यो, ''अनुमितेः सम्बन्धि करणम्'' इति बोधस्य सुखेन उपपत्त्या शङ्कायाएव अनुदयात् तदैक्येऽपि अदोषाद् इति युक्तम्. ✻ ननु प्रतिज्ञावाक्यश्रवणे ''किम् 'अनुमान' पदवाच्यं ?'' इति आकाङ्क्षायां तत्पूर्तये लक्षण-वाक्य-कथनाद् ''अनुमितिकरणम् 'अनुमान' पदवाच्यं'' इति बोधो विवक्षितइति, ऐक्याङ्गीकारे तस्य अनुपपत्तिरेव ✻ इति चेत् , न, 'अनुमान' पदवाच्यत्वस्य श्रोतृबुद्ध्यारूढत्वेन श्रुते अनुमानपदार्थे तादृशबोधस्य अर्थबलादेव सिद्धेः.

अनुमितिप्रमालक्षणम् :

''ज्ञानकरणकं ज्ञानम्''=अनुमितिः. आत्मवारणाय 'करणकम्' इति,

वेदान्तनये तस्य ज्ञानरूपत्वात्. प्रत्यक्षवारणाय 'ज्ञान...' इति.

नच *स्मृतेरपि संस्कारद्वारा अनुभवजन्यत्वेन ज्ञानकरणकत्वाद्, उपमितेरपि अतिदेश-वाक्यार्थ-स्मरणद्वारा सादृश्यज्ञानजन्यत्वात्, तदुभयवारणाय 'व्याप्तिज्ञाने' ति वक्तव्यम्* इति वाच्यं, सिद्धान्ते सादृश्यज्ञानादेः सहकारितया निवेशेन, उपमितेः चक्षुरादिकरणकत्वेन तत्र अतिव्याप्त्यभावात्. संस्कारस्यच अनुभवसूक्ष्मावस्थारूपत्वाद् अवस्थायाश्च स्वरूपानतिरिक्तत्वात् स्मृतेरपि ज्ञानकरणकत्वाभावेन तत्रापि अतिव्याप्त्यभावात् च तावतैव तयोः वारणात्. करणभूतं ज्ञानं व्याप्तिज्ञानमेव इति फलबलादेव अवसीयते. अतो न कापि अनुपपत्तिः. नच 'व्याप्तिकरणकम्' इति सम्यग्, अज्ञातायाः तस्याः अनुमित्यजनकत्वात्. नापि 'व्याप्तिज्ञानजन्यम्' इति युक्तं, व्याप्तिज्ञानानुव्यवसाये अतिव्याप्तेः. अतएव 'ज्ञायमानव्याप्तिजन्यम्' इत्यपि न, अनुव्यवसाये विषयज्ञानात्मनां त्रयाणामपि विषयत्वेन जनकतया तस्य तादृशव्याप्तिजन्यत्वात्. यद्वा ''परामृष्यमाणलिङ्ग-लिङ्गपरामर्षान्यतर-व्यापारक-ज्ञानकरणकं ज्ञानं= सा'' तेन व्याप्तिज्ञान-साध्यज्ञान-हेतुज्ञानादेः करणत्वेऽपि न क्षतिः व्यापारेण दोषनिरासात्. अत्र लिङ्गव्यापारपक्षे अतीतानागतधूमात् न अनुमितिः इति प्रागेव उपपादितम्. परामर्षव्यापारपक्षस्तु मतान्तरबोधनमात्रार्थः.

अनुमितिलिङ्गलक्षणम् :

''व्याप्तिविशिष्टत्वे सति पक्षधर्मत्वं''=लिङ्गत्वम्.

पक्षलक्षणम् :

पक्षत्वञ्च=''आहार्यानाहार्यान्यतर-सन्देह-विषय-साध्यकत्वम्''. तेन सिसाधयिषायां सत्याम् आहार्य-संशय-विषयता-सत्त्वात् साध्य-निश्चय-सत्त्वेऽपि न हानिः.

व्याप्तिलक्षणम् :

व्याप्तिस्तु=''अव्यभिचरितं हेतोः साध्यसमानाधिकरण्यम्''. ''यत्र-यत्र

हेतुः तत्र-तत्र साध्यं—यत्र-यत्र साध्याभावः तत्र-तत्र हेत्वाभावः'' इति नियमो अव्यभिचारः, तद्विशिष्टत्वम् अव्यभिचरितत्वम्.

हेतुलक्षणम् :

''सिसाधयिषायां सत्यां साधकत्वेन उपादीयमानत्वं''=हेतुत्वम्. 'सिसाधयिषाविषयत्वं'=साध्यत्वम्.

हेतुसाध्ययोः व्याप्तिघटकसामानाधिकरण्यलक्षणम् :

'एकाधिकरणवृत्तित्वं'=सामानाधिकरण्यम्. तथाच ''उक्तरूपाव्यभिचार-विशिष्टं हेतुनिष्ठं साध्याधिकरणवृत्तित्वं''=व्याप्तिः इति अर्थः.

इदमेव सांख्यप्रवचनसूत्रे उक्तं ''नियतधर्मसाहित्ये उभयोः एकतरस्य वा व्याप्तिः'' (सां.प्र.सू.५।२९) इति.

'उभयोः'=समव्याप्तिकयोः, कृतकत्वानित्यत्वादिरूपयोः 'एक-तरस्य' विषमव्याप्तिकस्य धूमादेः 'नियतधर्मसाहित्ये' अव्यभिचरित-धर्मरूपे सामानाधिकरण्ये 'व्याप्तिः' 'व्याप्ति' शब्दः शिष्टैः प्रयुज्यते इति अर्थः.

वैयासदर्शनादौ लक्षणाभावाद् आस्तिकशास्त्रगतत्वाद्[टि.१] अविरुद्धम् इदमेव लक्षणम् अस्माभिः आदृतम्.

एवञ्च ''वह्निमान धूमाद्'' इत्यादौ धूमनिष्ठं तादृशाव्यभिचारविशिष्टं वह्निसामानाधिकरण्यम् अस्तीति लक्षणसमन्वयः. अत्र महानसादौ वह्नेः

१. ननु वैयासदर्शने अविरोधाध्याये कापिल-गौतममतयोः उभयोरपि निराकरणदर्शनात् कथमिह एकतरस्य पक्षपातः इति चेद् मैवं ''सांख्यो बहुविधः प्रोक्तस्तत्रैकः सत्प्रमाणको अष्टाविंशतितत्त्वानां स्वरूपं यत्र वै हरिः. सांख्यमिति यद् मतं तद् ब्रह्मवादएव प्रविशति''(त.दी.नि.प्र.१।९३) इति आचार्यवचनमूलकं विधानम् इदमिति विशेषस्तु ततएव ज्ञातव्यम्. वैयासदर्शनोपजीव्यासु उपनिषत्स्वपि ''तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्''(श्वेता.उप.६।१३) इत्यादिवचनोपलम्भात् च.(स्या)

धूम-सामानाधिकरण्य-दर्शनाद् ''धूमवान् वह्नेः'' इत्यादौ अतिव्याप्तिवारणाय 'अव्यभिचरितम्' इति, अयःपिण्डादौ तस्य साध्यव्यभिचारात्. यद्यपि 'अव्यभिचरित-सामानाधिकरण्य'-मात्रं तद्रूपं तथापि सामानाधिकरण्यस्य सम्बन्धिकतया सम्बन्धिबोधनाय 'हेतु'-'साध्य' पदे. नापि ''अव्यभिचरितं हेतोः साध्यम्'' इत्येतावतैव निर्वाहो, व्याप्तेः हेतुधर्मत्वात्. ''कथञ्चिद् गुणभूतत्वेन व्यवह्रियमाणः आधेयो अर्थः'' इति तल्लक्षणात्. नच * एवमपि पर्वतीयधूमे महानसीय-वह्निसामानाधिकरण्याभावाद् अव्याप्तितादवस्थ्यम् * इति शङ्क्यं, हेतुसाध्ययोः हेतुतावच्छिन्न-साध्यतावच्छिन्नत्वाभ्यां विशेषणीयत्वेन अदोषात्.

* नच * धूमावयवेषु धूमसत्त्वाद् वह्नेः च असत्त्वाद् अन्वयव्यभिचारः, समवायसम्बधेन वह्न्यभाववति महानसादौ धूमसत्त्वाद् व्यतिरेकव्यभिचारः च * शङ्क्यो, हेतुतावच्छेदक-साध्यतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्नत्वाभ्यामपि तयोः विशेषणीयत्वात्. नापि * एतत्क्षणीये धूमे पूर्वक्षण-वृत्तित्व-विशिष्ट-वह्नि-सामानाधिकरण्याभावाद् अव्याप्तिः * इति वाच्यं, तत्र वैशिष्ट्यानवच्छिन्नत्व-स्यापि विशेषणीयत्वाद् * इति **केचित्**.

वस्तुतस्तु सिसाधयिषोदयानन्तरं हेतुसाध्यभावेन ततः पूर्वं तदभावात् तस्य वह्नेः असाध्यत्वेन तदसामानाधिकरण्येऽपि अदोषात्. सिसाधयिषोत्तर-क्षणात्मक-क्षणात् पूर्वक्षणत्वविवक्षया अव्याप्त्युद्भावनन्तु काकदन्तविचारानु-कारि, आप्राकृतम् आच-पण्डितं पूर्वोक्तरीतिक-व्याप्तिज्ञानमात्रेण अनुमितिदर्श-नस्य सार्वजनीनत्वात्. एतेन वह्निघटोभयावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-वह्न्यभाववति केवलवह्निदेशे धूमदर्शनेन व्यतिरेकव्यभिचारग्रासात् प्रसिद्धानुमाने अव्याप्तिशङ्कापि निरस्ता ज्ञेया, व्यासज्य-वृत्तिधर्मावच्छिन्नाभाव-स्थले साध्यदर्शनेन ''सविशेषणे हि''[टि.१] इति न्यायाद् अभावस्य उभयत्वएव विश्रान्तेः च. एवम् अन्येऽपि विचाराः स्वयम् ऊह्य निरसनीयाः.

१. ''सविशेषणे प्रसक्तौ विधिनिषेधौ विशेषणमेव उपसंक्रामतः विशेष्ये बाधके सति'' इति न्यायः(द्रष्ट. : भु.लौ.न्या.सा.१५६)(ख्या).

एवञ्च "साध्यात्यन्ताभाववदवृत्तित्वं" / "साध्यवदन्यावृत्तित्वं" च न अतिदुष्टम्. नच * "ज्ञेयं वाच्यत्वाद्" इत्यादौ केवलान्वयिसाध्यके अनुमाने साध्यात्यन्ताभावस्य साध्यवदन्यस्य च अभावाद् अव्याप्तिः * इति शङ्क्यं, परे ब्रह्मणि "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति.उप.२।४।१) इत्यादिश्रुत्या ज्ञेयत्वादि-निषेधात्, सर्वत्रापि केनचिद्रूपेण ज्ञेयत्वादिसत्त्वेऽपि रूपान्तरेण तदभावस्य सार्वजनीनत्वात् च. केवलान्वयिसाध्यकानुमानस्यैव अभावात्, प्रमेयत्वे प्रमेयत्वस्य, वाच्यत्वे वाच्यत्वस्य च यथासम्भवम् अप्रमाणिकानवस्थात्माश्रययोः भिया वक्तुम् अशक्यत्वात् प्रमेयत्वाद्यभावस्य तत्रैव सिद्धेः च. नापि * अव्याप्यवृत्तिसाध्यके "कपिसंयोगि एतद् वृक्षत्वाद्" इत्यादौ साध्यात्यन्ताभाववदवृत्तित्वस्य अव्याप्तत्वं * शङ्क्यं, दृष्टे कपिसंयोगे सिद्धसाधनत्वेन अदृष्टे च अहेतुत्वेन तस्य दुरनुमानत्वात्. अतः [टि.१] तद्वारणार्थं प्रतियोगिव्यधिकरणत्वेन यत् साध्याभावं विशेषयन्ति तदपि मुधैव. यदपि "हेतुसमानाधिकरणाः [टि.२] यावन्तः ते साध्यसमानाधिकरणाः तत्त्वं व्याप्तिः" इति लक्षणं, तदपि यावत्त्वस्य अनेकपदार्थघटितत्वेन अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयस्वरूपयावत्त्वाङ्गीकारेऽपि अपेक्षाबुद्धेः "अयम्-अयम्-अयम्—एते सर्वे" इति आकारकत्वेन तत्तत्पदार्थविषयकतया अनेकपदार्थ-घटितत्वानपायेन प्रतिपत्तिगौरवग्रस्तमेव. यावत्त्वस्य व्यापकत्वरूपत्वेऽपि व्यापकत्वस्य तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वरूपतया अभावद्वयनिवेशेन उक्ततुल्यकक्षमेव. अतः एतदपेक्षया "हेतुमन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः" इति लक्षणं पूर्वोक्तविवक्षामात्रेणैव निर्वहतीति तदेव साधु इति दिक्.

शङ्कराचार्यास्तु — गोपालघुटिकायां [पा.भे.१] धूमस्य सत्त्वेन वह्नेः च असत्त्वेन प्रसिद्धानुमाने व्यभिचारं **दर्शयन्ति.**

नच * अविच्छिन्न-मूलाभ्रँल्लिह-धूमलेखायाएव हेतुत्वम् इति चिन्तामण्युक्तमपि * सम्यक्, स्वल्पधूमेन अन्यत्र अनुमित्यनुदयापत्तेः. नापि * अविच्छिन्नमूलत्वमात्रम् अत्र विवक्षितम् * इति युक्तं, गोपालघुटिकायां

१. चिन्तामणिलक्षणे किञ्चिद् आहुः (क). २. मञ्जरीलक्षणम्(क).

तथात्वेऽपि वह्न्यभावात्. नच * उत्पत्तिदेशस्यैव मूलत्वम् अतो न दोषः * इत्यपि युक्तं, तथापि गुलीयन्त्रधूमे व्यभिचारस्य दुर्वारत्वात्. गुलीयन्त्रात् निर्गत्य दूरं गतायामेव गुलिकायां यन्त्रमुखे धूमदर्शनात्. नच *तत्र अग्निलापनदेशएव मूलम्* इति युक्तं, तत्र तदवसरे धूमानुपलम्भात्. नापि यन्त्रान्तर्देशः तथा, मानाभावात्. अतो वह्निः पूर्वम् औषधे प्रविश्य ततो गुलिकां प्रविश्य आरुह्य बहिर्गच्छन्नेव धूमम् उत्पाद्य यातीति यन्त्रमुखं वा वह्नित्यक्तान्तर्देशो वा मूलदेशः. तत्रच दर्शनावसरे वह्न्यभावात् तद्रीत्या नैयायिकपित्रापि व्यभिचारो न वारयितुं शक्यः. तथाच अनित्ये वस्तुनि साध्यभूते साध्यस्य हेतुपूर्वकालीन-सत्तामात्रस्यैव अनुमितिः नतु तद्देशकालविशिष्टायाअपि सत्तायाः. नित्येतु साध्ये कालविशिष्टायाअपि इत्यादि बोध्यम्.

प्रकृतम् अनुसरामः :

तच्च सामानाधिकरण्यं भूयः सकृद् वा दर्शनेन प्रमितं सत् हेतुदर्शनात् संस्कारोद्बोधे स्मृतिपथम् आरोहति. ततः तत्स्मरणोत्तरं हेतुः साध्यं निश्चाययति. यथा महानसादौ निश्चिते, धूमस्य वह्न्यव्यभिचरित-सामानाधिकरण्ये, पश्चात् पर्वतादौ दृष्टे धूमे, तत्स्मरणोत्तरं, धूमो वह्निं निश्चाययति ''धूमदेशे वह्निः'' इति. स निश्चयो अनुमितिः. तस्यच कारणं ज्ञायमानं लिङ्गम् इति उक्तम्.

केचित्तु लिङ्गज्ञानं कारणम् **आहुः**. उभयथापि सम्बन्धिव्यभिचाराभावात् न अनुमितेः यथार्थत्वहानिः.

अनुमितिद्वैविध्यम् :

अनुमानञ्च द्विविधं : केवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिभेदात्.

केवलव्यतिरेक्यनुमाननिरूपणम् :

तत्र पक्षव्यतिरिक्ते यस्य हेतोः साध्यसहचारो न लभ्यते किन्तु

व्यतिरेकव्याप्तिमान् स हेतुः केवलव्यतिरेकी. तादृशहेतुकं यद् अनुमानं तत् तथा. यथा "पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते पृथिवीत्वाद्" इत्यादि.

अन्वयव्यतिरेक्यनुमाननिरूपणम् :

हेतुसाध्ययोः साध्याभाव-हेत्वभावयोश्च यत्र व्याप्तिः सो अन्वयव्यतिरेकी हेतुः. तादृशहेतुकं यद् अनुमानं तत् तथा. यथा "पर्वतो वह्निमान् धूमाद्" इति प्रसिद्धानुमानम्.

द्विविधायाअपि अनुमितेः स्वार्थपरार्थभेदेन अवान्तरो भेदः :

इदं द्विविधमपि स्वार्थपरार्थभेदात् पुनः द्विविधम्. तत्र स्वार्थन्तु उक्तमेव. परार्थं न्यायपूर्वकम्. 'न्यायो' नाम अवयवबोधकं वाक्यम्. अवयवाश्च अवयविप्रायस्य महावाक्यस्य अवयवाइव एकदेशाः.

परार्थानुमानघटकावयवस्वरूपे मतवैविध्यम् :

* तेच प्रतिज्ञा-हेतूदाहरणोपनय-निगमनाख्याः पञ्च, इति **नैयायिकाः कापिलाः** च, —

१.परार्थानुमानघटकप्रतिज्ञास्वरूपम् :

तत्र "साध्यविशिष्टपक्षप्रतिपादकं वाक्यं"=प्रतिज्ञा; यथा, "पर्वतो वह्निमान्" इति.

२.परार्थानुमानघटकहेतुस्वरूपम् :

तत् कुतः ? इति आकाङ्क्षायां "पञ्चम्यन्तं व्याप्यप्रतिपादकं वचनं"=हेतुः; यथा, 'धूमाद्' इति.

कुतो धूमस्य वह्न्यनुमापकत्वम्? इति आकाङ्क्षायां, धूमे वह्निनिरूपितव्याप्तिः पक्षधर्मता च इति उभे क्रमेण प्रतिपाद्ये.

३.परार्थानुमानघटकोदाहरणस्वरूपम् :

तत्र "सव्याप्तिकं दृष्टान्तवचनम्"=उदाहरणं; यथा, "यो-यो धूमवान् स-स वह्निमान् यथा महानसम्" — "यदेवं तदेवं यथा महानसम्" इति वा, इति अन्वयव्याप्तौ. व्यतिरेकव्याप्तौतु "यो न वह्निमान् स न धूमवान् यथा ह्रदो" — "यन्नैवं तन्नैवं यथा ह्रदः" इति वा.

४.परार्थानुमानघटकोपनयस्वरूपम् :

"पक्षे व्याप्तिविशिष्टोपसंहारः"=उपनयो; यथा, "वह्नि-व्याप्यधूमवान् अयम्" इति — "तथा च अयम्" इति वा. व्यतिरेकेतु "वह्न्यभाव-व्यापकीभूताभाव-प्रतियोगि-धूमवान् अयम्" इति.

५.परार्थानुमानघटकनिगमनस्वरूपम् :

"पक्षे साध्योपसंहारो"=निगमनं; यथा, "तस्माद् वह्निमान्"इति.

परामर्षस्वरूपम् :

परामर्षस्तु, अन्वयव्याप्तौ, "लिङ्गस्य साध्यव्याप्यत्वेन पक्षधर्मतानिश्चयः", व्यतिरेकव्याप्तौतु, "साध्याभाव-व्यापकाभाव-प्रतियोगित्वेन तथात्वनिश्चयः". तदाकारश्च, अन्वये, "वह्निव्याप्यधूमवान् अयम्" इति, व्यतिरेकेतु, "वह्न्यभाव-व्यापकाभाव-प्रतियोगि-धूमवान् अयम्" इति बोध्यः*

इति आहुः.

सौगतास्तु *प्रतिज्ञोदाहरणात्मक-द्व्यवयवमेव न्यायं* **स्वीकुर्वन्ति;** यथा, "यत् सत् तत् क्षणिकं यथा घटः" इति, तद् अतिक्लिष्टम्.

मीमांसकास्तु त्र्यवयवम् **अङ्गीकुर्वन्ति,** तत्र, **शाबरभाष्ये** उदाहरणादि-त्रितय-युक्तं; यथा, "यत् कर्म तत् फलवद् यागोऽपि कर्म तेनापि फलवता भाव्यम्" (शाब.भा.) इति.

भट्टवार्तिकेतु * प्रतिज्ञादित्रितययुक्तं यद्

"वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्याद् अधुनाध्ययनं यथा॥" *
(श्लोकवार्ति.वाक्याधि.३६६) इति.

परार्थानुमानघटकावयवविषये भाट्टमताङ्गीकारः पौराणिकरीतिसंवादात् :

इदमेवच युक्तं, व्याप्ति-पक्षधर्मतयोः एवं बोधसौकर्यात्, पुराणेषु एवमेव त्रयाणां प्रयोगदर्शनात् च.

यथा पञ्चमस्कन्धे राज्ञा "कथमनुमिमीमहि" (भाग.पुरा..५।२२।१) इति सूर्यादिगतिप्रश्ने श्रीशुकैः प्रयुक्तं—

"यथा कुलालचक्रेण, भ्रमता, सह भ्रमतां तदाश्रयाणां पिपीलिकादीनां गतिः अस्त्येव, [पा.भे.२] प्रदेशान्तरेष्वपि उपलभ्यमानत्वाद्. एवं नक्षत्रराशिभिः उपलक्षितेन कालचक्रेण ध्रुवं मेरुं च दक्षिणतः परिचरता सह परिधावमानानां तदाश्रयाणां सूर्यादीनां ग्रहाणां गतिः अस्त्येव, नक्षत्रान्तरे राश्यन्तरे च उपलभ्यमानत्वाद्."
(भाग.पुरा.५।२२।२) इति.

हेत्वाभासानां निरूपणम् :

अथ हेतुदोषज्ञानार्थं प्रसङ्गाद् हेत्वाभासाः उच्यन्ते :—

तेच : (१)सव्यभिचार-(२)विरुद्ध-(३)सत्प्रतिपक्षा-(४)ऽसिद्ध-(५)बाधित-भेदात् पञ्च इति **नैयायिकाः**.

(१)तत्र साध्य-तदभाव-साधकतया प्रतीयमानः सव्यभिचारो 'अनैकान्तिकः' इति तस्यैव नामान्तरम्. स द्विविधः : (क) साधारणो (ख)असाधारणः च.

तत्र (१/क)''अन्वयव्याप्त्या साध्यतदभावयोः साधकः''= साधारणः; यथा, ''धूमवान् वह्नेः'' इति.

(१/ख)''व्यतिरेकव्याप्त्या तादृशो''=असाधारणः; यथा, ''शब्दो अनित्यः शब्दत्वाद्'' इति.

नैयायिकास्तु अनुपसंहारिणमपि तृतीयम् आहुः :

(१/ग)तल्लक्षणन्तु 'अवृत्तिसाध्यकत्वं'; यथा, ''आकाशवान् दिशः'' इति. अत्र स्वरूपसम्बन्धस्य वृत्यनियामकत्वात् तथात्वम् इति तदाशयः. ''केवलान्वयि-धर्मावच्छिन्न-पक्षकम्'' इत्यपि क्वचिद्; यथा, ''सर्वम् अनित्यं प्रमेयत्वाद्'' इति. व्यतिरेक-व्याप्तिग्रह-प्रतिबन्धो अत्र दूषकताबीजम् इति च.

(२)''साध्यासमानाधिकरणो हेतुः''=विरुद्धो; यथा, ''गौः अश्वत्वाद्'' इति. अयञ्च स्वरूपासिद्धात् न अतिरिच्यते.

(३)''पक्षे साध्यधीप्रतिबन्धकः''=सत्प्रतिपक्षो; यथा, ''जलम् उष्णं स्पर्शवत्त्वात्'' — ''न उष्णम् अतेजस्त्वाद्''इति.

(४)''व्यभिचाराद्यन्य-परामर्ष-प्रतिबन्धकतावच्छेदक-धर्मत्वम्''=अ-

सिद्धिः. सा त्रिधा (क)स्वरूपासिद्धिः (ख)आश्रयासिद्धिः (ग)व्याप्यत्वासिद्धिः च.

(४/क)''पक्षे हेत्वभावः''=स्वरूपासिद्धिः — ''घटः पृथिवी पटत्वाद्'' इति.

पार्थसारथिमिश्रास्तु *बुद्धो धर्माधर्मवेदी सर्वज्ञत्वात्. नहि सर्वज्ञत्वस्य किञ्चित् स्वरूपम् अस्ति इत्यतो अत्र स्वरूपासिद्धिः * इति **आहुः**.

(४/ख)''पक्षे पक्षतायाः अभावः''=आश्रयासिद्धिः; यथा, ''गगनकमलं पा.भे.३ सुरभि कमलत्वाद्'' इति. अत्र पक्षे कमले गगनीयत्वाभावः.

* ''नित्यम् आकाशम् अनवयवत्वाद्'' इति आकाशानङ्गीकारिणं सौत्रान्तिकं प्रति आश्रयासिद्धिः इति **पार्थसारथिमिश्राः**.

(४/ग)''एतद्भिन्ना असिद्धिः=व्याप्यत्वासिद्धिः;'' यथा, धूलीपटले धूमनिष्ठव्याप्त्यभावः. साध्याप्रसिद्धिः हेत्वप्रसिद्धिः वा व्याप्यत्वासिद्धिः.

(५)''पक्षे साध्यशून्यत्वं=बाधो;'' यथा, जलादौ पक्षे वह्न्यभावः. अयमेव 'कालात्ययापदिष्टः' इति उच्यते.

(६)तथा उपाधिरपि दोषः. लक्षणन्तु ''साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्''=उपाधिः इति; यथा, ''काकः श्यामो, मित्रातनयत्वाद्'' इत्यत्र 'शाकपाकजत्वम्', ''यागीया हिंसा अधर्मसाधनं, हिंसात्वाद्'' इत्यत्र 'निषिद्धत्वम्'. शाकपाकजत्वंहि श्यामत्वव्यापकं, यत्र पुरुषे श्यामत्वं तत्र शाकपाकजत्वस्य वैद्यकादौ निर्णयाद् मित्रातनयत्वस्य च अव्यापकं गौरे

मित्रातनये तदभावात्. एवं 'निषिद्धत्वम्'अपि बोध्यम्. उपाधौ दूषकताबीजन्तु यथासम्भवं व्यभिचारोन्नायकत्वं सत्प्रतिपक्षोन्नायकत्वं च बोध्यम्.

एतैः दोषैः शून्यो हेतुः साध्यानुमापकइति हेतुविचारे एते दर्शिताः.

अनुमानप्रमाणस्य वेदान्तचचार्याम् उपयोगः :

अनुमानञ्च श्रुति-तदनुगृहीत-प्रत्यक्षोपजीवनेन लोके भगवद्गवेषणे व्यवहारे च उपयुज्यते.

तत्र आद्ये उपयोगः उक्तः एकादशस्कन्धे :

"अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम्।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैर् अग्राह्यम् अनुमानतः॥"

(भाग.पुरा.११।७।२३) इति.

प्रयोगस्तु—

"श्रीकृष्णः ईश्वरो, अवस्था-साधन-विरुद्ध-गोवर्द्धनोद्धरणादि-कार्य-कर्तृत्वाद्. यन्नैवं तन्नैवम् इतरवद्. यदेवं तदेवं रामादिवद्."

इति.

श्रुतिशरणानान्तु श्रुत्यैव तादृशज्ञानसम्भवाद् अत्र 'युक्ताः' (भाग.पुरा.१-१।७।२३) इति उक्तम्. अधिकारानुसारेण आपाततः श्रुत्या स्वरूपं ज्ञात्वा ये अत्र विचारे प्रवृत्ताः ते इति अर्थः. व्यवहारेतु उपयोगः स्फुटएव.

धर्मराजदीक्षितास्तु *ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वाद्, यदेवं तदेवं शुक्तिकारजतवद् इति जगन्मिथ्यात्वसाधने उपयोगम्* **आहुः**.

तत् न, तन्त्रान्तरे प्रस्थानान्तरे च अनिर्वचनीयरजतासिद्ध्या दृष्टान्तासिद्धेः. यथाकथञ्चित् सिद्धावपि तन्मिथ्यात्वे ख्यात्यन्तरस्य बुद्ध्याकारत्वस्यैव प्रयोजकत्वेन ब्रह्मभिन्नत्वस्य अप्रयोजकत्वात्. "यदस्ति यन्नास्ति" (विष्णुपुरा.२।१२।३८) इत्यादिवाक्यैः तेषामपि भगवद्रूपत्वाद् "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृह.उप.४।५।७) इत्यादिश्रुतिविरोधेन हेत्वसिद्धेः च. हेतोः 'प्रतीयमानत्व' घटितत्वेतु ओम्! इति ब्रूमः. प्रातीतिकस्य बुद्ध्याकारत्वेन मिथ्यात्वस्य अस्माकमपि अभिप्रेतत्वात्. "न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनादनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे" (भाग.पुरा.१०।८७।३७) इत्यादिवाक्यैः अन्तरा विभातस्य मिथ्यात्वकथनात्. प्रयोगश्च "ब्रह्मान्यत्वेन प्रतीयमानम् अवस्तु आद्यन्तवत्त्वात् स्वाप्निकवत्". नच *विपरीतानुमानेन हेतोः साधारणत्वं* शङ्क्यं, स्वाप्निकानां मिथ्यात्वस्य पूर्वमेव उपपादितत्वात्, स्वप्ने स्त्रिया संसृज्यमानदशां दूरदेशगमनादिदशां च अनुभवतो जागरणे स्त्रिया देशान्तरस्य च अदर्शनात् तत्सत्यत्वस्य बाधितत्वात् च. नच *अनेन जगन्मात्रस्य मिथ्यात्वं* शङ्क्यं, "विमतः प्रपञ्चः स्वोत्कृष्टसत्ताक-सदृशसृष्टिपूर्वकः मिथ्यासृष्टित्वात् स्वाप्निकवद्" इति अनुमानेन, "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृह.उप.४।५।७) इत्यादिश्रुतिभिः, "विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया यथेदानीं तथाचाग्रे पश्चादप्येतदीदृशम्" (.भाग.पुरा.३।१०।१२)इति. "तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवद्" (विष्णुपुरा.१।२२।६०) इति श्रीभागवत-विष्णुपुराण-वाक्याभ्यां च अनुगृहीतेन त्वदुक्तम् उपगम्य मिथ्यात्वसाधनेऽपि ब्रह्मात्मकस्य प्रपञ्चस्य सत्यतायाः निराबाधत्वात्. मिथ्यात्वञ्च — अतत्त्वे सति तत्त्वेन प्रतीयमानत्वं तत्त्वेन कथ्यमानत्वं च.

यत्तु "स्वाश्रयत्वेन अभिमतयावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्" (द्र.चित्सुखी.१।७)इति लक्षणं तत्तु मायावादिनाम् अद्वैतभङ्गायैव नतु अद्वैतसाधनाय, अनेनैव ब्रह्मनिष्ठस्य जगदत्यन्ताभावस्य तत्प्रतियोगित्वेन रूपेण जगतः च सिद्धेः. यच्च "अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः, अंशित्वाद् इतरांशीव दिगेषैवगुणादिषु" (चित्सुखी.१।८) इति सम्मतिं प्रदर्श्य, "पटः एतत्-तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगी पटत्वात् पटान्तरवद्" (चित्सुखी तत्रैव)

इति मिथ्यात्वसाधनाय अनुमानम् उपन्यस्तं, तदपि असङ्गतं, प्रत्यक्षेणैव हेतोः बाधितत्वावगमात्. *ननु अधिष्ठानब्रह्मसत्तायाः तत्र विषयत्वमिति न तेन हेतुदोषसिद्धिः* इति चेद्, 'ब्रह्मसत्ता' इति को अर्थः? "ब्रह्मणः सत्ता" इति वा, "ब्रह्मैव सत्ता" इति वा? न आद्यः, निर्धर्मकत्वाभ्युपगमविरोधात्. न इतरः, 'न चक्षुषा गृह्यते' (मुण्ड.उप.३।१।८) इति श्रुतिविरोधात्. नच *उक्तश्रुतिविरोधो ब्रह्मवादिनोऽपि तुल्यः* इति शङ्क्यं, तस्याः श्रुतेः मूलरूपपरत्वात्, तस्य प्रमाणबलेन अप्रत्यक्षत्वेन अदोषात् च; प्रत्यक्षस्यच घृतद्रवत्ववद् ब्रह्मधर्मात्मकत्वात्, शेषस्य विषयतारूपस्य अन्तरा भानेनैव ब्रह्मधर्मात्मकतत्सत्तायाः भानात् च. अतएव "ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रं विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति मायास्वप्नस्त्रिधागुणविसर्गकृतो विकल्पः" (भाग.पुरा.११।१३।३४) इत्यादि वाक्यानामपि न विरोधो, गुणविसर्गकृतविकल्पस्यैव 'मनोविलासत्व' कथनात्. विकल्पस्यच मनोधर्मत्वेन तत्प्रयोजकस्य तथात्वेन अनभिप्रेतत्वात्. भ्रान्ताः पुनः गौडवार्तिकस्य एतन्मूलकत्वम् अनवगत्य यत् किञ्चित् प्रलपन्तीति उपेक्षणीयाः. एतेनैव विभूत्यध्याये "मनोविकाराएवैते यथा वाचाभिधीयते" (भाग.पुरा..११।१६।४१) इति विभूतीनां मनोविकारत्वमपि व्याख्यातं ज्ञेयं, वाचारब्ध-प्रतिनियत-रूपेणैव तथात्वबोधनात्. एवम् अन्यत्रापि बोध्यम्. इति अनुमानम्.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदे प्रमाकरणस्वरूपनिरूपके द्वितीये कल्लोले अनुमितिप्रमाकरणनिरूपको चतुर्थः तरङ्गः

समाप्तः

पाठभेदावली

१. गोपालकुटिकायां इति **आ ख** पाठयोः. २. "गतिः अन्यैव...परिधावता सह परिधावमानानाम्" इति अधुनाप्रसिद्धः पाठः ३. गगनकमलं सुरभिकमलं सुरभिकमलत्वाद् इति **आ** पाठे.

✻ स्वीकृतेतरप्रमाणानां स्वीकृतेष्वन्तर्भावनिरूपकः पञ्चमः तरङ्गः ✻

उपमानादीनाम् उक्तेषु प्रमाणेषु अन्तर्भावः इति निरूपणम् उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् :

उपमानन्तु न मानान्तरं, सादृश्यातिदेश-वाक्यार्थ-स्मरण-सहकारेण चक्षुरादिनैव संज्ञासंज्ञि-परिच्छेदोपपत्तौ, सादृश्यज्ञानादेः मानान्तरत्वकल्पनस्य अयुक्तत्वात्. अन्यथा योग्यानुपलब्धेरपि मानान्तरत्वापत्तेः. नच ✻एवं सति उपमितेः परोक्षत्वं व्याहन्येत✻ इति वाच्यम्, इष्टापत्तेः. नच ✻चक्षुर्व्यापारापगमेऽपि जायमानत्वात् न एवम्✻ इति वाच्यं, पूर्वं जातस्य ज्ञानस्य करणव्यापारोपरमेऽपि अनुपरमस्य अनुभवसाक्षिकत्वेन पुनर्जननकल्पनायाएव अयुक्तत्वाद्— उपेक्षान्यज्ञानस्य त्रिक्षणावस्थायितायाः अभ्युपगमैकशरणत्वात्.

मानसं वा तद् अस्तु, अतिदेशवाक्यात्—

(क) लक्षणत्वेन पूर्वं ज्ञातस्य, ततः पदार्थस्फुरणेन स्फुरितस्य सादृश्यस्य, संस्कारेण शब्दाभिव्यक्तौ, दृष्ट-संवाद-निश्चित-प्रामाण्यस्य वाक्यस्य च सहकारेण, मनसापि ''अयं 'गवय'पदवाच्यः'' इति संज्ञासंज्ञि-परिच्छेदस्य प्रसिद्धपद-समाभिव्याहृत - वाक्यस्मरण - सहकृत - मनसा 'मधुकरा' दि-शक्तिग्रहस्येव उपपत्तेः,

(ख) तदुत्तरम् ''एतत्पदवाच्यत्वेन एनं जानामि'' इति अनुव्यवसायेन मानसत्वनिश्चयात् च.

इति.

भाट्टास्तु ✻''पूर्वदृष्टे स्मर्यमाणे अर्थे दृश्यमानार्थ-सादृश्य-ज्ञानम्''=

उपमितिः; यथा, ''या असौ अस्माभिः पूर्वं दृष्टा गौः सा अनेन गवयेन सदृशी'' * इत्येवं तदाकारम् आहुः.

तत्रापि 'जानामि' इत्येव अनुव्यवसायात् मानसत्वस्यैव निश्चयः. सादृश्यन्तु निरूपक-भेदसहिष्णु-रूपादिवन्निरूप्य-धर्मः पदार्थान्तरं, निरूपकधर्म-सजातीयो निरूप्यधर्मएव वा.

शास्त्रदीपिकायान्तु * ''अर्थान्तरयोगिभिः सम्बन्धिसामान्यैः अर्थान्तरस्य तादृशो योगः''=सादृश्यं; यथा, निरूपकगोः ये कर्णाद्यवयवाः, तत्सजातीयाएव निरूप्यस्य गवयस्यापि धर्मभूताइति तत्सादृश्यम् अस्य * इति **उक्तम्**.

यत्तु ''तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं सादृश्यम्'' इति, तत् न रोचिष्णु, एकेनापि सदृशबुद्धिसिद्धेः 'भूयः' पदस्य अनतिप्रयोजनत्वात्. नच * एवं सति श्यामत्वमात्रसाधर्म्येण मातङ्ग-मशकयोरपि सदृशत्वप्रतीत्यापत्तिः * इति वाच्यं, श्यामत्व-शरीरित्व-जङ्गमत्वादीनां मातङ्गगतधर्माणां मशके विद्यमानत्वेन 'भूयः' पददानेऽपि तुल्यत्वात्. नच * ते तद्गताः धर्माः नेति न दोषः * इति समञ्जसं, तत्समवेतानाम् अन्यत्र असम्भवेन 'तद्गत' पदस्य साजात्यपरतायाएव औचित्यात्. नच * ततोऽपि भूयांसो विवक्षिताः * इति वाच्यं, तथा सति भूयस्त्वस्य अपर्यवसाने अनवस्थापत्तेः. नच उक्तदूषणानुद्धारः शङ्क्यः, विरोधि-धर्म-ग्रह-प्राबल्येनैव उद्धारसम्भवात्. अतएव सदृशयोरपि यमलयोः गुल्मयोः वा पूर्वं सादृश्यप्रत्ययो, दृष्टेच तूवरत्वकुसुमवर्णादौ वैसादृश्यनिश्चयः इति युज्यते. अतो नैयायिकलक्षणं न अतिरम्यम्. ''सर्वं गङ्गासमं तोयं सर्वे व्याससमाः द्विजाः'' ( ) इत्यादौ तोयत्वादिना एकेनापि धर्मेण साम्याभिलापात्. 'घनश्याम'-'स्वर्णगौर्या'-दिप्रयोगदर्शनात् च उक्तमेव लक्षणं युक्तम् इति दिक्.

अर्थापत्तेः प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् :

* अर्थापत्तिस्तु=''प्रत्यक्षेण शब्देन वा प्रमितस्य अर्थस्य अर्थान्तरं

विना अनुपपद्यमानस्य उपपत्तये अर्थान्तरकल्पना;'' यथा, ''जीवन् देवदत्तो गृहे नास्ति'' इत्यत्र जीवनसंसृष्टगृहाभावस्य अनुपपद्यमानस्य उपपत्तये बहिर्भावकल्पना. सापि प्रमाणान्तरम्* इति **मीमांसकाः**.

नैयायिकास्तु * ''देवदत्तो बहिः अस्ति जीवत्त्वे सति गृहे असत्त्वाद्'' इति केवलव्यतिरेकिणैव तत्कार्यसिद्धेः न सा ततो अतिरिक्ता* इति **आहुः**

तत्र **पार्थसारथिमिश्राः** * ईदृशस्थले अनुमानम् अशक्यवचनं, जीवनसंसृष्ट-गृहाभाव-बहिर्भाव-विषयकयोः ज्ञानयोः एककालिकत्वेन हेतुहेतुमद्भावाभावात्. नच *तयोः न एककालिकत्वम्* इति वाच्यं, बहिर्भावम् अनन्तर्भाव्य जीवन-गृहाभावयोः संसृष्टयोः प्रत्येतुम् अशक्यत्वेन तत्संसर्गग्रहदशायां बहिर्भावान्तर्भावस्य नियतत्वाद् एककालिक-ज्ञानविषयत्वस्य अनपनोद्यत्वात्. *ननु एवं प्रमाणान्तरत्वेऽपि केवलस्य जीवनस्य, गृहाभावस्य वा, गमकत्वाभावात् संसृष्टम् उभयं गमकम् इति अङ्गीकार्यम्. तथासति तथैव संविदा बहिर्भावस्यापि प्रमितत्वाद् एककालमेव मानमिति अर्थापत्तावपि प्रमेयाभावेन प्रामाण्यसिद्धिः न स्याद्* इति चेत्, न, संसृष्टबुद्धेरेव प्रमेयत्वात्. नच *तत्र कारणाभावः!* शङ्क्यः, अन्यथानुपपत्तेरेव कारणत्वात्. अन्यथानुपपत्तिस्तु अर्थान्तरकल्पनया समाधेयत्वेन उच्यमानः प्रमाणसिद्धयोः द्वयोः अर्थयोः परस्परप्रतिघातः. तत्समाधानाय अर्थान्तरकल्पनञ्च अर्थापत्तिः. तयाच समाहिते प्रतिघाते प्रमितयोः संसृष्टबुद्धिः प्रमेयप्रमारूपा * इति **आहुः**.

वेदान्तपरिभाषाकारस्तु * ''उपपाद्यज्ञानेन उपपादककल्पनम्''= अर्थापत्तिः. तत्र उपपाद्यज्ञानं करणं, उपपादकज्ञानं फलम्. येन विना यद् अनुपपन्नं तत् तत्र उपपाद्यं, यस्य अभावे यस्य अनुपपत्तिः तत् तत्र उपपादकम्. यथा रात्रिभोजनेन विना दिवा अभुञ्जानस्य पीनत्वम्

अनुपपन्नमिति तादृशपीनत्वम् उपपाद्यं, रात्रिभोजनस्य अभावे तादृशपीनत्वस्य अनुपपत्तिः इति रात्रिभोजनम् उपपादकम्. रात्रिभोजनकल्पनारूपायां ''प्रमितौ अर्थस्य+आपत्तिः=कल्पना'' इति षष्ठीसमासेन 'अर्थापत्ति' शब्दो वर्तते. कल्पनाकरणे पीनत्वादिज्ञानेतु ''अर्थस्य+आपत्तिः=कल्पना यस्माद्'' इति बहुब्रीहिसमासेन वर्ततइति फलकरणयोः उभयोः तत्पदप्रयोगः * इति आह.

तत् न रुचिरं, कल्पनायाः सम्भावनारूपत्वेन प्रमितित्वायोगात्. उपपाद्यस्य पीनत्वस्य, मेदोरोगेण तृणविशेषजन्य-तन्दुल-पायस-भोजिनः पक्षमात्रम् अभोजनेनापि, दर्शनात्, कल्पनायाः सम्भावनारूपत्वनिश्चयात्, 'कल्पयामि' - इति अनुव्यवसायात् 'प्रमिणोमि' इति अनुव्यवसायाभावात् च प्रमितित्वायोगात्. प्रमितित्वेऽपि तेन[टि.१] विना अनुपपन्नस्य तदभाव-व्यापकीभूताभाव-प्रतियोगित्वाद् व्यतिरेकव्याप्तिसत्त्वेन तज्ज्ञानस्य अर्थापत्तिकरणस्य अनुमानानति-रेकात्. नच * साधनेन साध्यानुमितौ व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्य न अनुपयोगः * इति वाच्यं, बाधकाभावाद्, धूमादौ अन्वयव्याप्तिज्ञानरहितस्य व्यतिरेकव्याप्त्यैव अनुमितिदर्शनात्. नच * सा अर्थापत्त्यैव * इति वाच्यं, तस्याः प्रमाणान्तरत्वस्यैव दुर्लभत्वाद्, 'अनुमिनोमि' इति अनुव्यवसायदर्शनात् तत्करणस्य प्रत्युत अनुमानत्वेनैव सिद्धेः. अतः शास्त्रदीपिकोक्तमेव साधीयः. तत्रापि एष विशषो : 'द्वारम्' इत्यादौ एकस्यैव अर्थस्य प्रमितत्वाद् अनुपपत्तिलक्षणे ''द्वयोः अर्थयोः'' इति द्वित्वं त्याज्यम् इति.

साच अर्थापत्तिः द्विधा : (१)दृष्टार्थापत्तिः (२)श्रुतार्थापत्तिः च इति.

तत्र आद्यातु उदाहृतैव. द्वितीयातु द्विधा : (२/क)अभिधानानुपपत्तिः (२/ख) अभिहितानुपपत्तिः च इति.

(२/क)तयोः मध्ये यत्र वाक्यैकदेशस्य श्रवणे अन्वयाभिधानानुपपत्त्या अन्वयाभिधानोपयोगि पदान्तरं कल्प्यते तत्र अभिधानानुपपत्तिः यथा 'द्वारम्'

१. रात्रिभोजनवान् पीनत्वात् (क).

इत्यादौ 'पिधेहि' इत्यादिपदाध्याहारः. वेदेऽपि "विश्वजिता यजेत" (श.प.ब्राह्म.-१०।२।१।१६) इत्यत्र 'स्वर्गकामः' इति पदाध्याहारः. नच * 'द्वारम्' इत्यादौ अन्वयाभिधानात् पूर्वम् इदम् अन्वयाभिधानं 'पिधानो'पस्थापकपदं विना अनुपपन्नम् इति कथं ज्ञातुं शक्यते * इति वाच्यम्, 'अभिधान' पदेन करणव्युत्पत्त्या तात्पर्यस्य विवक्षितत्वेन द्वारकर्मक-पिधान-क्रिया-संसर्ग-परत्वं 'पिधानो'पस्थापकपदं विना अनुपपन्नम् इति ज्ञानस्य तत्रापि सम्भावितत्वात्.

(२/ख)अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतार्थो अनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन् अर्थान्तरं कल्पयति तत्र द्रष्टव्या. यथा "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" (आप.श्रौ.सू.१०२।१) इत्यत्र वाक्यावगतज्योतिष्टोमस्य क्षणिकतया स्वर्गसाधनतानुपपत्त्या मध्यवर्ति अपूर्वं कल्प्यते * इति वेदान्तपरिभाषाकारः.

वस्तुतस्तु 'द्वारम्' इत्यादौ द्वितीयाभिहिता कर्मता अनुपपन्ना सती स्वान्वययोग्यां क्रियां कल्पयतीति अभिहितानुपपत्तिरेव अर्थाध्याहारपक्षम् आदाय आदरणीया, लाघवात्. तात्पर्यानिश्चयेन कल्पितस्य पदस्य प्रकृतान्वयाभिधानानुपयोगात्. ज्ञातेच तात्पर्ये अर्थस्यैव पूर्वं भानेन अन्वयबोधसम्भवादेव पदस्य अनुपयोगात् च. एवमेव "विश्वजिता यजेत" (श.प.ब्राह्म.१०।२।१।१६) इत्यत्रापि स्वर्गस्य स्वर्गेप्सोः अधिकारिणो वा अध्याहारो नतु तद्वाचकपदस्यापि, न्यायसाम्यात्. नच * एवम् ऊहादिबाधप्रसक्तिः * शङ्क्या, तस्य श्रुत्यनुशयगोचरत्वात्. "पूयति वा एतदृचोऽक्षरं यदेनद् ऊहति तस्मादृचं नोहेद्" ( ) इति श्रुत्या ऋगक्षरातिरिक्तस्य ऊहलाभाद्, "इदम् अहम् अमुष्याम् अमुष्यायणस्य अन्नाद्यं हरामि" (तैत्ति.संहि.३।४।८।५) इत्यादावपि तद्बोधनात्. कल्पेऽपि "'असौ ते पशुः' (तैत्ति.संहि.६।६।४।५)इति द्वेष्यं वा मानसा ध्यायन्, यदि न द्विष्यात् 'आरवुस्ते पशुः" (तैत्ति.संहि.६।६।४।९)इति ब्रूयाद्" (आप.श्रौ.सू.८।१७।१-०/१४।७।२)इति तथा ब्राह्मणेऽपि तद्बोधनात् च. अतो यत्र अधिकारवाक्ये "प्रतितिष्ठन्तीह वै ते यएता रात्रीरुपयन्ति" (ताण्ड्यब्राह्म.२३।२।४) इत्यादौ वादमात्रं श्रुतं तत्रापि 'विधि' शब्दः प्रकृतोपकारस्य पदार्थानां च अपूर्वार्थत्वाय श्रुत्याशयगोचरत्वादेव कल्पनीयः, श्रुतेः शब्दप्रधानत्वात् च, नतु सर्वत्र,

प्रयोजनाभावाद् इति.

एवं द्विविधापि इयम् अर्थापत्तिः यथायथं प्रत्यक्षशब्दयोः अनुग्राहिका, प्रत्यक्षादि-प्रमितार्थ-ज्ञान-दार्ढ्य-हेतुत्वाद्, अभ्यासादिवत्, नतु प्रमाणान्तरं तद्गमकस्य बलीयसो अभावाद् इति.

अनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् :

योग्यानुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वन्तु पूर्वमेव निरस्तम्[टि.१].

ऐतिह्यस्य प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् :

"अविदितकर्तृकः शब्दविशेषः 'इह वटे यक्षः तिष्ठति' इत्यादिरूपः" = 'ऐतिह्य'नामा. स निर्णयाभावात् प्रमाणमेव न भवति. निर्णये शब्दान्तर्गतत्वात् शब्दएवेति न मानान्तरम्.

सम्भवस्य प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् :

सहस्रादिसंख्यया अवयवभूत-शतादि-संख्यावगतिः, आढकपरिमाणेन अवयवभूत-कुडव-परिमाणावगतिः[टि.२] इति 'सम्भवा' ख्यन्तु तदविनाभावनिमित्त-त्वाद् अनुमानान्तर्गतमेव.

लोकप्रसिद्धेः प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् :

लोकप्रसिद्धिस्तु प्रत्यक्षान्तर्गतैव.

चेष्टा-लिप्योः प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् :

चेष्टायास्तु अनुमानएव अन्तर्भावः, लिपेः शब्दस्मारकत्वात् शब्द — इति न तयोरपि प्रमाणान्तरत्वम्.

१. अभावनिरूपणे *(क). २. "आढकम् = २५६-मुष्टिपरिमाणं धान्यं", "कुडवः = १२-मुष्टिपरिमाणः" (श्या).

प्रतिभायाः प्रमाणान्तरत्वनिराकरणम् :

''श्वो मे भ्राता आगन्ता'' इति 'प्रतिभा'ख्यन्तु लिङ्गाद्याभासजन्यत्वेन आगमानिश्चायकत्वादेव अप्रमाणमिति पूर्वोक्तान्येव व्यवहारे प्रमाणानि.

परमार्थेतु शब्दएव इति सिद्धम्.

* ननु तृतीयस्कन्ध-सुबोधिन्यां कापिलेये त्रिप्रमाणवादः उक्तः, ''त्रीण्येव प्रमाणानि इन्द्रियाणि शब्दो मनः च, चक्षुः श्रोत्रं मनो वा'' (सुबो.३।२६।३०) इत्यादिकथनात्, तस्य विरोधः * इति चेत्, न, तस्य मतान्तरत्वात् पक्षान्तरोक्त्या तथा निश्चयाद्, अतो न दोषः.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदे प्रमाकरणस्वरूपनिरूपके द्वितीये कल्लोले स्वीकृतेतरप्रमाणानां स्वीकृतेष्वन्तर्भावनिरूपकः पञ्चमः तरङ्गः समाप्तः

✻ प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वतो वा परतो वेति विमर्शरूपः षष्ठः तरङ्गः ✻

ज्ञानप्रामाण्याप्रामाण्ययोः स्वतस्त्व-परतस्त्वे, तत्र चतुर्विधाः विप्रतिपत्तयः च :

अथ इदं विचार्यते ज्ञानस्य —

(१)प्रामाण्याप्रामाण्ये स्वतो गृह्येते ?

(२)उत परतः ?

(३)उत अप्रामाण्यं स्वतो अन्यत् परतो ?

(४)अथवा प्रामाण्यं स्वतो अप्रामाण्यं परतः ?

इति.

१.उभयस्वतस्त्ववादविमर्शः :

तत्र **केचित्** ✻सर्वकारणानां [पा.भे.१] स्वक्रियाशक्तेः स्वाभाविकत्वाद् उभयमपि ज्ञानस्य स्वरसादेव अवगम्यते✻ इति आहुः.

तत् न, ज्ञानस्य स्वविषय-तथात्वातथात्वयोः युगपद्-बोधनासमर्थत्वात्. नच ✻व्यक्तिभेदेन अदोषः✻ इति वाच्यं, कारणान्तरनिरपेक्षस्य ज्ञानस्यैव उभयोपलम्भकत्वे कया किं कदा बोध्यम् इत्यत्र विनिगमनाविरहात्.

२.उभयपरतस्त्ववादविमर्शः :

नैयायिकादयस्तु ✻द्वयमपि स्वभावेन अनिरूपितं कारणगुणदोषाभ्यामेव अवगम्यते✻ इति आहुः.

तदपि न पेशलं, गुणदोषावधारणात् प्राग् अन्यतरेणापि आकारेण अर्थस्य अनवगमे ज्ञानस्य प्रमाणाप्रमाणविलक्षणत्वापत्तेः.

३.अप्रामाण्यस्वतस्त्ववादविमर्शः :

बाह्यास्तु * अप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यन्तु संवादज्ञानादिभिः. अन्यथा ज्ञानोत्पत्तिमात्रेण अर्थतत्त्वावधारणापत्तेः. नच * इष्टापत्तिः, तथासति अव्यभिचारापत्तेः अनिश्चयात् च. अप्रामाण्यं स्वतः प्राप्तं, पश्चात् कारणगुणज्ञानात् संवादज्ञानाद् अर्थक्रियाज्ञानाद् वा प्रामाण्यावगमाद् अपोद्यते * इति आहुः.

४/क.प्रामाण्यस्वतस्त्ववादिषु भाट्टानां मतस्य विमर्शः :

तत्र भाट्टास्तु * यदिहि सर्वमेव ज्ञानं स्वविषयतथात्वावधारणे स्वयम् असमर्थं सत् समर्थं विज्ञानान्तरम् अपेक्षते, ततः कारण-गुण-संवादार्थक्रिया-ज्ञानान्यपि स्वविषयतथात्वावधारणे समर्थम् अपरम् अपेक्षेरन्, अपरमपि तथेति न कश्चिदपि अर्थो जन्मसहस्रेणापि अध्यवसीयेतेति प्रामाण्यमेव उच्छिद्येत. अथ * अर्थक्रियाज्ञानं प्रमाणम् * इति चेत्, को विशेषः? अव्यभिचारः! इति चेत्, न, स्वप्नावस्थायाम् असत्यपि उदकाहरणे अर्थक्रियाविज्ञानदर्शनात्. अथ सुखज्ञानमेव अर्थक्रिया, तच्च अव्यभिचार्येव, नहि क्वचिदपि असति सुखे सुखज्ञानम् अस्ति. सत्यम् एतत्, नतु तेन पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्याध्यवसानं सम्भवति, अप्रमाणेनापि प्रियासङ्गमविज्ञानेन स्वप्नावस्थायां सुखदर्शनात्. तस्मात् स्वतः प्राप्तं प्रामाण्यम् अर्थान्यथात्व-कारणदोषाभ्याम् अपोद्यते इति अवश्यम् अङ्गीकरणीयम्.

प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वञ्च ज्ञान-ग्राहक-यावत्सामग्री-ग्राह्यत्वमेव. सामग्रीच ज्ञाततालिङ्गकानुमानमेव. ज्ञातताच, "ज्ञातो घटः" इति प्रतीतेः, ज्ञानजन्यो विषयनिष्ठः 'प्राकट्या'परनामा पदार्थः इति. प्रयोगस्तु — "घटो ज्ञानविषयः ज्ञानजन्यज्ञातताधारत्वात् पटवद्" इति. अत्र हेतुतावच्छेदकत्वेन ज्ञानसिद्धिः. यद्वा ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृकर्मणोः आत्मार्थयोः परस्परं व्याप्तृव्याप्तत्वलक्षणः सम्बन्धः स मानसप्रत्यक्षावगतः सन् विज्ञानम् अनुमापयति, आगन्तुककारणं विना आत्मनो अर्थं प्रति व्याप्तृत्वानुत्पत्तेः. तच्च कारणं लोके 'ज्ञान' शब्देन अभिधीयते * इति च आहुः.

४/ख.प्रामाण्यस्वतस्त्ववादिषु प्राभाकराणां मतस्य विमर्शः :

प्राभाकरास्तु * सर्वमेव ज्ञानं मिति-मातृ-मेय-विषयकत्वाद् ''घटम् अहं जानामि'' इत्याद्याकारकमेव स्वप्रकाशमेव च. तत्र यथा अर्थविशेषणं घटत्वादिकं समानसंवित्संवेद्यं तथा ज्ञानविशेषणं तत्प्रामाण्यमपि तद्वित्तिवेद्यमिति ज्ञानमेव तद्ग्राहकसामग्री * इति आहुः. कारणदोष-बाधकज्ञानाभ्यां रहितत्वे सति अगृहीतग्राहित्वं ज्ञानस्य प्रामाण्यम् * इति च आहुः.

तत्र सिद्धान्तः :

अत्र अयं विशेषो अवधेयः :

तथाहि —

(क) साध्यार्थ-लौकिकवाक्य-प्रयोगकाले भाविन्याः क्रियायाः असत्त्वेन तदानीं जायमानस्य[पा.भे.२] ज्ञानस्य क्रियाकर्मादि-संसर्गाग्रहएव जननात्,

(ख) कारणदोषसाहित्येन वक्त्रा स्वानिष्टाननुबन्धित्वादि-सम्भावना-मात्रेणैव वाक्यप्रयोगात्,

(ग) वक्तृ-ज्ञान-विषय-विषयिणः तद्बोधनसमर्थस्यैव पदसमूहस्य प्रयोगेण वाक्यार्थस्यापि अपूर्वत्वाभावात्,

(घ) तादृशवाक्य-जन्यस्य अगृहीतग्राहित्वाभावेन पदार्थकरण-पक्षेऽपि दोषस्य तुल्यत्वात्,

तस्य ज्ञानस्य प्रमाणलक्षणानाक्रान्तत्वेन तादृशस्थले ज्ञानग्राहकसामग्र्या यः प्रामाण्यग्रहः सो अयथार्थः इति मन्तव्यम्. तथासति प्रामाण्यांशे स्मरणत्वापत्त्या तस्य शुक्ति-रजत-ज्ञान-तुल्यत्वापत्तिः प्रवृत्तिसामर्थ्यानुपपत्तिः च स्यात्.

अतः ईदृशस्थले परतो, अन्यत्र स्वतः, इति अर्द्धजरतीमेव युक्ताम्

उत्पश्यामः. एवञ्च न पूर्वोक्तविनिगमनाविरहोऽपि इति दिक्.

एवं प्रमाणविषयेऽनुपपादितं यद्,
यद् विप्रकीर्णमुपपादितमाकरेषु।
सङ्गृह्य तद्गदितमत्र मया तथान्यत्
प्रासङ्गिकं च सुजनव्रजतोषणाय॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतान-श्रीपीताम्बरतनुज-श्रीपुरुषोत्तम-विरचिते
प्रस्थानरत्नाकरे
(प्रमाकरणस्वरूपनिरूपके द्वितीये कल्लोले प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वतो वा परतो वेति विमर्शरूपः षष्ठः तरङ्गः) [टि.१]
प्रमाणपरिच्छेदः
समाप्तः

॥ श्रीः श्रीः ॥

---

१. कोष्ठकान्तर्गता पुष्पिका न ग्रन्थकृल्लिखिता विचार्यविषयविभागेन बोधसौकर्याय साम्प्रतं योजिता (भ्या).

पाठभेदावली

१. कारणानाम् इति **अ क ग च** पाठेषु, कारकानाम् इति **आ ख घ ङ** पाठेषु. २. जायमानस्य इति **अ क ग च** पाठेषु, ज्ञायमानस्य इति **आ ख घ** पाठेषु.

॥ प्रस्थानरत्नाकरः ॥

प्रमेयपरिच्छेदः

॥ ब्रह्माद्वैतनिरूपकः कल्लोलः ॥

॥ ब्रह्मणः परमप्रमेयतानिरूपकः आद्यः तरङ्गः ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

सर्वस्य ब्रह्माभिन्नत्वाद् ब्रह्मैव प्रमेयम् :

अथ शब्दाविरोधेन [पा.भे.१] प्रमेयं निरूप्यते : तत्र तावद् उभयलिङ्गाद्यधिकरणविचारेण, "यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ताद्" (महाना.उप.१।५) "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृह.उप.४।५।७) इत्यादि श्रुतीनां, "दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परं, सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनं यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः" (भाग.पुरा.१०।२८।१४-१५)इत्यादीनां, बृहद्वामनीयसन्दर्भादीनां स्मृतीनां च विचारेण, यथास्थितं नित्यं सर्वं ब्रह्माभिन्नमेवेति ब्रह्मैव प्रमेयं ब्रह्मविदाम् [टि.१].

अनित्यत्वहेतुकस्य ब्रह्मजगद्भेदस्य निरासः :

अयमेव च "न कदाचिद् अनीदृशं जगद्" ( ) इत्यादिश्रुतीनां "तदेतदक्षयं नित्यं जगन् मुनिवराखिलम्, आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत्" (विष्णुपुरा.१-।२२।६०), "विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया यथेदानीं तथाचाग्रे पश्चादप्येतदीदृशम्" (भाग.पुरा.३।१०।१२) इत्यादिस्मृतीनां च, जगतः सदा एकरूपत्वम् आविर्भावादेः विकल्पमात्रत्वं, वदन्तीनाम् आशयः.

१. उपपत्त्या विचारकाणाम् इति अर्थः (अ).

अथ सृष्ट्यादि-बोधकश्रुति-विचारेऽपि "अपि वा तम् आदेशम् अप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतम्" (छान्दो.उप.६।१।२) इत्यादिप्रतिज्ञया "यथा, सौम्य!, एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्" (छान्दो.उप.६।१।४) इत्यादिदृष्टान्तैः "सदेव, सौम्य!, इदम् अग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्. तद्धैक आहुः असदेव इदम् अग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयं तस्माद् असतः सद् अजायत. कुतस्तु खलु, सौम्य!, एवं स्याद्? इतिह उवाच कथम् असतः सद् जायेत" (छान्दो.उप.६।२।१-२) इति मतान्तरनिराकारणेन "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" (छान्दो.उप.३।१४।१) इति हेतूक्त्या "पुरुषएवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्" (पु.सू.२) इति भूत-भविष्यद्-भवद्-व्यवहारदशायामपि सर्वस्य ब्रह्मात्मत्वकथनेन च सर्वदा ब्रह्मैव प्रमेयं तत्त्वविदाम्[टि.१].

नच *अस्मिन् पक्षे प्रपञ्चस्य जन्यत्वादिभिः अब्रह्मत्वं शङ्क्यम् असत्सत्ता-सदसत्तयोः[पा.भे.२] अनङ्गीकरणाद् उत्पत्तिनाशयोः आविर्भावतिरोभावा-त्मकत्वेन तदभावात्. नापि अनित्यत्वात् (अब्रह्मत्वं शक्यं!) घृतद्रवत्ववत् प्रपञ्चस्य आगन्तुकत्वेऽपि ब्रह्मधर्मत्वानपायाद् धर्मस्य धर्मितादात्म्याद् अदोषात्.

<u>प्राकृतत्वहेतुकस्य ब्रह्मजगद्भेदस्य निरासः :</u>

नापि प्राकृतत्व-भेदप्रत्ययाभ्याम् (अब्रह्मत्वं शङ्क्यं!) अन्येषां तत्त्ववित्त्वाभावाद् अन्यथाभाने[टि.२] स्वबुद्ध्या नानामतकल्पनेन तस्य प्रतिक्षेप्तुम् अशक्यत्वात्. लौकिकप्रमाणानां राजसप्रमाजनकत्वेन तस्याअपि विरोधस्य अकिञ्चित्करत्वात्, शास्त्रविरोधं प्रतिसन्दधानानां दृष्टशास्त्रीयसाधनफलानाम् आधुनिकानाम् आस्तिकानाम् अविप्रतिपत्तेः च.

<u>मायिकत्वहेतुकस्य ब्रह्मजगद्भेदस्य निरासः :</u>

नापि प्रपञ्चस्य मायिकत्वं शक्यशङ्कं, उक्तश्रुतिविरोधापातात्. नच *(१) "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृह.उप.२।५।१९) (२)"सैषा वटबीजसामान्यवद् अनेकवटशक्तिः एकैव. तद् यथा वटबीजसामान्यम् एकम् अनेकान् स्वाव्यतिरिक्तान् वटान् स्वबीजान् उत्पाद्य तत्र-तत्र पूर्णं स तिष्ठति; एवमेव, एषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि

१. उत्पत्त्या विचारकाणाम् इति अर्थः (अ). २. भेदादिभाने इति अर्थः (अ).

परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशौ आभासेन करोति माया च अविद्या च स्वयमेव भवति" (नृसिं.उत्त.ताप.उप.९) "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छान्दो.उप.६।१-।५) इत्यादिश्रुतिविरोधः * शङ्कनीयः, (१)आद्ये मायानां पुरुरूपज्ञानकरणतयैव उल्लेखात्, मधुविद्यास्थितार्थसंग्राहकस्य अस्य मन्त्रस्य अन्यथाव्याख्यातुम् अशक्यत्वात् अन्यथाव्याख्याने पूर्वग्रन्थस्य "अयं वै हरयो पञ्चदश च" (बृह.उप.२।५।१९) इत्याद्यग्रिमस्य एतद्विवरणरूपग्रन्थस्य च विरोधप्रसक्तेः. (२)द्वितीयेऽपि "सैषाविद्या जगत् सर्वम्" (नृसिं.उत्त.ताप.उप.९) इति उपक्रान्तायाः जडमोहात्मक-जगद्व्यञ्जकत्वम् उक्त्वा वटबीजाद् वैलक्षण्यं बोधयितुं स्वाव्यतिरिक्त-क्षेत्रदर्शकत्वाभास-जीवेश-कारकत्वोक्ति-पूर्वकं, "चैतन्यदीप्तात् तस्माद् आत्मनएव त्रैविध्यं योनित्वमपि" (नृसिं.उत्त.ताप.उप.९) इत्यनेन आत्मनएव ब्रह्मविष्णुशिव-रूपत्व-योनित्वयोः श्रावणात् सा दर्शयित्र्यैव नतु जनित्रीति पूर्वोक्तस्यैव अर्थस्य अस्मिन् वाक्येऽपि स्फोरणात्.

नच *उक्तश्रुत्या दृश्यानां स्वाव्यतिरिक्तत्वकथनात् तेषां मायिकत्वं दुर्वारम्* इति वाच्यं, सिद्धे आत्मनो योनित्वे तत्प्रतिबिम्बादिभूतानां क्षेत्राणां मायिकत्वेऽपि अदोषात्. मायायाअपि भगवच्छक्तित्वेन शक्तिमदभिन्नत्वात् तथात्वेऽपि भगवद्रूपत्वानपायात्. नच *तादृशत्वमेव सर्वस्य अस्तु!* इति शक्यशङ्कं, मायिकस्य स्वोत्कृष्ट-सत्ताक-सदृशत्व-तदुत्तरभावित्व-नियमस्य इन्द्रजालादिषु दर्शनात् ततः उत्कृष्टसत्ताकस्य तत्सदृशस्य पूर्वम् अवश्याभ्युपेयत्वेन पारमार्थिकस्य ब्रह्मरूपस्य तस्य अदण्डवारितत्वात्. इदं[पा.भे.३] यथा तथा सृष्टिभेदवादे व्युत्पादितम् अस्माभिः. तत्रापि मूलं "यथा महान्ति भूतानि" (भाग.पुरा.२।९।३४) इति द्वितीयस्कन्धस्थ-चतुःश्लोकी-श्लोकस्य सुबोधिनीतो अवगन्तव्यम्. तृतीयेऽपि कार्यस्य कारणाभिन्नत्वबोधनार्थं कार्यप्रकाराणां वाचारब्धत्वं वदति नतु तेषाम् असत्यत्वार्थम् इति "तदनन्यत्व..." (ब्र.सू.२।१।१४) सूत्रादेव अवगम्यत — इत्यतो दोषाभावात्. तस्माद् ब्रह्मैव प्रमेयम्.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमेयपरिच्छेदे ब्रह्माद्वैतनिरूपके कल्लोले

ब्रह्मणः परमप्रमेयतानिरूपकः आद्यः तरङ्गः

समाप्तः

पाठभेदावली

१. शब्दाविरोधेन इति **अ** पाठे नास्ति **आ** शोधनिकेति **क ख ग घ** पाठेषु अनुवर्तते. २. असतः सत्तासदसत्तयोरनङ्गीकारणाद् इति **अ आ क ख ग घ** पाठेषु तथापि सिद्धान्तस्वारस्यसंरक्षणार्थं यथामति संशोधनम्. ३. ''इदं यथा... सुबोधिनीतो अवगन्तव्यम्'' इत्यन्तो भागः **अ** पाठे नास्ति **आ** शोधनिका **क ख ग घ** पाठेषु अनुवर्तते.

।। मूलस्वरूप-लीलार्थप्रकटितरूपविभेदनिरूपको द्वितीयः तरङ्गः ।।

सृष्टिप्रक्रियायाम् उत्पत्त्युपपत्तिभेदेन पक्षद्वयम् :

तच्च ब्रह्म पूर्वं निराकारमेव सच्चिदानन्दात्मकं सर्वभवनसमर्थं निमित्तान्तरमन्तरेणैव अंशतो धर्मरूपेण तदनु क्रियादिरूपेण ततः प्रपञ्चरूपेण च भवतीति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपादकम् "अरूपवदेव हि" (ब्र.सू.३।२।१४) इति पञ्चसूत्र्युक्तम् एकदेशिमतमपि अङ्गीकुर्वता भगवता व्यासेन निर्णीतं "पूर्ववद् वा" (ब्र.सू.३।२।२९) इति सूत्रे. तेन प्रकारद्वयेऽपि ब्रह्मातिरिक्तं न प्रमेयम्. प्रकारद्वयञ्च यथायथं मुख्यामुख्यलीलयोः उपयुज्यते तेन न विरोधः.

उत्पत्तिपक्षानुसारिणी सृष्टिप्रक्रिया :

तत्र द्वितीयपक्षानुसारिणी सृष्टिप्रक्रिया. तत्र[पा.भे.१] बुद्धिसौकर्यार्थं कारण-कार्य-स्वरूपभेदेन त्रिरूपत्वं सर्वनिर्णये व्युत्पादितम्. सृष्टिप्रक्रियातु द्वितीयस्कन्ध(२।९।१)सुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यचरणैः एवं प्रदर्शिता :—

> ब्रह्महि धर्मरूपेण भवद् ज्ञानानन्द-कालेच्छा-क्रिया-माया-प्रकृति-रूपेण पूर्वं भवति. नच सर्वदा तथा भवति इति शङ्कनीयम्, आपादकस्य हेतुभूतस्य कालस्य अभावात्, जातेच काले तस्यैव नियामकत्वात् न सर्वदा भविष्यति. कालस्य नियामकत्वन्तु प्रत्यक्षसिद्धमेव. कालेन सह उत्पन्नानाम् इच्छादिशक्तीनाञ्च सदा एकरूपत्वं भगवान् स्थापयतीति नित्याः ताः.
>
> तत्र कालः क्रियाशक्तिरूपः, "योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम्" (भाग.पुरा.१०।३।२६) इति वाक्यात्

क्रियाशक्तिप्रधानत्वदर्शनात् च.

इच्छातु अभिध्यानरूपा इति "अभिध्योपदेशाच्च" (ब्र.सू.१।४-।२४) इति सूत्रे निर्णीतम्. सैव कामः [पा.भे.२] "सोऽकामयत" (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुत्युक्तः.

तदाकारश्च :—

(क) 'बहु स्याम्'
(ख) 'प्रजायेय'

इति द्विविधः.

(क)तत्र आद्यो भेदरूपः. तेन सच्चिदानन्दधर्माः कालातिरिक्तक्रियाज्ञानानन्दरूपाः स्वयं भिद्यमानाः स्वाश्रयमपि भिन्दन्ति, क्रियावन्तं ज्ञानिनम् आनन्दिनं च कुर्वन्ति, इति अर्थः. तदा स भगवान् त्रिरूपोऽपि सर्वतः पाणिपादान्तो भवन् साकारताम् आपद्यते. एवं भिन्नोऽपि, इच्छया स्वस्य अभिन्नत्वालोचनरूपया, अभिन्नइव अखण्डो भवति इति कार्यविचारेण अवसीयते. अतएव तदपेक्षया कार्यरूपस्य अल्पत्वात् तानि त्रीण्यपि रूपाणि "पूर्णमदः..." (बृह.उप.१।१।-१)इत्यादि श्रुतौ 'पूर्ण' शब्देन उच्यन्ते. अतएव [टि.१] च सद्रूपस्य प्रत्येकपर्यवसायित्वम्. एवमेव इतरयोरऽपि ज्ञेयम्. तयोः आन्तरत्वेन शीघ्रं तथाबुद्धौ अनारोहेऽपि समानयोगक्षेमत्वात्, 'अस्ति-भाति-प्रियम्' इत्येव बुद्धौ आरोहात् च.

शक्तिस्तु सदंशस्य क्रियारूपा, चिदंशस्य व्यामोहिका माया "विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः" (भाग.पुरा.२।५।१३) इत्यादिवाक्योक्ता त्रिगुणा

१. पूर्णत्वादेव इति अर्थः [(क)].

सा जगत्कर्तृभूतायाः [टि.१] [पा.भे.३] मायायाः अंशभूता — आनन्दरूपस्य जगदुत्पत्तौ करणभूता. सापि "सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः" (भाग.पुरा.२।५।१८) इत्यस्य सुबोधिन्यां सम्यग् विवृता, "सर्वरूप [पा.भे.४] -भगवत्सम्बन्धात् सर्वप्रतिकृतिरूपा" (सुबो.२।५।१८) इति. प्रतिकृतिः=सञ्चायकम्. ततश्च मूलरूपोपरि सञ्चायकरूपा सा भवति. ततो मूलरूपे निर्गते अक्षरांशभूतस्य तत्र प्रवेशः तदा तस्मिन् ताम् आकृतिम् इयं सम्पादयतीति देश-काल-वस्तु-रूपा सती कदाचिद् भगवदिच्छया कर्त्र्यपि भवति, नतु तावता मूलकर्तृत्वम्. एतत्त्रितयरूपा शक्तिः, सच्चिदानन्दरूपस्य, 'भाव'-'त्व'-'तला'दिवाच्या, इत्यादिकः पूर्वाकारकस्य कामस्य प्रपञ्चः.

(ख)द्वितीयस्यतु (प्रपञ्चः!) उत्कर्षापकर्षरूपः. तेन त्रिषु आनन्दः उत्कृष्टः इतरौ यथोत्तरम् अपकृष्टौ. तदा इतरौ तं सेवमानौ जातौ, ततः तयोः धर्मौ ज्ञानक्रिये भगवच्छक्तिरूपे जाते तदा स आनन्दो ज्ञानक्रियाशक्तिमान् जातः. तदा चिदंशस्य शक्तिः या व्यामोहिका माया, अविद्या [पा.भे.५] इति यावत्, सा चिदंशात् ज्ञानरूपे धर्मे गते तं व्यामोहयति. सतु बोधरूपोऽपि धर्मरूपज्ञानाभावात् तया व्यामुग्धः आनन्दस्य पृथग्भूतत्वात् तत्सम्बन्धेन आनन्दो भविष्यति इति बुद्ध्या तया सम्बद्ध्यते. ततो व्याकुलः सन् सदानन्दकृतसृष्टौ यः सूत्रात्मा आसन्यो दशविधप्राणरूपः तम् अवलम्ब्य तिष्ठति. तदा प्राणधारणप्रयत्नवत्त्वाद् 'जीवः' इति उच्यते. सदंशस्तु

१. वस्तुतस्तु जन्माद्यधिकरणे "उत्पत्तिस्थितिनाशानां जगतः कर्तृ वै बृहत् वेदेन बोधितं तद्धि नान्यथा भवितुं क्षमम्" इति श्रीमदाचार्यवचनप्रामाण्यात् ब्रह्मणएव कर्तृत्वम्; "प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत्" (त.दी.नि.१।२३) इत्यस्य आवरणभङ्गे "मायाङ्गीकारपक्षेपि करणरूपायाः तस्याः स्वरूपानतिरिक्तत्वाद् अभिन्ननिमित्तोपादानत्वं फलितमित्यर्थः" इति ग्रन्थकृतैव विवरणात् च मायायास्तु करणत्वमेव इति सिद्धान्तः (ग्या).

क्रियाशक्तेः गतत्वाद् अव्यक्तताम् आपद्यते जडः च भवति. पश्चात् मूलभूतक्रियांशाभिः क्रियाभिः यथायथं शरीरादिरूपेण अभिव्यज्यते. पश्चात् तस्यां क्रियायां तत्कृते धर्मे वा तिरोभूते तिरोभवति. तदापि तस्यां क्रियायां जातायां यो, "नामरूपे व्याकरवाणि" (छान्दो.उप.६।३।२) इति रूपया मूलेच्छया जातो घटादिशब्दः, स जीवे भगवति बुद्धौ च अभिव्यक्तएव तिष्ठन् ध्वस्तादिव्यवहारम् उपपादयति. एतस्य दशविधत्वं[पा.भे.६] "यथा महान्ति भूतानि" (भाग.पुरा.२।९।३४) इत्यस्य सुबोधिनीतो अवगन्तव्यम्. एवं चिद्रूपोऽपि ज्ञानशक्त्यंशभूतैः ज्ञानैः अभिव्यज्यते तिरोभवति च. तस्यच विभागः प्रमाणप्रकरणारम्भ-एव[पा.भे.७] अस्माभिः प्रदर्शितः.

एवमेव आनन्दव्यवस्थापि ऊह्या. आनन्दरूपस्य विभागस्तु सर्गादीनां दशानाम् "अदीनलीलाहसित..." (भाग.पुरा.२।२।१२) इति श्लोकोक्तरीत्या स्वरूपधर्मत्वेन ज्ञेयः. यद्यपि श्रुतौ पिपालयिषा-संजिहीर्षे स्फुटे न उक्ते तथापि पूर्वरूपतिरोभावं विना उत्तररूपाविर्भावाभावात् 'प्रजायेय' (छान्दो.उप.६।२।३, तैत्ति.उप.२।६) इत्याकारेणैव सङ्गृहीते. एवञ्च उभाभ्याम् इच्छाभ्यां सच्चिदानन्दरूपेभ्यो यथायथं प्राणाद्याः जडाः चिदंश-जीव-बन्धन-परिकर-भूताः सदंशाः, जीवाः चिदंशाः बन्धनीयाः, आनन्दांशाः तन्नियामकाः अन्तर्यामिणः च विस्फुलिङ्गन्यायेन व्युच्चरन्ति. एवं बद्धेषु जीवेषु यस्मै भगवान् तां पूर्णां ज्ञानशक्तिं प्रयच्छेत्, तदा तां मोहिकां मायां त्यजति, प्रयत्नञ्च त्यजति. स्वरूपे चिद्रूपे च अवतिष्ठते अपराधीनः च भवति. जगत्कर्तृत्वन्तु न भवति. तस्य सा माया शक्तिः न भवति, उत्कर्षोऽपि न भवति, आनन्दस्यैव उत्कृष्टत्वात्. हीनतातु आपाततो वर्तते. आनन्देन सह मिलितस्तु आनन्दोऽपि भवति, स चेत् स्वधर्मेण तं गृह्णीयात्.

इयं प्रक्रिया सर्वश्रुतिवाक्यानुरोधेन श्रुतार्थापत्तिसिद्धा सर्वत्रैव उपयुज्यते. अन्यथा प्रक्रियातु वाक्यानि बाधते.

इति सृष्टिप्रक्रिया.

सृष्ट्याविर्भावस्य अवान्तरप्रक्रिया :

एतदवान्तरप्रक्रियास्तु शास्त्रार्थनिबन्धे षोढा प्रदर्शिताः.

तत्र प्रथमं "आकाशवद् व्यापकं हि" (त.दी.नि.१।२५) इति द्वाभ्यां ब्रह्मस्वरूपम् उक्त्वा ततो "बहु स्याम्" (त.दी.नि.१।२७।) इति इच्छाप्रकारद्वयम् उक्त्वा "तदिच्छामात्रतः तस्माद्" (त.दी.नि.१।२७) इति द्वाभ्यां "स यथोर्णनाभिः तन्तुना उच्चरेद्" (बृह.उप.२।१।२०) इति दृप्तबालाकिब्राह्मणश्रावितः साक्षात् सर्वसृष्टिप्रकारः उक्तः. तत्र प्राण-लोक-देव-भूतानि सदंशाः. "सर्वए(ते!)व आत्मानः" (बृह.उप.२।५।१५) इति 'आत्म' पदन्तु "गुहां प्रविष्टौ" (कठोप.१।३-।१) इति श्रुत्यन्तरानुरोधाद् जीवान्तर्यामिणोः संग्राहकम्. एवम् एतेषां स्वरूपभेदे कारणस्वरूपभेदोऽपि अर्थाक्षिप्तइति "बहु स्याम्" (छान्दो.उप.६।२।३) इति इच्छया प्रथमं सच्चिदानन्दानां भेदो द्वितीयस्कन्धप्रक्रियायाम् उक्तः. तेषां कारणरूपाणां त्रयाणां पूर्णत्वं यद् उक्तं, श्रुतौ, तद् एवं ज्ञेयं :—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥"

(बृह.उप.१।१।१)

इत्यस्य अर्थः : 'अदः' परोक्षं ब्रह्म आनन्दरूपं, 'पूर्णं' "आकाशवद् व्यापकम्" (त.दी.नि.१।२५) इतिकारिकोक्तरीतिकं, 'इदं' ज्ञानरूपं द्वितीयपुरुषरूपं, 'पूर्णं' पूर्वोक्तरीतिकं, 'पूर्णात्' द्वितीयात्, 'पूर्णं' सद्रूपं प्रथमपुरुषरूपम्, 'उदच्यते' उद्रिच्यते, पूर्णात्मस्वभावात्यागेन उद्गच्छति इति अर्थः. कार्यस्वरूपस्य

प्रलये प्रत्यापत्तिदशायां तद्रूपत्वम् आह 'पूर्णस्य' सदादिरूपस्य ब्रह्मणः, 'पूर्णं' एकरसत्वम्, 'आदाय' भगवत्करुणया तद्दत्तं गृहीत्वा, 'पूर्णमेव अवशिष्यते' तद्रूपमेव भवति इति अर्थः इति.

क्रमसृष्टिप्रक्रियातु छान्दोग्य-तैत्तिरीयादौ "तद् ऐक्षत बहु स्याम्" (छान्दो.उप.६।२।३) इति "तत् तेजोऽसृजत" (छान्दो.उप.६।२।३) इत्यादि "तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः" (तैत्ति.उप.२।१।१) इत्यादिना उक्ता.

तत्र सदंशोद्गमे एवं प्रकारभेदः : जीवान्तर्यामिणोस्तु तैत्तिरीये देहप्रवेशोत्तरं भेदः उक्तः "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवद्" (तैत्ति.उप.२।६) इत्यादिश्रावणात्. द्वितीयस्कन्धोक्तं तत्रापि अविरुद्धम्. एवम् अन्यत्रापि विचारेण अनुसन्धेयम्.

सृष्ट्यनन्तरं कार्यविचारेतु यद्यपि बृहदारण्यके त्रयं श्रावितं "त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म" (बृह.उप.१।६।१) इति तथापि छान्दोग्ये कर्म न्यक्कृत्य "अनेन जीवेन आत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छान्दो.उप.६।३।२) इति द्वयमेव श्रावितं तेन नामरूपभेदा द्विविधैव सृष्टिः.

तत्र रूपसृष्टौ पञ्चात्मको भगवान् कारणं—

"द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीवएव च।
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नचान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥"
(भाग.पुरा.२।५।१४)

इति द्वितीयस्कन्धे रूपसृष्टि-प्रकरणीय-वाक्यात्.

तत्र 'द्रव्यं' माया, "प्रकृतिर्ह्यस्योपादानम्" (भाग.पुरा.११।२४।१९) इति

अग्रेतु महाभूतादिकम्.

अवान्तरसृष्टौतु :—

"अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर् यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥"
(भग.गीता.१८।१४-१५)

इति गीतावाक्याद् एते पञ्च हेतवः : तत्र 'अधिष्ठानं' शरीरं, 'कर्ता' जीवः, 'पृथग्विधकरणम्' इन्द्रियाणि. 'विविधाः चेष्टाः' प्राणधर्मभूताः, 'दैवं' भगवदिच्छादि इति रूपसृष्टिव्यवस्था.

नामसृष्टौतु "स एष जीवो विवरप्रसूतिः" (भाग.पुरा.११।१२।१७) इति पूर्वप्रकरणोक्तैकादशस्कन्धीयवाक्यात् सूत्ररूपएव भगवान् सुषुम्णामार्गेण व्यक्तो भवन् घोषात्मा शब्दब्रह्मरूपः प्रकाशते. ततः सएव घोषो नादात्मा वर्ण-पद-वाक्य-नामको भवति. तद्विषयको विचारः सर्वोऽपि प्रमाणपरिच्छेदएव उक्तइति न पुनः उच्यते.

अतः परं बुद्धिसौकर्यार्थं तारतम्यज्ञानार्थं च प्रमेयं त्रिरूपेण वर्ण्यते स्वरूप-कारण-कार्य-कोटिभेदात्.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमेयपरिच्छेदे ब्रह्माद्वैतनिरूपकः कल्लोलः
मूलस्वरूप-लीलार्थप्रकटितरूप-विभेदनिरूपको
द्वितीयः तरङ्गश्च समाप्तः

पाठभेदावली

१. "तत्र... सृष्टिप्रक्रियातु" इत्येतावान् भागः **आ** शोधनिका **क ग** पाठयोः

नास्ति. २.सर्वकाम इति **ख** पाठो अशुद्धः. ३. सा जगत्कर्तृभूतायाः मायायाः अंशभूता इति **अ** पाठे न उपलभ्यते, सा जगत्कर्त्र्याः मायायाः इति **ख** पाठः, गृहितस्तु **क ग** पाठानुसारेण. ४. "सर्वरूप... वस्तुरूपा सती" इत्यन्तो भागः **अ** पाठे नास्ति **आ** शोधनिका. ५. अविद्या इति यावत्, इति **अ** पाठे नास्ति **आ** शोधनिका. ६. "एतस्य ... अवगन्तव्यम्" इत्यन्तो भागः **अ** पाठे नास्ति **आ** शोधनिका. **ग** पाठे अनुवर्तते. ७. विभागः प्रारंभएव इति **अ, ख** पाठयोः, गृहितस्तु **क ग घ** पाठानुसारेण.

॥ प्रमेयरूपब्रह्मणः कोटित्रयनिरूपकः कल्लोलः ॥

॥ प्रमेये स्वरूपकोटिनिरूपकः आद्यः तरङ्गः ॥

स्वरूपकोटौ (१)क्रिया-(२)ज्ञान-(३)तदुभयवैशिष्ट्य-भेदेन त्रैविध्यम् :

तत्र स्वरूपकोटौ भगवान् (१)क्रिया-(२)ज्ञान-(३)तदुभयविशिष्ट-भेदेन त्रिविधः.

(१)तथाहि — वेदादिभावापन्नशब्दस्यैव अत्र प्रमाणत्वात् तस्य[टि.१] पूर्वकाण्डे यज्ञएव प्रतिपाद्यते. सच[टि.२] यद्यपि "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति.ब्राह्म.१।२।१।५।१) इत्यादि(श्रुति)भिः "नारायणपरा लोका देवा नारायणाङ्गजाः" (भाग.पुरा.२।५।५) इत्यद्युपबृंहणसहिताभिः तात्पर्यतो भगवदात्मकएव निश्चितः; तथापि, अनुष्ठानम् आरभ्य फलानुभवपर्यन्तायां दशायां साधनत्वेन क्रियैव प्रतीयतइति क्रियायाम् अन्तर्हितएव सन् पूर्वकाण्डार्थरूपः.

(२)एवं द्वितीयकाण्डेऽपि सच्चिदानन्दात्मकम् अनन्तरूपम् अननन्तगुणं अनन्तशक्ति ब्रह्म प्रतिपाद्यते; तथापि, गुरूपसत्तिम् आरभ्य चरमवृत्तिपर्यन्तम् अनन्तरं च ज्ञानमेव प्रतीयतइति ज्ञाने अन्तर्हितमेव सद् उत्तरकाण्डार्थरूपम्.

(३)तदुपबृंहणेषु गीताश्रीभागवतादिषुतु भक्तिविषयत्वेन ज्ञान-क्रिया-विशिष्टः साकारो अनन्तगुणपूर्णः प्रतिपाद्यते. परमभक्त्याच तादृशएव प्रकटो भवतीति भक्तिः तत्र गुणीभवतीति ज्ञानक्रियारूपविशिष्टएव तदर्थरूपः इति.

त्रिविधोऽपि प्रमाणानुरोधिप्रमेयात्मा स्वरूपकोटिः. अक्षरम् उत्तरकाण्डार्थे, कर्म पूर्वकाण्डार्थे प्रविशति, कालोऽपि "कालोऽस्मि..." (भग.गीता.११।३२) इति "कालरूपोऽवतीर्णः" (भाग.पुरा.१।१३।४८) इति "प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेष-

१. 'तस्य' इति वेदस्य इति अर्थः(श्या). २. 'सच' इति यज्ञः इति अर्थः(श्या).

स्य मानवि! चेष्टा यतः स भगवान् 'काल' इत्युपलक्षितः" (भाग.पुरा.३।२६।१७) इत्यादिवाक्येभ्यो अन्तःसच्चिदानन्दरूपत्वात् गुणाभिमानिनां ब्रह्मादीनां भयजनकत्वात् च स्वरूपकोटौ. एवं स्वभावोऽपि शास्त्रे उत्पत्त्यनुक्त्या अनभिमानत्वयुक्त-नित्यत्व-विभुत्वाभ्यां लिङ्गाभ्यां स्वरूपकोटौ ज्ञेयः. अन्तर्यामिणां स्वरूपभूतत्वेऽपि जीवेन सह काये प्रवेशात् तद्भेदानां आनन्त्येऽपि कारणीभूत-वक्ष्यमाण-तत्त्वशरीरे प्रविश्य तत्साहाय्यकरणात् कारणकोटावेव निवेशो नतु[पा.भे.१] स्वरूपकोटौ. अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तः एको अन्तर्यामीतु भगवानेव, अतो न कोऽपि शङ्कावकाशः. क्रमसृष्टिरूपां पौराणप्रक्रियाम् आदाय सर्वनिर्णयनिबन्धे अक्षरादयो लक्षिताः च.

तत्र स्वरूपकोटिगताक्षरब्रह्मस्वरूपनिरूपणम् :

तत्र "प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माभवत् पुरा यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते" (त.दी.नि.२।९८) इति अक्षरलक्षणम्. इदमेव तृतीयस्कन्धे मैत्रेयेण "आण्डकोशो बहिरयम्" (भाग.पुरा.३।११।३९) इत्यादिना तत्र कार्यस्थितिकथनेन समवायित्व-बोधनपूर्वकं लक्षयता "तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणं विष्णोर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः" (भाग.पुरा.३।११।४१) इत्यनेन उक्तं, सर्वकारणयोः प्रकृति-पुरुषयोरपि कारणम् इति. भगवताच एकादशे "आसीद् ज्ञानमयो[पा.भे.२] ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्" (भाग.पुरा.११।२४।२) इति उपक्रम्य "तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं वाङ्मनोगोचरातीतं द्विधा समभवद् बृहत् तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृति सोभयात्मिका ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते" (भाग.पुरा.११।२४।२-४) इत्यनेन उक्तम्. एतदेव पूर्वोक्तानां त्रयाणां पूर्वरूपाणां मूलभूतं ज्ञानप्रधानं गणितानन्दं 'ब्रह्म'-'कूटस्था'-'ऽव्यक्ता'-'ऽसत्'-'तमः' इत्यादिपदाभिधेयम्.

केचित्तु *स्थूलसूक्ष्मदेह-द्वयावच्छिन्नं चैतन्यं 'कूटस्थ' पदवाच्यम्* आहुः, तत् न, शक्तिग्राहकस्य अलाभात्. अतो योगएव तत्र आदरणीयः. इदमेव "मूलरूपचरणासनलोकादिरूपं व्यापिवैकुण्ठः" इत्यपि उच्यते. अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादरूपेण हंसस्वरूपे पुच्छरूपेण च भवति. ज्ञानमार्गे फलरूपमपि एतदेव. इति अक्षरं निरूपितम्.

तत्र कालस्वरूपनिरूपणम् :

एतस्यैव रूपान्तरं काल-कर्म-स्वभावाः, कालस्य अंशभूतौ वा कर्म-स्वभावौ.

तत्र "[१]अन्तःसच्चिदानन्दो [२]व्यवहारे ईषत् सत्त्वांशेन प्रकटः कालः" इति कालस्य स्वरूपलक्षणम्.

अतीन्द्रियत्वेन कार्यानुमेयत्वेन च ईषत् सत्त्वांशेन प्रकटत्वम् आकाशादेरपि अस्तीति तद्वारणाय [१]आद्यं दलम्, अक्षरवारणाय [२]द्वितीयम्. इदञ्च "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्" (भग.गीता.११।३२) "कालेनाव्यक्तमूर्तिना" (भाग.पुरा.३-।१०।१२) इति वाक्यानुरोधि.

"नित्यगत्वे सति सकलाश्रयः सकलोद्भवो वा कालः" इति कार्यानुसारिलक्षणम्. तत्र आद्ये [टि.१] अक्षरवारणाय द्वितीये ईश्वरेच्छादिवारणाय सत्यन्तम्. प्राणादिवारणाय द्वितीयं, श्रुतौ 'अनस्तमितत्व'(बृह.उप.१।५।२२)बोधनेन तस्यापि नित्यगत्वात्. एतेनैव [टि.२] चिरक्षिप्रादिव्यवहारस्य अतीतानागतादिव्यहारस्य च उपपत्तिः. "गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयाऽसृजद्" (भाग.पुरा.३।१०।११) इति वाक्यानुसारि च इदं लक्षणम्. एतस्य प्रथमं कार्यं गुणक्षोभः, "कालाद् गुणव्यतिकरः" (भाग.पुरा.२।५।२२) इति वाक्यात्. एतस्यच सूर्यादयः आधिभौतिकं रूपं, परमाण्वादि-द्विपरार्धान्तम् आध्यात्मिकम्, आधिदैविकं "कालोऽस्मि..." (भग.गीता.११।३२)इति वाक्याद् भगवानेव.

तत्र यावता कालेन सूर्यरथचक्रं परमाणुमात्रं देशं व्याप्नोति स कालः परमाणुः. चतुर्मुखायुः द्विपरार्धम्. परमाणुस्तु [१]"सदा, [२]संयोगावस्थां

१. इतआरभ्य कालस्य कार्यानुसारिलक्षणं **अ आ क ख ग घ** सर्वास्वेव मातृकासु एवमेव उपलभ्यते तथापि "तथापि अक्षरवारणाय 'नित्यगत्वम्', ईश्वरेच्छावारणाय 'सकलाश्रयः', प्राणादिवारणाय 'सकलोद्भवः' इति आशयस्तु स्फुटएव (व्या) २. नित्यगत्वेनैव इति अर्थः (अ).

[३] कार्यावस्थां च अप्राप्तो, [४] अतिसूक्ष्मः सदवयवः''. तद् उक्तं "चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः" (भाग.पुरा. ३।११।१) इति.

[४] 'अतिसूक्ष्मः' इति विभाजकाघातासहिष्णुः. [२] ''संयोगावस्थाम् अप्राप्तः'' इति यत्र एकः तिष्ठति तत्र बहवः पृथग्भूताः तिष्ठन्ति. "अणोरणीयान्..." (कठोप. २।२०) इत्यादिश्रुत्या भगवतोऽपि अतिसूक्ष्मत्वम् उपपद्यत-इति तद्वारणाय 'संयोगे'इत्यादि. [३] ततः कार्योत्पत्तिवारणाय 'कार्ये'त्यादि. [१] कदाचित् संयोगे तस्यां दशायां परमसूण्मतानिवृत्तौ लक्ष्याभावादेव लक्षणस्य आगमने असम्भवः स्यादिति तद्वारणाय 'सदे'ति.

सिद्धान्तेतु स्थूलादेव प्रकृत्यादेः सकाशात् कार्यस्य महदादेः उत्पत्तिः. कारणत्वन्तु जन्यभात्वावच्छिन्नं प्रति कार्ययोग्यावयवस्थूलांशत्वेन अनुगतम्.

नच [*] सूक्ष्मैरेव तन्तुप्रभृतिभिः पटादिजननदर्शनाद् अयं नियमः प्रत्यक्षविरुद्धः [*] इति वाच्यं, तत्रापि स्थूलांशस्यैव कार्पासादेः दीर्घावस्थां प्राप्तस्य आकृतिविशेषसम्पादनार्थं खण्डशो अवयवयोजने यः समुदायः तस्यैव उपादानत्वमिति ततः सूक्ष्मस्यैव पटादेः उत्पत्तेः. अन्यथा यन्त्राद् तदुत्तारणे छेदः तन्त्वादेः न क्रियेत. यत्रतु प्रकारान्तरेण पटोत्तारणं तत्रापि समस्यैव उत्पत्तिः नतु स्थूलस्य इति अविरोधात् कारणतानुगमकरूपालोपात् च. कुण्डलप्रतिमादावपि मणि-सुर्वण-लाक्षादि-समुदायस्यैव उपादानत्वम् इति अन्यत्रापि तथैव ऊह्यम्. एवं गर्भादावपि बीजरजस्समुदायस्यैव उपादानता. कारणस्थूलतातु बहिः तदंशदर्शनात् स्पष्टैव. एतेन अण्डजाअपि व्याख्याताः. स्वेदजाअपि स्थूलादेव स्वेदाद् उत्पद्यन्ते. उद्भिज्जास्तु प्रथमम् अङ्कुरन्तीति बीजात् सूक्ष्माएव. अतएव यावत् न उप्यन्ते तावद् अङ्कुरभावएव तिष्ठति इति युज्यते. उप्तानां वृद्धिस्तु आहारन्यायेन बोध्या. यत्र पुनः लोहदारुदन्तनिर्यासादिभिः पर्यायेण अवयवयोजनं, गृहादौ च इष्टकादिभिः, तत्रापि पटन्यायएव अतः एकस्य एकमेव उपादानम् इति निश्चयः. अन्यथा

कारणगुणानां कार्यगुणारम्भकत्वात् कारणगतैकत्वैः प्रत्येकम् एकत्वारम्भे कार्ये अनेकैकत्वप्रतीतिः अनारम्भे तत्तद्गतैकत्वैः अपेक्षाबुद्ध्या बहुत्वमेव प्रतीयेत नतु एकत्वम्, अतः एकस्य एकमेव उपादानम् इति अवदातम्.

किञ्च परमाणुकारणवादे कार्यस्य पाञ्चभौतिकत्वाद् जलादयः संयुक्ताः भवन्तीति तेऽपि ततः पृथग्भूताः परमाणुत्वम् आपद्येरन्. नच एवम् अभ्युपगन्तुं शङ्क्यं, प्रत्यक्षविरोधात् मृत्तिकादौ तथा अदर्शनात्. *ननु परमाणुभ्यः सृष्ट्यनङ्गीकारे तदभ्युपगमस्य किम् आवश्यकत्वम्* इति चेद्, उच्यते, देहेन सह आत्मनः ऐक्यभ्रमस्य तत्कार्यत्वेन तदङ्गीकारस्य आवश्यकत्वात्. धर्माधर्मसंस्कृतैः तैरेव जीवस्य देहेन सह ऐक्यभ्रमात्. *ननु एवं सति पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्तिपक्षापत्तिः* इति चेत्, न, इष्टापत्तेः. "पीवेति राशौ न विदां प्रवादः" (भाग.पुरा.५।१०।९) इत्यादिस्मृतौ शरीरे राशित्वकथनाद् भ्रमार्थमेव तदङ्गीकारात्. बहिर्दृश्यमानस्तु अवयवी तेभ्यो अतिरिक्तएव, संघातरूपत्वात्, सामुदायिकः च अयम् अतो न कापि अनुपपत्तिः. ननु *स्थूलात् सूक्ष्मोत्पत्त्यङ्गीकारे विभागाद् उत्पत्तिः अङ्गीकृता भवति तथा सति नाशः कस्माद् अङ्गीकार्यः* इति चेत्, संयोगादेरिव इति ब्रूमः, सत्कार्यवादिभिः प्रतिसञ्चरस्यैव अङ्गीकारात्. लोकप्रत्यक्षानुग्रहायतु पाश्चात्यकार्याणाम् उभाभ्यां यथासम्भवं नाशोत्पत्ती. अतएव जलसंयोगेन वह्नेः, कपालविभागात् च घटस्य नाशः, तक्षणाद् दन्तचषकादेः, तन्तुसंयोगात् च पटस्य उत्पत्तिः सङ्गच्छते. *ननु परमाणुभ्यः सृष्ट्यनङ्गीकारे स्थूलात् च अङ्गीकारे मनसोऽपि सृष्टिः न स्यात्. तथा सति "ब्रह्मणो मानसाः पुत्राः" (महाभा.आदि.पर्व.५९।१०) इत्यादिवाक्यविरोधापत्तिः* इति चेत्, न, तस्य परमाणुपरिमाणत्वेऽपि परमाणुत्वाभावात्. अन्यथा परमाणूनां पञ्चविधत्वापत्तेः. "भौतिकत्वे सति नित्यो गतिमान् परमाणुः" इति वैशेषिकलक्षणन्तु बाधितमेव, सर्गादौ भूतासिद्ध्या भौतिकत्वस्य अशक्यवचनत्वात्. नच पा.भे.३ *"भूतत्वे सति" इत्येव विशेषणीयम्* इति वाच्यं, तथात्वेऽपि नित्यत्वस्य अशक्यवचनत्वात्, श्रुत्या स्मृतेः बाधाद् इति दिक्. एवं परमाणुदेशेन कालपरमाणौ ज्ञाते ततः पुराणाद्युक्तरीत्या द्विपरार्द्धावधिः

आध्यात्मिको ज्ञेयः. इति कालो निरूपितः.

तत्र कर्मस्वरूपनिरूपणम् :

अथ कर्म. तल्लक्षणञ्च : "[१] विधिनिषेधप्रकारेण लौकिकक्रियाभिः प्रदेशतो अभिव्यञ्जनयोग्या [२] व्यापिका क्रिया" इति. [१] कालिकक्रियावारणाय 'योग्यान्तम्', [२] 'व्यापिका' इतितु स्वरूपकथनमात्रपरम्. एवञ्च "सर्वकर्माणि मनसा" (भग.गीता.५।१३) इत्यादौ बहुवचनं तदंशाभिप्रायेण बोध्यं लौकिकक्रियापरत्वेन वा बोध्यम्. एतनैव [टि.१] अदृष्टस्यापि आत्मगुणत्वं निराकृतं वेदितव्यम्. एवञ्च 'अपूर्वा'-'ऽदृष्ट'-'धर्मा'-'ऽधर्मा'दिपदैरपि इदमेव उच्यते. अतः साधारण्येऽपि फलव्यवस्थोपपत्तेः न कर्मनानात्वम् इत्यपि. दान-हिंसादौतु'धर्माधर्मा'दिप्रयोगो अभिव्यञ्जकत्वोपाधिना भाक्तः. एवञ्च यागादपि साक्षादेव स्वर्गसिद्धिः इति दिक्.

नच [*] कर्मणः एकत्वे सर्वसाधारणत्वात् "पुण्यदः पुण्यमाप्नोति पापदः पापभाग् भवेत्" ( ) [*] इत्यादिवाक्यानुपपत्तिः, पूर्वक्रियया अभिव्यक्तस्य तदंशस्य वचनबलेन पुत्रेष्ट्यादिवद् व्यधिकरणफलसम्पादकत्वात् सुखेनैव उपपत्तेः. अतएव विश्वामित्रादेः त्रिशंक्वादीनां स्वर्गोऽपि उपपद्यते. एतस्यच अभिव्यक्त्यनन्तरं फलसमापनावधिः प्राकट्यं फल-भोग-जनक-क्रियया क्रमेण तिरोभावः इति दिक्. एतस्यच मुख्यं कार्यं जन्मरूपं, "कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठिताद् अभूत" (भाग.पुरा.२।५।२२) इति प्रथमतएव जन्मजनकत्वोक्तेः. इति कर्म निरूपितम्.

तत्र स्वभावस्वरूपनिरूपणम् :

अथ स्वभावः. 'परिणामहेतुत्वं' तल्लक्षणम्. स्वरूपन्तु भगवदिच्छाऽऽकारकं नतु इच्छैव, "कालं कर्म स्वभावं च" (भाग.पुरा.२।५।११) इति वाक्ये 'उपाददे' इति कथनात्. अयमपि व्यापकः सर्ववस्तु पश्चात्कृत्य

१. प्रतिपुरुषक्रियाभिव्यंग्यत्वकथनेनैव इति अर्थः (क).

स्वयं गोचरो भवति. यथा स्वभावदुष्टेषु ज्ञानादिकं तिरस्कृत्य प्रागेव अनुभवम् आरोहति. यत्रापि न आरोहति तत्रापि "परिणामः स्वभावतः" (भाग.पुरा.२।५।२२) इति वाक्यात् तत्कार्येण परिणामेन अनुमेयइति न विशिष्य तत्र कश्चिद् विचारः. इति स्वभावः. इति स्वरूपकोटिः.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमेयपरिच्छेदे प्रमेयरूपब्रह्मणः कोटित्रयनिरूपके कल्लोले स्वरूपकोटिनिरूपकः आद्यः तरङ्गः

समाप्तः

पाठभेदावली

१. "नतु... शङ्कावकाशः" इत्येतावान् भागो **आ** शोधनिका **क ख ग घ** पाठेष्वपि तथैव. २. प्रसिद्धः पाठः 'ज्ञानमथो' इति. ३. "नच... अशक्यवचनत्वाद्" इत्यन्तो भागः **आ** शोधनिका.

।। प्रमेये कारणकोटिनिरूपको द्वितीयः तरङ्गः ।।

विषयोपक्रमः :

अथ द्वितीया कारणकोटिः. तत्र अष्टाविंशति तत्त्वानि तेषाञ्च तत्त्वत्वं भगवद्भावरूपत्वात्, तस्य भावः तत्त्वमिति. भगवतो या कारणता सा लोके अष्टाविंशतिधा प्रकटा इति यावत्, नतु अनारोपितरूपत्वेन,[टि.१] श्रुतिविरोधात्. कारणत्वन्तु अण्डसृष्ट्याविर्भावक-शक्त्याधारत्वाद् असाधारण-त्वेन[टि.२] नतु ईश्वरेच्छादिवत् साधारणत्वेन इति ज्ञेयम्. अतः परं गीतां तृतीयस्कन्धं च आश्रित्य तेषां लक्षणानि निरूप्यन्ते,[पा.भे.१] कार्यकोटिस्तु पश्चाद् वाच्या.

गुणत्रयलक्षणनिरूपणम् :

(१)तत्र तावत् "[क]प्रमुखानावरकत्वे[पा.भे.२] प्रकाशकत्वे सुखात्मकत्वेच सति [ख]सुखासक्त्या ज्ञानासक्त्या च [ग]देहिनो देहाद्यासक्तिजनकं"=सत्त्वम्. तद् उक्तं "तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयं सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ!" (भग.गीता.१४।६) इति. अत्र गुणान्तरे अतिव्याप्तिवारणाय जन्ये सत्त्वविशेषे अव्याप्तिनिरासाय च [ख]तृतीयान्तद्वयम्. गुणान्तरामिश्रित-ज्ञानसुखात्मकस्वरूप-कथनाय [क]'सत्य'न्तम्. तच्च केवलं स्वरूपलक्षणं पुरुषे अतिव्याप्नोतीति तद्वारणाय कार्यलक्षणेन सहैव उपदिष्टं, [ग]'देहिनः' इति असम्भववारणाय, जीवाद् अन्यस्य बन्धाभावात्.

---

१. अनारोपितकारणतातु ब्रह्मण्येव "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते... तद् ब्रह्म" इत्यादिश्रुत्यनुरोधाद्, तस्माद् वस्तुतस्तु ब्रह्मगतैवेयं कारणता, अष्टाविंशतितत्त्वानां ब्रह्मरूपत्वाद्, तेष्वपि आरोप्यते. अर्थाद् मुख्यकारणतातु ब्रह्मैकपर्यवसायिनी अवान्तरकारणतातु तदीयावान्तररूपेष्वपि अविप्रतिपन्ना इति अर्थः(स्या). २. ब्रह्मणः तथाविधशक्तेः एतेषु तत्त्वेषु अनुवर्तनादिति असाधारण्यमपि कार्यकोटिगततत्त्वापेक्षयैव नतु ब्रह्मापेक्षया इति भावः(स्या).

(२)"[क/१] रागात्मकं वा [क/२] तृष्णासङ्गादिजनकं वा [ख] कर्मासक्त्या [ग] देहिनो [घ] नितरां देहाद्यासक्तिजनकं वा"=रजः. तद् उक्तं "रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवं तन्निबन्धाति कौन्तेय! कर्मसङ्गेन देहिनम्" (भग.गीता.१४।७) इति. अत्र तृतीयलक्षणे गुणान्तरे अतिव्याप्तिवारणाय [ख] तृतीयान्तम्. बन्धने सत्त्वाद् आधिक्यज्ञापनाय [घ] 'नितराम्' इति. [क/२] द्वितीयन्तु उपलक्षणविधया "लोभः प्रवृत्तिरारम्भः" (भग.गीता.१४।१२) इत्यादि-वाक्योक्त-कार्यान्तराणामपि ज्ञापकम्. [क/१] प्रथमन्तु स्वरूपलक्षणं 'विद्धि' इतिकथनात्. रागश्च "स्त्रीपुंसोः परस्परं स्पृहा" इति रामानुजाचार्याः, "विषयेषु गर्द्धः" इति अन्ये.

(३)"[क] आवरणशक्तिजन्यं [ख] सर्वदेहिमोहकं [ग] प्रमादालस्यनिद्राभिः [घ] देहिनो [ङ] देहाद्यासक्तिजनकं"=तमः. तद् उक्तं "तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनां प्रमादालस्यनिद्राभिः तन्निबन्धाति भारत!" (भग.गीता.१४।८) इति. अत्र [ग] तृतीयान्ते उपलक्षणविधा ज्ञेया, "अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च" (भग.गीता.१४।१३) इतिवाक्यात्, शेषं पूर्ववत्.

कापिलास्तु * "प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः गुणानाम् अन्योऽन्यं वैधर्म्यं, लघ्वादिधर्मैः अन्योन्यसाधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम्" (सां.प्र.सू.१।१२७-१२८) इति प्रवचनसूत्रद्वयस्था'ऽऽदि'पदाभ्यां कार्यान्तराण्यपि संगृह्णते.

यथाहि सांख्यकारिका —

"प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयः च गुणाः॥
सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥"
(सां.कारि.१२-१३) इति.

एतदर्थस्तु : सुखदुःखमोहस्वरूपाः प्रकाशप्रवृत्तिनिग्रहफल

काः यथाक्रमं गुणाः. ते पुनः अन्योन्याभिभवना-ऽन्योन्याधारत्वा-ऽन्योन्यजनना-ऽन्योन्य- मिथुनक्रियाकाः, पुरुषार्थं, स्वतएव भवन्ति नतु केनचित् प्रेरिताः. यथा वर्तितैले अनलविरोधिनी सहानलेन रूपप्रकाशलक्षणं कार्यं कुरुतो, यथावा वातपित्तश्लेष्माणः परस्परविरुद्धाः शरीरधारणलक्षणं कार्यं कुर्वन्ति; तथा, एते गुणाः परस्परविरोधिनोऽपि अनुवर्तन्ते स्वकार्यं च कुर्वन्ति इति. शेषं स्पष्टम् * इति सांख्यतत्त्वकौमुद्यां व्याख्यातः.

तत्र स्वतो अनुवर्तनादिकम् अनादरणीयं, स्वभाववादानीश्वरवादाश्रयणात्. तथात्वे श्रुतिस्मृतिविरोधात्. अन्योन्यजननमिथुनवृत्तित्वञ्च तथा, लक्षणसाङ्कर्यप्रसङ्गात्. रजसो दुःखात्मकत्वञ्च तथा, रागात्मकत्वविरोधात्. शेषन्तु गीतादिविरोधाभावाद् अनुमतमेव.

एतेच गुणाः यदा[पा.भे.३] भगवतः सकाशादेव उत्पद्यन्ते तदा माया चिच्छक्तिरूपा आनन्दशक्तिरूपा[पा.भे.४] वा ज्ञेयाः, "इत्थं विचिन्त्य परमः सतु वासुदेवनामा[पा.भे.५] बभूव निजकारणमुक्तिदाता तस्याज्ञयैव नियता परमापि रूपं वव्रे द्वितीयमिव[पा.भे.६] यत् प्रवदन्ति मायाम्" ( ) इति पञ्चरात्रवाक्यात्, द्वितीयस्कन्धे[पा.भे.७] "सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीताः मायया विभोः" (भाग.पुरा.२।५।१८) इति मायायाः करणत्वबोधक-ब्रह्मवाक्यात् च. एतेषु मूलगुणेषु स्थितौ अधिकृतसत्त्वं यदा अन्योपमर्दवशाद् दुर्बलं भवति तदा देवादिरूपेण युगे-युगे भगवन्तं प्रार्थ्य अवतारयति स्वांश-धर्मादि-स्थापनार्थं, तदा स्वयं तदवतार-शरीर-समवायि वा शरीरशोधकं[टि.१] वा शरीररूपं वा प्रादुर्भावनिमित्तं वा भवति तदा सत्त्वस्य अवयवाअपि पृथक्-पृथक् रूपाणि बिभ्रति इति प्रथमस्य दशमे "यदाहि..." (सुबो.१।१०।२४) इति श्लोके स्थितम्. यदा पुनः "तन्मायाफलरूपेण" (भाग.पुरा.११।२४।३) इति एकादशोक्तरीत्या उभयात्मिका चिच्छक्तिरूपा "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया" (भग.गीता.७।१४) इति च भगवद्वाक्यात्

१. एतन्मूले सुबोधिनीग्रन्थे 'शरीरबोधकम्' इत्यपि पाठभेदः उपलभ्यते(स्या).

गुणमयी माया भवति तदातु "तमोरजःसत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः मया प्रक्षोभ्यमाणाया पुरुषानुमतेन च" (भाग.पुरा.११।२४।५) इति वाक्यात् प्रकृतिधर्मरूपाः विषमगुणाः भवन्ति क्षोभ्यमाणत्वोक्तेः. तदग्रेच "तेभ्यः समभवत् सूत्रम्" (भाग.पुरा.११।२४।६) इति महत्तत्त्वोत्पादकत्वकथनात् महदुत्पत्तेः च "ततोऽभवन्महत्तत्त्वम् अव्यक्तात् कालनोदिताद्" (भाग.पुरा.३।५।२७) इति "दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् वीर्यमाधत्त सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्" (भाग.पुरा.३।२६।१९) इति तृतीयस्कन्धादिवाक्यैः क्षोभोत्तर-भावित्व-निश्चयाद् वैषम्यापरपर्यायस्य क्षोभस्य च सजातीय-संवलनात्मक-परिणामरूपत्वादपि तथा. एतेषाञ्च सत्त्वादीनां गुणत्वं न परार्थत्वात्. तथासति संघाततया गुणानां प्रत्येकं सर्वदा त्रिगुणत्वे लक्षणसाङ्कर्यप्रसङ्गात् किन्तु बन्धकत्वादेव. नच * क्षोभस्य पाश्चात्यत्वेन अक्षुब्धानां स्वरूपाप्रच्यावकत्वात् कार्यलक्षणाव्याप्तिः * शङ्क्या, स्वरूपयोग्यतया गुणाभिमानिबन्धकत्वेन च लक्षणसमन्वयात्. भगवतो निर्गुणत्वन्तु सूत्रकार्पासन्यायेन. यथा कार्पासे सूत्रं न किन्तु कार्पासमेव स्वावयवैः पौर्वापर्यम् आपद्यमानं सूत्रताम् आपद्यते तथा निर्गुणो भगवान् गुणान् उत्पादयति इति सुबोधिन्युक्त(२।५।१८)दिशा ज्ञेयम्. सदंशात् सत्त्वं, चिदंशाद् रजः, आनन्दांशात् च तमः इत्यादितु पूर्वोक्तकल्पा पा.भे.८ भिप्रायं कल्पान्तरेतु एकादशस्कन्धोक्तरीत्या सच्चिदानन्दात्मकाद् ब्रह्मणः सकाशात् मायोत्पत्तौ तदुत्तरम् अयं विभागः इत्यतो न दोषः. इति गुणानां लक्षणानि.

<u>पुरुषस्वरूपनिरूपणम्</u> :

अथ पुरुषः. तल्लक्षणन्तु 'आत्मा' इति : देहेन्द्रियादिकं सर्वं पदार्थम् अतति व्याप्नोति अधितिष्ठति इति आत्मा.

आत्मनस्तु त्रीणि लक्षणानि, तेषु—

(क) "अनादित्वे सति निर्गुणत्वे सति प्रकृतिनियामकत्वे सति अहंवित्तिवेद्यत्वम्" इति एकं लौकिकम्.

(ख) 'स्वयम्प्रकाशत्वम्' इति अपरं स्वरूपलक्षणम्.

(ग) "विश्वगतगुणदोषसम्बन्धाभावेऽपि सम्यक्संसर्गवत्त्वम्"
इति तृतीयं मुक्त्युपयोगि.

तद् उक्तं तृतीयस्कन्धे "अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः प्रत्यग्धामा स्वयञ्ज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्" (भाग.पुरा.३।२६।३) इति.

(क)अत्र प्रथमलक्षणे 'अनादि' पदं महदादिसाधारण-सादित्वनिषेधपरत्वेन व्याख्येयं "द्विधा समभवद् बृहद्" (भाग.पुरा.११।२४।३) इति वाक्यानुरोधात्. तेनैव भगवद्वारणमपि, शेषन्तु उपयोगि. तत्र देहादिवारणाय "प्रकृतिनियामकत्वे सति" इति. व्यतिरेकव्याप्त्या तथात्वसाधनाय 'अनादी'ति. तथैव अनादित्वसाधनाय 'निर्गुणे'ति. कालवारणाय 'अहंवित्ती'त्यादि. इदञ्च लक्षणं व्यतिरेकमुखेन इतरभेदसाधने न्यायत्वेन पर्यवस्यति.

प्रयोगस्तु : पुरुषः प्रकृति-प्राकृतभिन्नः, उक्तलक्षणकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, इति.

(ख)द्वितीयन्तु अस्तित्वसाधकम्. तथाहि सुषुप्तौ द्विविधेऽपि करणे लीने ततः कुतोऽपि हेतोः उत्थितस्य पुंसः "सुखम् अहम् अस्वाप्सं न किञ्चिद् अवेदिषमिति आत्मानमपि अबुद्ध्वा शयितो अस्मि" इत्यादिस्मरणात् सुषुप्तौ अनुभवो अस्ति इति अनुमीयते. अनुभवं विना स्मरणायोगात्, अनुभवत्वेन स्मरणत्वेन कार्यकारणभावात्. सच न सविषयकः तथा सति विषयमपि तदानीं प्रकाशयेत्. नापि साक्षात् परम्परया वा विषयजन्यः, तथा सति सविषयकः स्यात्, सविषयकस्य विषयजन्यत्वनियमात्, प्रत्यक्षं परोक्षं वा विषयप्रकाशनप्रसङ्गात् च. अतो विषयाजन्यो निर्विषयकएव विलक्षणः कश्चिद् अनुभवो अस्ति इति निश्चीयते. एवं सति विषयकालभेदेन भिन्नेष्वपि स्मरणेषु यो अहन्ताम् अभिमन्यमानो नित्यदा अनुस्यूतः सएव तदानीमपि मुक्ताहन्तो अविषयः केवलानुभवरूपः इदानीं स्वज्ञानमाननात् तदानीम् अस्पष्टप्रकाशः स्वयमेव स्वरूपेण प्रकाशतइति स्वयम्प्रकाशं तत्स्वरूपं

मन्तव्यम्. किञ्च निद्रायां परस्पर्शादौ ''मां स्पृशति'' इत्यादिज्ञानाभावात् न देहाध्यासः, ''पश्यामि-सङ्कल्पयामि-श्वसिमि'' इत्यादि अनुव्यवसायाभावात् न इन्द्रियप्राणमनोध्यासः. अतः परम् अहंकाराध्यासो अवशिष्यते. सोऽपि चेत् ''नाहम् आसम्'' इति स्मरणे अभावविषयत्वेन भातः तदा सुषुप्तौ केवलो द्रष्टैव विनिद्रो अवशिष्यते. नच स्मरणानुरोधात् तदानीम् अहमध्यासापत्तिः, स्मरणस्य विशेषप्रत्ययत्वेन विशेषानुग्रहजन्यत्वात् ''सोऽयं देवदत्तः कुण्डली'' इति प्रत्ययवत्. अस्तित्वसाधनप्रयोगस्तु : सुषुप्त्युत्तरकालीनं ''न किञ्चिद् अवेदिषम्'' इत्याद्याकारकं स्मरणम् अनुभवपूर्वकं स्मरणत्वाद्, यदेवं तदेवं यन्नैवं तन्नैवम् — उक्तस्मरणजनकोऽनुभवः आत्माभिन्नो अविषयत्वाद् यन्नैवं तन्नैवम्'' इत्येवम् अनुमानाभ्यां विलक्षणानुभवे तस्य आत्माभेदेच सिद्धे आत्मास्तित्वम् अनुक्त्यैव सिद्धं ज्ञेयम्.

यत्तु * सुषुप्तौ सुखम् आत्मा वा न प्रकाशते अभासमानस्यच व्यवहारमात्रेण प्रकाशनं न वक्तुं शक्यम्. किञ्च सुष्वापाद् उत्थिताः कामुकाः आश्लिष्टां कामिनीम् अबुद्ध्वा निर्विद्यन्ते ''मया मृतवत् शयितं कामिनीं विना वृथैव यामिनी गता'' इत्यादि. यदि सुषुप्तौ स्वल्पोऽपि परमानन्दो अनुभूतः स्यात् निर्वेदो न अवकल्पेत. सुखविस्मरणात् निर्वेदः चेत् ''सुखम् अस्वाप्सम्'' इति व्यवहारो न युज्येत. अतः सुषुप्त्युत्थितस्य सुषुप्तौ अवगतं किञ्चिदपि दुःखम् अस्मरतः स्मरणानुत्पत्त्यैव ''सुषुप्त्यवस्थायां न मे दुःखम् आसीत्'' इति अवगम्य तत्रैव दुःखाभावे गुणवृत्त्या सुखव्यवहारः. ''आत्मानमपि अबुद्ध्वा शयितो अस्मि'' इति व्यवहारात् च न आत्मापि (तत्र!) स्वयं प्रकाशते (शा.दी.१।१।५) * इति **शास्त्रदीपिकाकाराः**.

तद् अविचारचारु. तथाहि ''सुखम् अहम् अस्वाप्सम्'' इति स्मरणे स्वप्नक्रियाविशेषणत्वेन स्मर्यमाणस्य सुखस्य सुषुप्तिसमानकालीनत्वमेव गोचरीक्रियते. तच्च सुखं 'सत्सम्पत्त्या' इति श्रुत्या (छान्दो.उप.६।९।२) अवसीयते. अतो न अयं गौण्या व्यवहारः, कामुकनिर्वेदस्तु बाह्यसुखाभावादेव अवकल्पमानो न तत्रत्यसुखबाधकइति. आत्माबोधज्ञानन्तु विषयत्वेन

आत्मबोधाभावविषयकमिति न स्वप्रकाशतां बाधते. अन्यथा सुखात्मानावपि न स्मर्येयाताम्. अनुभवमन्तरेण स्मरणायोगाद् इति उक्तम्. * ननु स्मरणस्य स्वसजातीयानुभव-जन्यत्व-नियमानुरोधाद् विषयत्वेनैव एषां भानम् अङ्गीकार्यम्. तच्च अर्थान्तरतापादकं प्रत्यक्षविरोधि च. निर्विषयन्तु ज्ञानं न क्वापि सिद्धम् अतो न इदं युक्तम् * इति चेत्, न, तत्तायाइव इदानीं सविषयत्वस्य स्फूर्तावपि तदानीं निर्विषयत्वस्य अबाधाद्, उक्तनियमस्य च अप्रयोजकत्वात्. अन्यथा तत्तायाम् अतीतत्वस्यच अस्फुरणापत्तेः. निर्विषयत्वस्यच जन्यज्ञानएव बाधकत्वेन आत्मरूपाजन्यज्ञानाबाधकत्वात्. अतो न चोद्यावसरः. अतएव श्रुतिरपि "अत्र आत्मा स्वयञ्ज्योतिर्भवति"[टि.१]. (बृह.उप.४।३।९) इति आह इति दिक्.

(ग)एवं तस्य केवलत्वे सिद्धे यः तस्मिन् कर्तृत्वादिना सगुणत्वप्रत्ययः स सृष्ट्यनुकूलभगवदिच्छया प्रकृत्याद्यविवेककृतः, सूर्यस्येव रक्तादर्शादौ रक्तप्रत्ययो, अतएव च मुक्तियोग्यत्वम्. अन्यथा बन्धस्य स्वाभाविकत्वापत्तौ मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यापत्तेः, स्वाभाविकस्य नाशायोगात् प्रवृत्तिविघाते अननुष्ठानलक्षणाप्रामाण्यापत्तेः च. स्वभावनाशाङ्गीकारेच दुग्धादिवत् स्वरूपनाशप्रसङ्गाद् अनित्यतापत्तेश्च. नच * शुक्लपटन्यायेन स्वभावनाशाङ्गीकारे स्वरूपनाशाभावाद् अदोषः * इति वाच्यं, तत्र स्वभावानाशात् क्षालनादिना पुनः उद्भवदर्शनाद् अभिभवमात्रपरं, तथा सति पुनः बन्धापत्तौ "न स पुनरावर्तते" (छान्दो.उप.८।१५।१) इत्यादिश्रुतिविरोधापत्तिः. तदिदं हृदि कृत्वा तृतीयं लक्षणम्.

सोऽयं न नाना किन्तु एकएव सर्वत्र "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयास्थितः" (भग.गीता.१०।२०) इति वाक्यात्, "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" (भग.गीता.१३।१९) इति वाक्यस्थयोः एकवचनान्तयोः पदयोः मध्ये एकस्य व्यक्तिपरत्वम् अन्यस्य जातिपरत्वम् इत्यत्र विनिगमकाभावात् च, "ज्ञानं त्वन्यतमो भावः" (भाग.पुरा.११।२४।४) इति वाक्यात् च. "कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्" (भाग.पुरा.३।५।२६) इति प्रकृतौ

१. "अत्रायं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिः" इति उपलभ्यमानः पाठः (श्या).

वीर्याधानमात्रार्थमेव करणत्वेनैव तस्य अपेक्षणात् च. सांख्यान्तरेतु अयमेव 'ईश्वर' इति उच्यते "पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि तदन्यकल्पनाऽपार्था" (भाग.पुरा.११।२२।११) इति पञ्चविंशति तत्त्वोपपादने एकादशे भगवद्वचनात्. चिद्रूपत्वेन पुरुषेश्वरयोः अवैलक्षण्यात्. तद् उपादितं तृतीय(३।२६।९)सुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैः, तथाहि, पुरुषस्तु एकएव "पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि तदन्यकल्पनाऽपार्था" (भाग.पुरा.११।२२।११) इति. अतो जीवेश्वरौ अवस्थाभेदेनैव भिन्नौ न स्वतइति यदेव पुरुषलक्षणं तदेव जीवलक्षणम्. प्रकृतिरपि यदि एका भवेद् अवस्था न भिद्येत, अतः प्रकृतिद्वयं मन्तव्यम्. तत्रैका व्यामोहिका द्वितीयातु मूलप्रकृतिः यदा भगदिच्छया पूर्वाम् अभिमन्यते तदा इच्छाव्यापारभूतैः मोहकप्रकृतिगुणैः बद्धो वशीकृतो जीवावस्थां प्राप्नोति. यदातु मूलप्रकृतिं तदा स्वरूपस्थितएव जगत्कारणं भवति. प्रदेशभेदेन वा ते उभे पुरुषसङ्गते यथा आकाशे क्वचिद् ग्रहादिः क्वचित् न, तद्वत्.

जीवानां स्वतएव पृथक्त्वे श्रुति-स्मृति-विरोधः आपद्येत. प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेऽपि शास्त्रविरोधो, अनिर्मोक्षः, एकमुक्तौ सर्वमुक्तिः, अविश्वासः च स्यात्. अतः उभयं यथा उपपद्यते तथा मूलपुरुषः प्रकृतिद्वयं गृह्णाति इति मन्तव्यम् इति. प्रकृतेतु अयं द्वारभूतएव भगवदंशः. ईश्वरस्तु भगवान् स्वयमेव "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" (भग.गीता.१५।१७) इति वाक्यात्. तत्स्वरूपन्तु शास्त्रार्थप्रकरणे निबन्धएव प्रपञ्चितमिति न अत्र उच्यते. जीवस्तु पुरुषतत्त्वाद् भिन्नएव "एकस्यैव ममांशस्य" (भाग.पुरा.११।११।४) इति "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (भग.गीता.१५।७) इति भगवद्वाक्यात्; परन्तु, चिद्रूपत्वेन तत्साजीयः पुरुषस्यैव अंशो वा "क्षरः सर्वाणि भूतानि" (भग.गीता.१५।१६) इति वाक्यात्, "एकस्य फलत्वम्" (त.दी.नि.प्र.२।८७) इत्यनेन आचार्यैः फलत्वाङ्गीकारात्[टि.१] प्रथमस्कन्धे[पा.भे.९] "तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदः"

१. ननु केवलानां जडानां तत्त्वानां चेतनं विना अन्तर्यामिप्रेरणञ्च विना कार्यजननासामर्थ्यकथनात् तयोरपि निमित्तत्वम् अस्तीति कथम् अकारणत्वम् इति आकाङ्क्षायां तयोः मध्ये एकस्य चिदंशस्य फलत्वम् अपरस्य आनन्दांशस्य स्वरूपत्वम् अतो न स्वरूपेण निमित्तत्वम्... अत्र चिदंशस्य फलत्वं मान्त्रवर्णिकसूत्रभाष्ये विज्ञानमयस्य विविधयागादिसाधनफलत्वेन विवृतत्वात् स्वरूपावस्थानस्य मुक्तित्वात् च आनन्दांशस्य स्वरूपत्वन्तु अन्तर्यामिणि ब्रह्मधर्माणाम् अतिरोहितत्वाद् ज्ञातव्यम्.(त.दी.नि.आ.२।८७)(श्या).

(भाग.पुरा.१।५।१८) इत्यस्य सुबोधिन्यामपि पुरुषांशत्वोक्तेः, "त्वम् आत्मनात्मानम् अवेहि" (भाग.पुरा.१।५।२१) इत्यत्र अक्षरांश-पुरुषांशभेदेन द्विविधजीवाङ्गीकारात् च. एवमपि भगवदंशत्वाविरोधात् च उभयथापि स्वरूपलक्षणे कोऽपिन विशेषः. तेन सुषुप्त्यादिसाक्षित्वेन जीवात्मसिद्ध्यैव मूलपुरुषस्यापि सिद्धिः अप्रत्यूहा.

कापिलास्तु "अव्यक्तमहदहंकारादयः परार्थाः संघातत्वात् पर्यङ्कासनादिवत्, संघाताः त्रिगुणात्मकत्वाद् अविवेकित्वाद् विषयत्वात् सामान्यत्वाद् अचेतनत्वात् प्रसवधर्मित्वाद्" ( ) इति षड्भिः हेतुभिः संघातत्वं तेनच परार्थत्वम् अव्यक्तादीनां साधयित्वा, यदर्थाः एते स परः पुरुषो अस्ति. सच पूर्वोक्तेभ्यो अव्यक्तादिभ्यो विपरीतः तद्भिन्नः च.

तथाहि —

(१)पुरुषो अपरार्थो असंघातत्वात्.

(२)असंघातो अत्रिगुणत्वाद् विवेकित्वाद् अविषयत्वाद् असामान्यत्वात् चेतनत्वाद् अप्रसवधर्मित्वात् च, यन्नैवं तन्नैवम्.

(३)अत्रिगुणः परानधिष्ठीयमानत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं रथादिवत्.

(४)व्यक्ताव्यक्तभिन्नो भोक्तृत्वात् कैवल्यार्थं प्रवर्तमानत्वात् च यन्नैवं तन्नैवं व्यक्ताव्यक्तवत्.

यद्यपि संघातलिङ्गकानुमाने दृष्टान्तस्य पर्यङ्कादेः संघातान्तरार्थत्वमेव दृष्टमिति दार्ष्टान्तिकेऽपि अव्यक्तादौ संघातान्तरार्थत्वापत्त्या पुरुषस्यापि संघातत्वापत्तिरिति अर्थान्तरता आपतति, तथापि अनवस्थापत्तिभिया पक्षे दृष्टान्तीयाशेषधर्मापत्त्या अनुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्गेन च असंघातरूपस्यैव पुरुषस्य तेनापि सिद्धिः. एवं सिद्धः पुरुषः प्रकाशस्वरूपएव नतु जन्यज्ञानवान्, 'असङ्ग'(बृह.उप.४।३।१५)श्रुतेः. अन्यथा परिणामित्वापत्तेः अनिर्मोक्षप्रसक्तेः च सुषुप्त्याद्यसाक्षितापत्तेः च. सच व्यापको नित्यः प्रतिशरीरं भिन्नः

च. यथा आहुः "संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च जन्ममरणकारणानां प्रतिनियमाद् युगपत्प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव" (सां.कारि. १७-१८) इति. तेषु प्रकृतौ महत्तत्त्वे वा प्रतिबिम्बितो यः स सर्ववित्त्वं सर्वकर्तृत्वं च आत्मनि अभिमन्यमानः 'ईश्वरः' इति उच्यते रजस्तमोभ्याम् उपरक्ते अधर्मादियुक्ते महत्तत्त्वादौ तादृशे महत्तत्त्वे वा प्रतिबिम्बितः च 'जीवात्मा' इति उच्यते * इति आहुः.

पातञ्जलास्तु * अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्यैः पञ्चभिः क्लेशैः विहित-प्रतिषिद्ध-व्यामिश्र-रूपैः त्रिविधैः कर्मभिः, जात्यायुर्भोगात्मकैः विपाकाख्यैः त्रिभिः कर्मफलैः, आशयाख्यैः संस्कारैः च त्रिष्वपि कालेषु असंस्पृष्टः पुरुषान्तरेभ्यो विशिष्टः स्वतएव सकलजगदुद्धरणक्षमः पुरुषः ईश्वरः. सच अनुमानागमाभ्यां सिध्यति.

तथाहि : अतीतानागतज्ञत्वं क्वचित् निरतिशयत्वरूपां काष्ठां प्राप्तं, सातिशयधर्मत्वात् महत्त्वाल्पत्वादिवत्.

यत्रच इदं निरतिशयतां प्राप्तं स ईश्वरः इति सामान्यतः तत्सिद्धौ विशेषण तत्स्वरूपम् आगमाद् अवगम्यते, सएव च निर्माणार्थं कायम् अधिष्ठाय ब्रह्मादिभ्यो वेदादि उपदिशति यस्य-यस्य यद्-यद् इष्टं तत्-तत् तेभ्यो दत्त्वा "सर्वान् संसारिणः उद्धरिष्यामि" इति अध्यवसायेन प्रकृतिपुरुष-संयोगवियोगौ च करोति. नच क्षेत्रज्ञाधिष्ठानेन तत्संयोगसिद्धिः, तेषां प्रकृतिस्वरूपानभिज्ञत्वेन तत्कृताधिष्ठानस्य अशक्यवचनत्वात्. नच * वत्सार्थं क्षीरस्येव स्वतः प्रकृतेः संयोगार्थं प्रवृत्तिः * इति वाच्यं, तथापि चेतनानधिष्ठितस्य क्षीरस्य अप्रवृत्तिरिति दृष्टान्तबलेनापि अधिष्ठातुः सिद्धौ क्षेत्रज्ञानाम् अयोग्यत्वाद् ईश्वरं विना तदसिद्धेः. एतेनैव कृषीवल-कृत-धान्यारोप-दृष्टान्तोऽपि दत्तोत्तरः, कालादृष्टादीनाम् उत्तरभावित्वात् , तैः स्वपूर्वकालीनसंयोगासम्भवात्. अतो अन्यपुरुषविलक्षणएव भगवान् ईश्वरः. तस्यच तथाविधम् ऐश्वर्यम् अनादि-निरतिशय-सर्वज्ञान-समानाधिकरणाद् अनादिसम्बद्धसत्त्वोत्क

र्षात्. तस्य च सत्त्वस्य अनादिः केवलसात्त्विकएव उत्कर्षवान् परिणामः ईश्वरभोग्यतया व्यवस्थितः. अन्यप्राणिनां चित्तं यथा सुखदुःखमोहात्मना परिणमन् निर्मले सात्त्विके धर्मात्मप्रख्ये प्रतिसंक्रान्त-चित्प्रतिबिम्बस्य संवेद्यं भवति न एवम् ईश्वरस्य. अतएव च न मुक्तात्मनां तत्तुल्यत्वं, तेषां पूर्वं क्लिष्टत्वाद्, अनेकेषाम् ईश्वरत्वे भिन्नाभिप्रायत्वेन कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात् च — इति भगवान् ईश्वरो अतिरिक्तएव इति.

संसारिणस्तु नित्योदितचिच्छक्तिरूपाः स्वसन्निहिते सत्त्वे प्रतिसंक्रान्ताः सत्त्वगतं चैतन्यम् अभिव्यञ्जन्ति. अतएव अस्मिन् दर्शने द्वे चिच्छक्ती : (१) नित्योदिता (२) अभिव्यंग्या च इति. तत्र अभिव्यंग्याधारभूतं सत्त्वम् आमोक्षप्राप्तेः भोग्यं भवति. तदेव भोग्यं सत्त्वं सांख्यैः सुखदुःखभोक्तृतया 'कर्मात्मा' इति उच्यते. भोगस्तु सुखदुःखमोहात्मकचित्तस्य इन्द्रियविषययोगाद् विषयाकारेण परिणतस्य पूर्वोक्ते सत्त्वे स्वाकारसमर्पणाद् भवति इति जीवेश्वरव्यवस्थाम् ✻ आहुः. शेषन्तु सांख्यवदेव इति.

भाट्टास्तु ✻ प्राणनादिलिङ्गैः सुखादिभिः ज्ञानेन च आत्मानं शरीरादिभिन्नत्वेन साधयन्ति.

तथाहि —

कौष्ठ्यस्य वायोः ऊर्ध्वाधोगमनं, 'प्राणापान' शब्दवाच्यं, तद्धेतुभूतः प्रयत्नः सुखादयो ज्ञानं च न शरीरधर्माः, अयावच्छरीरभावित्वात्.

येहि कार्यद्रव्यविशेषगुणाः रूपादयः ते द्रव्यनाशाद् वा विरोधिगुणान्तराद् वा नश्यन्ति. प्राणनादयस्तु शरीरनाशाभावेऽपि विरोधिगुणान्तराविर्भावाभावेऽपि नश्यन्ति इत्यतो न शरीरगुणाः.

किञ्च ये शरीरगुणाः ते स्वपरप्रत्यक्षविषयाः सुखादयस्तु न तथेति न शरीरगुणाः. अतो अयावच्छरीरभावित्वं प्रत्यक्षत्वे

सति पराप्रत्यक्षत्वं च इति द्वौ हेतू सुखादिषु शरीरगुणतां निवारयन्तौ अन्यगुणतां बोधयतः.

तत्र यो असौ अन्यः स आत्मा इति.

किञ्च पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धेन बलिना हर्षशोकभयादिसम्प्रतिपत्तिः बालस्य दृश्यते, जातिस्मराः च केचिद् अद्यत्वेऽपि देहान्तरवृत्तं वृत्तान्तं बोधयन्तः उपलभ्यन्त - इति उपलब्धिसिद्धः शरीरात्मनोः भेदः.

एतेन देहात्मवादिनः चार्वाका निरस्ताः.

किञ्च सर्वएव विशेषगुणाः कारणे वर्तमानाएव कार्यद्रव्यगुणतां भजन्ते नतु अवर्तमानाः शरीरारम्भकेषुच परमाणुषु न चैतन्यम् अस्ति, ततः कथं चैतन्यस्य शरीरगुणता स्यात्? तस्माद् अन्यः चेतनः इति.

एतेनैव * शरीरारम्भक-परमाणुपुञ्ज-रूपः आत्मा * इति वदन्तोऽपि निरस्ताः.

किञ्च एकस्यैव पुञ्जस्य तत्तज्जन्मीय-देव-नर-तिर्यक्-कीटादि-शरीरारम्भकत्वे पर्यायेण तेजःपृथिव्यादिप्रधानत्वविरोधः परिमाणादिविरोधः च. चेतनत्वे बुद्ध्याश्रय[टि.१] साधकानुमानादिषु लाघवोपनीतैकत्वमानविरोधः च.

नच * पुञ्जैकत्वमेव तत्र भासते * इति वाच्यं, पुञ्जघटकानां चेतनत्वेन बहुत्वाभाने नियामकाभावाद् इति अन्यत्र विस्तरः.

किञ्च ज्ञातृविषयः तावद् 'अहं' प्रत्ययः इति अविवादम्. योहि परामृशति स स्वात्मानम् 'अहम्' इति परामृशति "पश्यामि अहम्" इति. नच शरीरस्य ज्ञातृत्वं, दत्तोत्तरत्वात्. "स्थूलो अहम्" इत्यादौतु

१. बुद्धिः परमाणुपुञ्जधर्मः पुञ्जे प्रतीमानत्वाद् यदेवं तदेवं पदशक्तिवद् इति (क).

संसृष्टयोः एकत्वप्रतीतिः सामानाधिकरण्य-निबन्धनत्वाद् भ्रान्तैव उष्ण-तोय-तप्तायःपिण्ड-प्रतीतिवत्. अन्यथा "मम शरीरम्" इति व्यतिरेकबुद्धिः नस्यात्. यद्यपि "मम जीवः"-"अहं गच्छामि" इत्यादौ वैपरीत्यमपि भासते, तथापि श्रुतार्थापत्त्या श्रुत्या च निर्णयः. तथाहि 'स्वर्गकामा' दि(आप.श्रौ.सू.१०।२-।१)श्रुतयोहि शरीरातिरिक्तं परलोक-फलोपभोग-योग्यं कर्तारम् अन्तरेण अनुपपद्यमानाः तम् आक्षिपन्ति. ताभिश्च आक्षिप्तं साक्षादेव उपनिषदः समर्पयन्ति "अविनाशी वा अरे अयम् आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा" (बृह.उप.४।५।१४) इति तस्मात् मानसप्रत्यक्षरूपा'ऽहं'प्रत्यय-गम्यो ज्ञाता. नच *शरीरादाविव आत्मान्यपि 'अहं' प्रत्ययो भ्रान्तः* इति वाच्यं, बाधाभावात्. नापि योगिनां बाधः, तेषामपि आत्मनि 'अहं'वित्ति-वेद्यत्व-व्यवहार-दर्शनात्. अतएव "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" (भग.गीता.७।६) "यस्मात् क्षरमतीतोऽहं" (भग.गीता.१५।१८) "मम योनिर्महद् ब्रह्म" (भग.गीता.१४।३) एवमादौ 'अहं' शब्दः परस्मिन् पुरुषे ध्रुवम्. नहि महद्विकारो अहंकारः, कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः, नापि क्षराक्षराभ्याम् उत्तमः, नापि 'ब्रह्म' शब्दवाच्ये प्रधाने गर्भं दधाति, पुरुषसम्पर्ककृतत्वात् प्रकृतिक्षोभस्य. उपनिषत्स्वपि "ब्रह्म वा इदम् अग्र आसीद्" (बृह.उप.१।४।१०) इति उपक्रम्य पठ्यते "तद् आत्मानमेव अवेद अहं ब्रह्मास्मि" (बृह.उप.१।४।१०) इति. मन्त्रवर्णेऽपि "मनुः अभवम् अहं सूर्यश्च" (बृह.उप.१।४।१०) इति. अतो अभ्रान्ता'ऽहं' वित्तिवेद्यो ज्ञाता योगिनां मानसप्रत्यक्षः. निर्मुक्ताहंकार-ममकार-वचनन्तु संसृष्टाहंमति-निर्मुक्ति-परम्. अतएव ज्ञानिनां न पितृपुत्रत्वाद्यहंकारो नापि तेषु ममकारः इति युज्यते.

इन्द्रियाद् भेदस्तु "यो अहम् अद्राक्षं सो अहं स्पृशामि - यो अहम् अस्पृशं सो अहं शृणोमि स्मरामि" इति सर्वत्र ज्ञातुः एकस्य प्रत्यभिज्ञानादेव सिद्धः.

मनस्तु न ज्ञातृ, प्रत्यक्षसिद्धस्य ज्ञातुः रूपादिज्ञानानां स्वव्यतिरिक्तकारणाधीनत्वात्. सुखादिज्ञानेषु करणत्वनैव तस्य कल्पितत्वात्.

तस्मात् शरीरेन्द्रियान्तःकरणातिरिक्तएव जन्यज्ञानसुखाद्याधारो मानसप्रत्य

क्षः आत्मा. सच नानैव, व्यवस्थासामञ्जस्यात्.

ईश्वरत्वन्तु कर्मणामेव. यदि कश्चिद् अस्ति तदा सोऽपि कर्म विना फलासम्भवात् तदधीनः फलसमर्पको अस्तु! * इति आहुः.

प्राभाकरास्तु * सर्वासु अर्थवित्तिषु तावद् वेत्ता भासते. अन्यथा कस्यचित् सर्वधर्मस्फूर्त्तिः इतरस्य न इति अतिशयो न स्यात्. नच करचरणादि-सन्निवेश-विशिष्टस्य तदा भानम् अस्ति. अतो अस्ति प्रतिशरीरं शरीराद् भिन्नः आत्मा. सच स्वप्रकाशसंविदाश्रयो अणुः च * इति आहुः. शेषन्तु भाट्टवद् इति.

नैयायिकास्तु * "यो अहम् अद्राक्षं सो अहम् अधुना स्पृशामि" इति प्रत्ययाद्, अनुभवसंस्कारस्मृतीनां सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावात् च. आत्मनः स्थिरत्वं, जातमात्रबालस्य स्तनपानादौ प्रवृत्तिदर्शनात्. तस्याश्च पूर्वानुभूत-क्षुन्निवृत्ति-कारणानुभव-जन्य-स्मृतिं विना अनुपपत्त्या तस्य आत्मनः पूर्वापरजन्मीय-शरीरावच्छिन्नस्य पूर्वोक्तयुक्त्यैव ऐक्यम्. तेनच अनादित्वम्. अनादिभावत्वेनच विरामाप्रतियोगित्वम्. अतश्च नित्यत्वसिद्धिः. किञ्च पूर्वशरीरादिविरामानन्तरमपि शरीरान्तरे यः सुखदुःखाद्यनुभवः स पूर्वशरीरकृत-पुण्यपाप-फलीभूतत्वेन श्रुतिपुराणानुमान-प्रसिद्धि-प्रमितो अस्ति. सच न अन्यकृतपुण्यपापादिना सम्भवति. तथा सति कृतस्य निष्फलत्वेन अकृतस्य अकस्मात् फलवत्त्वेन कृतहान्यकृताभ्यागमादि-दोषापत्तेः. गयाश्राद्ध-जातेष्टि-ज्योतिष्टोमादौतु पुत्रपित्तृत्विक्कृत-कर्मणा पितृपुत्रयजमानानां या फलसिद्धिः सातु श्रुति विशेषरूप-निमित्त-बलादिति फल [पा.भे.१०] वैयधिकरण्येऽपि न दोषः. अतः शरीरेन्द्रिय-व्यतिरिक्तः आत्मा. एवं मनसोऽपि व्यतिरिक्तः आत्मा. अन्यथा ज्ञानेच्छादीनाम् अतीन्द्रियत्वापत्तेः, अणुगुणानाम् अतीन्द्रियत्वात्, मनसः च अणुत्वात्, विभुत्वेतु पुरीतद्-हितादि-संयोगस्य सार्वदिकत्वाद् जाग्रदाद्यवस्था-व्यवस्थानुपपत्तिः. एवञ्च तस्य इतरभिन्नस्य आत्मनो अणुत्वे युगपत्-पाद-शिरः-प्रभृतिषु सुखदुःखाद्यनुभवो न स्यात्. * (ननु!)

अयौगपद्येऽपि अतिशैघ्र्याद् यौगपद्यभ्रमः * इति चेत्, न, अणुत्वसाधकप्रमाणाभावात्. "एषोऽणुः आत्मा" (मुण्ड.उप.३।१।९) इत्यादीनां श्रुतीनान्तु दुर्ज्ञेयत्वाभिप्रायकत्वात्. नापि अध्यात्मपवनः शरीराविच्छिन्नचैतन्यरूपो वा आत्मा, तथा सति मध्यपरिमाणवत्त्वेन अनित्यतापत्तेः. नच इष्टापत्तिः, पूर्वम् अनित्यतायाः निरस्तत्वाद्; अतएव च, न संकोचविकासशालिपरिमाणवत्त्वम्. अतः क्षपणकदिगम्बरादिमतं कदर्यमेव सावयवत्वापत्तेश्च. एतेनैव च नानापरिमाणवत्त्वमपि अपास्तम्. अतः पारिशेष्यात् तस्य विभुत्वसिद्धिः.

किञ्च देशान्तरे यद् द्रव्यम् अस्मद्भोगाय उत्पद्यते तत्र अस्मददृष्टं कारणत्वेन वक्तव्यम्. अतः उत्पत्तिदेशे अदृष्टवदात्मसंयोगः कारणं वर्तते अतोऽपि विभुत्वसिद्धिः. सच जीवात्मपरमात्मभेदाद् द्वेधा. तत्र ईश्वरस्तु कार्यत्वादिलिङ्गकानुमानैः सिद्धो नित्य-ज्ञान-चिकीर्षा-कृति-मान् एकएव. जीवात्मातु प्रतिशरीरं शरीरिभिः "अहं जानामि इच्छामि करोमि सुखी" इत्यादिप्रतीतौ तत्तच्छरीराद्यवच्छिन्नसुखादिवैशिष्ट्येन अहन्तया प्रतीतो बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-यत्न-धर्माधर्म-संस्कार-परिमाण-पृथक्त्व-संख्या-संयोग-विभागाख्य-चतुर्दश-गुणवान् नानैव * इति आहुः.

वैशेषिकाअपि एवमेव आहुः.

तत्र तावत् पूर्वोक्तपक्षेषु तनुभृतां व्यापकत्वं स्वतो नानात्वं च यद् उक्तं तत् न सङ्गच्छते, "सवा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" (बृह.उप.४।४।२२) इत्यादि श्रुतिस्तु तस्य भगवत्त्वाभिप्राया मुक्तानां तथात्वस्फूर्तेः च, "युक्तं भगैः स्वैरितरत्रचाध्रुवैः" (भाग.पुरा.२।९।१६) इति वाक्याद् ऐश्वर्यादीनामिव तदानीं व्यापकत्वस्यापि आविर्भावकथनेऽपि बाधकाभावाद्, ब्रह्मभावे जाते विरुद्धधर्माश्रयत्वाङ्गीकारेऽपि दोषाभावात् च. नच मुक्तानां नियम्यत्वानुपपत्तिः, भगवतो "मुक्तोपसृप्यत्व"(ब्र.सू.१।३।२)कथनात्. "चतुर्विधा भजन्ते माम्" (भग.गीता.७।१६) इत्यत्र ज्ञानिनोऽपि भजनश्रवणात् च इति अन्यत्र विस्तरः. एतेनैव स्वतो नानात्वमपि निरस्तं बोध्यम्.

विशेषतस्तु सर्वं प्रभुभिः अविरोधतृतीयचरणभाष्ये शास्त्रार्थनिबन्धे विद्वन्मण्डनादौ च प्रपञ्चितं, कर्तृत्वं च जीवस्य शास्त्रार्थवत्त्वाधिकरणे (ब्र.सू.२।३।१३). तच्च भगवत्कृतम् इति "परात्तु तच्छ्रुतेः" (ब्र.सू.२।३।१४) इति अधिकरणे, अंशत्वं च नानाव्यपदेशाधिकरणे (ब्र.सू.२।३।१५) स्थापितमिति दिङ्मात्रम् अत्र उक्तम्.

ईश्वरस्तु अङ्गीकार्यएव, अन्यथा भोगनियमानुपपत्तेः. किञ्च कर्म कुर्वाणाः फलं प्राप्नुवन्ति इति श्रुतिबलाद् अवसीयते, दातारन्तु न पश्यन्ति, अन्याधीनेच फले[पा.भे.११] अवश्यं दातुः अपेक्षा. साक्षाद् अजन्यफलेषु राजभित्तिनिर्माणादिषु जीर्णकूपारामादिषु च तथादर्शनात्. यागश्च स्वर्गं, पाकः ओदनमिव, न साक्षात् साधयति, येन ईश्वरापेक्षा न स्यात्. स्वर्गश्च ब्रह्माण्डाधिपत्यधीनो लोकात्मकत्वात्. सुखसाधनान्यपि तदधीनानि. अन्यथा कृते यागे अपूर्वे निष्पन्ने तदानीमेव स्वर्गो भवेत्, प्रतिबन्धस्य अशक्यवचनत्वात्. दृष्टार्थापत्त्या[पा.भे.१२] एतद्देहादेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनेऽपि विनिगमनाविरहाद् ईश्वरएव अङ्गीकार्यः. तथा सति तेनैव एकेन महाराजवत् फलनियमसिद्धौ प्रतिनियतकर्मणाम् अनेकानाम् ईश्वरत्वाङ्गीकारो अनेकप्रतिबन्धकाङ्गीकारः च व्यर्थएव, कल्पनागौरवाद् अप्रामाणिकत्वात् च इति अन्यत्र विस्तरः. नच तस्य कर्माधीनत्वं प्रत्युत कर्मणामेव तदधीनत्वं, "एष उ एव साधु कर्म कारयति" (कौषी.उप.३।८) इत्यादिश्रुतेः. प्रकृतिपुरुषसंयोगार्थमपि अवश्यम् अङ्गीकार्यः. नच अनाद्यदृष्टेन तदुपपत्तिः, "प्रकृतिपुरुषव्यतिरिक्तं सर्वं सादि" इति सिद्धान्तव्याकोपात् अनादिभावस्य प्रकृतिवद् ध्वंसाप्रतियोगित्वात् मोक्षोच्छेदप्रसङ्गात् च. प्रवाहानादित्वेच अदृष्टेन संयोगः, संयोगेन अविवेकात् कर्तृत्वाभिमानेन कर्मकरणे अदृष्टमिति चक्रकापत्तेः. व्यक्तिभेदेतु अनन्तसंयोगक-ल्पनापत्तेः. नच *गर्भदासवद् अनभिसन्धायैव स्वभावात् प्रकृतिप्रवृत्तिः नर्तकीवत् कुलवधूवत् च चारितार्थ्याद् दृष्टदोषत्वात् च निवृत्तिरिति न दोषः* इति युक्तं, मोक्षे स्वभावनाशे प्रकृतिनाशप्रसङ्गात्. नच अस्तु तदंशेन नाशः, उभयोः व्यापकत्वेन एकदेशसंयोगस्य अशक्यवचनत्वात्. सर्वसंयोगे वक्तव्ये मुक्तौच तन्नाशे सर्वस्याएव नाशप्रसङ्गात्, अनित्यताप्रसक्तेः

च. तथा सति एकमुक्तौ सर्वमुक्त्यादिप्रसक्तेः च. अचेतनत्वेन स्वतः चारितार्थ्य-दृष्टदोषत्वादि-ज्ञानस्य अशक्यवचनत्वात् च. चेतनाधिष्ठानेन तत्साधनेतु क्षेत्रज्ञाधिष्ठानस्य अशक्यवचनत्वात् सिद्धं तदधिष्ठात्रा ईश्वरेण इति दिक्.

सन्तानविज्ञानवादिनस्तु *क्षणिकविज्ञानसन्तानएव आत्मा. नच *आश्रयम् अन्तरेण ज्ञानेच्छासुखादिकम् अनुपपन्नम्* इति वाच्यम्, आश्रयानुपलब्ध्या तेषां स्वतन्त्रत्वाङ्गीकारात्[टि.१]. नच *अहंप्रत्ययगम्यएव आश्रयः* इति वाच्यं, ज्ञानस्यैव "नीलम् अहं जानामि" इति विपर्यवसितदर्शनस्य अध्यवसायात्,[टि.२] क्षणिकज्ञानान्यात्मसत्त्वे प्रमाणाभावात्. नच प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः, सन्तानैक्यादेव उपपत्तेः, उपलब्धुः स्मर्तुः च ऐक्याभावात्. एकस्य स्थाष्णोः पुरुषस्य क्वापि अनुपलम्भात्. अतः क्षणभङ्गुरं ज्ञानमेव आत्मा, नतु ततो अन्यः* इति **आहुः**.

तदपि कदर्यं, यथा **आहुः प्राञ्चः** "प्रत्यभिज्ञायते कर्ता यः पूर्वापरकालयोः, तस्य स्थाष्णोः स्फुटो भेदो विज्ञानात् क्षणभङ्गुराद्" (शा.दी.१।१।५) इति. तथाहि विषयप्रत्यभिज्ञायाः भवेत् सन्तानेनापि निर्वाहो नतु ज्ञातृप्रत्यभिज्ञायाः. "यो अहं पूर्वम् अद्राक्षं सो अहम् अधुना अनुपश्यामि" इत्यत्र ज्ञातुः एकत्वावगमात्. विज्ञानस्य क्षणिकस्य तदानीं विनष्टत्वेन 'अहं'वित्तिगोचरस्य तदानीं वक्तुम् अशक्यत्वात्. सुषुप्तौ 'अहं'प्रत्ययसन्तानस्य नष्टत्वेन ततः उत्थितस्य ज्ञातृप्रत्यभिज्ञानुपपत्तेः दुर्वारत्वात्[टि.३] चेति.

जीवस्य प्रतिबिम्बरूपतातु शास्त्रार्थप्रकरणे विद्वन्मण्डनादौ च निराकृता जीवस्वरूपं च विचारितमिति न इह प्रपञ्चः. इति पुरुषो निरुपितः.

प्रकृतिस्वरूपनिरूपणम् ;

अथ प्रकृतिः. तल्लक्षणन्तु 'प्रधानम्' इति. भगवता जगदुपादानत्वेन

१. स्वतएव उत्पत्त्या निराश्रयत्वाङ्गीकाराद् इति अर्थः (क). २. अतीते नीले तत्सत्तायां मानाभावात् तस्यच विज्ञानाकारत्वं बाह्यत्वस्य च विपर्यवसितदर्शनत्वं तथा सुखीत्यादिज्ञानस्यापि इति अर्थः (क). ३. नानापुरुषैरिव नानाविज्ञानैरपि विषयोपलम्भस्य शक्यवचनत्वाद् इति अर्थः (क).

निर्मितं मुख्यं भगवद्रूपम् इति अर्थः. तस्यच षट् लक्षणानि भगवद्दत्तषड्गुणवत्त्वबोधकानि.

तद् उक्तं—

"यत्तत् त्रिगुणम् अव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं[टि.१] प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवद्॥"
(भाग.पुरा.३।२६।१०) इति.

तत्र 'त्रिगुणम्' इति साम्यावस्थोपलक्षितगुणत्रयात्मकम्. कार्यवारणाय 'साम्यावस्थोपलक्षित...'इति. यथा सच्चिदानन्दं ब्रह्म, क्रियाज्ञानानन्दाः धर्माअपि भवन्ति, तथा त्रिगुणात्मकं प्रधानम् उद्गतास्तु अंशतो गुणाअपि भवन्ति. तेन धर्मधर्मिभावोऽपि न अनुपपन्नः. अयमपि कापिलाद् विशेषः. एतेन त्रिविधसृष्टिकरणार्थं भगवद्दत्तम् (१) ऐश्वर्यम् उक्तम्. एतेच गुणाः 'प्रजायेय...' (छान्दो.उप.६।२।३, तैत्ति.उप.२।६) इति इच्छया जघन्यभावं प्राप्ताः, सच्चिदानन्दानाम् आभासाः, अंशाः भगवतः उत्पन्नायां तस्यां शक्तौ प्रतिष्ठिताः तस्याः प्रधानत्वबोधकाः. 'अव्यक्तम्' इति तस्य (२) वीर्यं, न केनापि कालादिना तदभिव्यक्तं भवति तथा सति अनित्यतायां पुनः सृष्टिः न स्यात्. 'नित्यम्' इति सदा एकरूपम्, (३) कीर्तिः एषा. प्रकृत्या सहैव कालादयोऽपि उत्पद्यन्ते तिष्ठन्ति विलीयन्ते चेति त्रैकालिकाबाधविषयत्वरूपस्य नित्यत्वस्य न हानिः. 'सदसदात्मकम्' इति (४) श्रीः, तस्य एषा शोभा यत् कार्यकारणात्मकम्. 'अविशेषम्' इति (५) ज्ञानहेतुः. अन्यथा संसारिणो विवेक्तुम् असमर्थाः न मुक्ताः स्युः. 'विशेषवद्' इति (६) वैराग्यहेतुः. सर्वान् विशेषान् प्रदर्श्य पुनः तूष्णीं तिष्ठतीति.

---

१. यत् प्रधानं तदेव प्रकृतिं प्राहुः. किं तत् प्रधानं? स्वतो अविशेषवद् विशेषाणाम् आश्रयः (आ).

एतस्याः भगवदंशत्वञ्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाधिकरणे (ब्र.सू. १।४।२३) व्यवस्थापितम्. प्रकृतिपुरुषयोश्च स्वस्वामिभावएव सम्बन्धो अन्यत्र, प्रकृतेतु वीर्याधानस्य विवक्षितत्वात् संयोगोऽपि. साकारत्वञ्च एतयोः भगवतः साकारत्वादेव उपपन्नमिति न काचिद् देहेन्द्रियाद्यनुपपत्तिः. उपपादितञ्च एतद् आचार्यैः तत्त्वस्तुतौ तथाहि "भगवतः सर्वतः पाणिपादत्वात् यदंशाः एते प्रतिरूपतया निर्गताः तत्र सर्वत्रैव कारणप्रतिरूपहस्तपादादीनां विद्यमानत्वात् तैरेव तेषां व्यवहारः (इति). शरीरन्तु उत्पन्नमेव. अभिमानिनोऽपि चिदंशाः देवविशेषाः" पा.भे.१३ (सुबो.३।५।३७) इतितु महदादिसंग्रहायेति न कोऽपि शङ्कालेशः. इति प्रकृतिः.

महत्स्वरूपनिरूपणम् ;

अथ महान्. सच अत्र क्षुब्धेभ्यो गुणेभ्यः उत्पद्यते —

"तमोरजःसत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च॥
तेभ्यः समभवत् सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः।"
(भाग.पुरा.११।२४।५-६) इति वाक्यात्.

अर्थस्तु पा.भे.१४ : 'सूत्रं' सूचनात् क्रियाशक्तिमान् प्रथमो विकारः. ततो 'महान्' ज्ञानशक्तिमान्. सच 'सूत्रेण संयुतः' सम्यङ् मिश्रितः. ततः पृथग् न किन्तु एकमेव तत्त्वं पा.भे.१५ ज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां द्वेधा उच्यतइति. नच "दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ[टि.१] परः पुमान्, वीर्यमाधत्त सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्" (भाग.पुरा.३।२६।१९) इत्यादिवाक्यविरोधः, क्षुब्धानां गुणानां व्यापारतया तत्र अत्र च विवक्षितत्वात्. एतद्वाक्यार्थस्तु : 'दैवात्' कालात्, 'क्षुभिताः धर्माः' सत्त्वादयो यस्याः तादृश्यां, स्वक्षेत्रभूतायां प्रकृतौ 'परः पुमान्' प्रथमपुरुषो, 'वीर्यम् आधत्त' यथा स्वभार्यायां पुरुषः. तस्य इन्द्रियाणि भगवतइव आनन्दमयानि. रेतस्तु सच्चिदंशः. चिदंशएव इति एके.

१. अभिव्यक्तिस्थाने प्रादुर्भावस्थाने इति (आ).

सदंशस्तु प्रकृतेः सकाशात् सम्बध्यते. ततः 'सा' प्रकृतिः 'महत्तत्त्वम् असूत'. तस्य शरीरं 'हिरण्मयं', यथा सूर्यान्तर्गतनारायणस्य. आनन्दसतोः ऐक्ये हिरण्यरूपता भवति (सुबो.३।२६।१९) इति.

महतश्च लक्षणत्रयं आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन. तत्र आद्यं स्वरूपलक्षणं, द्वितीयन्तु, देवेषु तत्प्रसिद्धिः येन रूपेण तद्रूपज्ञापनाद्, उपासनार्थं, तृतीयन्तु लोके तदुपलब्ध्यर्थम्. अन्यथा प्रतिवादिनो न मन्वीरन्. तद् उक्तं "विश्वम् आत्मगतं व्यञ्जन्" (भाग.पुरा.३।२६।२०-२२)इत्यादिश्लोकत्रयेण. विस्तरभयाद् अत्र तदर्थं संक्षिप्य लक्षणानि प्रदर्श्यन्ते.

तत्र प्रथमश्लोकोक्तानि त्रीणि लक्षणानि गुणत्रयकार्यत्वव्यञ्जकानि. तत्र —

(१)"कूटस्थत्वे सति स्वाधारविश्वव्यञ्जकत्वम्" इति सात्त्विकं स्वरूपलक्षणम्. ब्रह्माणुवारणाय 'सत्य'न्तम्. प्रकृतिवारणाय शेषम्[टि.१].

(२)'जगदङ्कुरत्वं' द्वितीयं राजसम्.

(३)'अतिसमर्थतमोनाशकत्वम्' इति तामसम्.

द्वितीयश्लोकेतु आधिदैविकं —

"वासुदेवाविर्भाव-स्थान-शुद्धसत्त्वात्मकत्वं तद्रूपतया उपास्यत्वं च" उक्तम्. इदमेव च कार्येश्वररूपं निरीश्वरसांख्यानाम्.

तृतीयेतु आधिभौतिकं —

'चित्तत्वम्' इति लक्षणं 'चित्तत्व'ञ्च 'निर्विषय-

१. सर्वेष्वपि आदर्शेषु पाठस्तु एवमेव तथापि सिद्धान्ताभिमतप्रक्रियानुरोधेन : प्रकृतिवारणाय 'सत्य'न्तं, प्रकृतेः तादृग्विश्वव्यञ्जकत्वेऽपि कूटस्थत्वासम्भवात्. ब्रह्माण्डवारणाय शेषम् इत्येतादृशा क्रमेण भवितव्यम्. (म्या).

सर्वविकाररहित-ज्ञानवृत्तिकत्वम्'. बुद्धिवारणाय 'निर्विषये'ति. मनोवारणाय 'सर्वविकाररहिते'ति. अहंकारकारणाय 'ज्ञाने'ति. सात्त्विकाहंकारस्य तथात्वेऽपि पदार्थस्य एकत्वात् शान्तधोरविमूढात् केवलज्ञानत्वं व्यावर्ततएव. एवं शुद्धमनसोऽपि. आत्मवारणाय 'वृत्ती'ति.

सांख्यास्तु * "निश्चयवृत्तिकम् अन्तःकरणं त्रिगुणात्मकम् आद्यं कार्यं वा बुद्धिः" इति लक्षणम्* **आहुः**. तन्मते बुद्धिचित्तयोः पर्यायत्वम् अत्रतु पदार्थयोः भेदः इति विशेषः. अस्यच गोलकं हृदयं, ब्रह्मा देवता, एतत्सत्त्वे प्रमाणं च अग्रे वक्ष्यते. इति महान्.

<u>अहंकारस्वरूपनिरूपणम्</u> ;

अथ अहंकारः. सच महतः सकाशाद् उत्पद्यते.

तद् उक्तं —

"ततो विकुर्वतो जातो योऽहंकारो विमोहनः।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत्॥
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः।"
(भाग.पुरा.११।२४।६-७) इति.

'विकुर्वतः' इति कालेन क्षुब्धगुणात्. 'त्रिवृद्' इति त्रिव्यूहः. 'चिदचिन्मयः' इति चिदाभासत्वात् चिदचिद्-ग्रन्थिरूपः. तस्य आध्यात्मिकं सामान्यलक्षणन्तु "तन्मात्रेन्द्रियमनोजनकतमआदिगुणवत्त्वम्" तत्र 'तन्मात्राजनकत्वं' तामसत्वम्. 'इन्द्रियजनकत्वं' राजसत्त्वम्, तदेव च अस्य तैजसत्वम्. 'मनोजनकत्वं' सात्त्विकत्वम्. 'वैकारिकत्वं वैकृतत्वम्' इति च तस्यैव पर्यायौ. 'मनः'पदं देवानामपि उपलक्षकम्. तेन 'दिगाद्येकादशदेवजनकत्वम्' अपि सात्त्विकस्य लक्षणम्. तद्

उक्तम् "अर्थस्तान्मात्रिकाद् जज्ञे तामसाद् इन्द्रियाणितु तैजसाद् देवता आसन् एकादश च वैकृताद्" (भाग.पुरा. ११।२४।८) इति.

देवास्तु दिग्-वातार्क-प्रचेतो-ऽश्वि-वह्नीन्द्रोपेन्द्र-मित्रकाः चन्द्रश्च इति एकादश ज्ञेयाः. चकारात् मनः. इति आध्यात्मिकानि विशेषलक्षणानि. आधिदैविकलक्षणन्तु 'सङ्कर्षणाधिष्ठानत्वम्' इति एकमेव. भौतिकलक्षणन्तु 'कर्तृ-करण-कार्यत्वम्'. तत्र प्राणिषु विद्यमानस्य सात्त्विकाहंकारस्य 'कर्तृत्वं' लक्षणं, 'करणत्वं' राजसस्य, 'कार्यत्वं' तामसस्य. कर्तृत्वञ्च "कर्ता अहम्" इति बुद्धिविषयत्वम्. एवम् अन्यदपि ज्ञेयम्. इदं धर्मपुरस्सरं लक्षणत्रयम्. धर्मिपुरस्सरन्तु 'शान्तघोरविमूढत्वम्' इति भौतिकं स्वरूपलक्षणम् अतएव अहंकारेण शान्तिः अप्रयोजिका. अत्रापि तृतीयस्कन्धादेव पूर्ववद् विभागः. निरहंकारस्य न एते भावाः उत्पद्यन्ते अतएव भगवत्परः त्रितयविलक्षणो भवति. भौतिकलक्षणेन प्रमाणमपि उपदिष्टं भवति. विशेषः तृतीयसुबोधिनीतो अवगन्तव्यः.

प्राणो बुद्धिः च अस्यैव रूपान्तरं "ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्बुद्धिः प्राणस्तु तैजसः" (भाग.पुरा.२।५।३१) इति द्वितीयस्कन्धात्. तेन 'सर्वेन्द्रियबलदातृत्वं' प्राणलक्षणं क्रियाशक्तिमत्वात्. बुद्धेस्तु त्रीणि लक्षणानि, तत्र 'द्रव्यस्फुरणविज्ञानत्वं' स्वरूपलक्षणं, "इन्द्रियानुग्राहकत्वं संशयादिपञ्चवृत्तिकत्वं च" इति द्वयं कार्यलक्षणं तृतीयस्कन्धाद् (भाग.पुरा.३।२६।२९-३०) अवगन्तव्यम्. अहमोऽपि हृदयं गोलकं, रुद्रो देवता एवं[पा.भे.१६] प्राणबुद्ध्योरपि. इति अहंकारः.

पञ्चतन्मात्रानिरूपणम् :

अथ तन्मात्राः. साच 'भूतसूक्ष्मावस्था' इदमेव तल्लक्षणम्. ताः पञ्च मूले उद्दिष्टाः 'निर्विशेष-शब्दादि-गुणवद्-भूतत्वम्', "अहंकारोपादेयत्वे सति तत्त्वान्तरोपादानत्वं" वा तल्लक्षणम्. शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-भेदात् पञ्च ताश्च योगिनां गोचराः, विशेषाएव तेषाम् अस्मदादिगोचराः इति

सांख्याः. तद् अस्माकमपि सम्मतम्.

उक्तानां पञ्चतन्मात्राणां विशेषलक्षणानि :

अथ विशेषलक्षणानि :

[१.शब्दः] तत्र 'श्रोत्रग्राह्यधर्मवान्'=शब्दः, अनेन प्रमाणम् उक्तम्. शब्दधर्मेषु अतिव्याप्तिवारणायं 'धर्म'पदम्. 'नभस्तन्मात्रत्वं', 'द्रष्टृदृश्यलिङ्गत्वं' च इत्यपि तल्लक्षणम्. "गजो! गजः!" इति उक्ते गृहस्थितो बहिः स्थितं देवदत्तं गजद्रष्टारं स्वरेण अनुमिनोति. एवं टङ्कारादिना दृश्यं घण्टादिकमपि. इदमपि तृतीयस्कन्धे उक्तम्. "अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टृलिङ्गत्वमेव च तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः" (भाग.पुरा.३।२६।३३) इति, द्वितीये च "लिङ्गं यद् द्रष्टृदृश्ययोः" (भाग.पुरा.२।५।२५) इति. अर्थाश्रयत्वन्तु आधिदैविकलक्षणं वर्णेषु, तद् अत्र तन्मात्रारूपे शब्दे न अनुमन्यते, मतान्तरत्वात्. तेषां नामसृष्ट्यन्तःपातित्वेन एतद्भिन्नत्वाद् इति बोध्यम्. रूपसृष्ट्यन्तर्गतो अयम्. ततो अयन्तु कार्यगतः सविशेषः सन् पञ्चानामपि गुणः.

यत्तु **नैयायिकाः** *शब्दस्य आकाशमात्रगुणत्वम् इच्छन्ति, तन् न, "परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयादतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते" (भाग.पुरा.३।२६।४९) इति "नभसोऽथ विकुर्वाणाद् अभूत् स्पर्शगुणोऽनिलः परान्वयाच्छब्दवाँश्च" (भाग.पुरा.२।५।२६) इत्यादिवाक्यविरोधात्. नच *अत्र कणादादि-मुनिप्रणीत-दर्शन-विरोधात् तौल्यम्* इति वाच्यं, शब्दप्रामाण्ये मुनिप्रणीतत्वस्य अतन्त्रत्वात्. अन्यथा ताथागतादिदर्शनानामपि प्रामाण्यप्रसङ्गात् किन्तु वेदाद्यविरोधस्यैव तन्त्रत्वम्. पुराणस्यतु वेदहृदयत्वाद् वेदरूपत्वात् च दर्शनापेक्षया प्रबलत्वात् तद्दर्शनम् उपेक्ष्यमेव. तेन भेर्यादिशब्दोः भौमएव. अयञ्च कार्यगतो विसारी सावयवः च इति उपपादितं शब्दखण्डे तथा शब्दोत्पत्तिप्रकारः शब्दश्रवणप्रकारः च तत्रैव निपुणतरम् उपपादित-इति न पुनः निरूप्यते. कार्यगतश्च शब्दः उदाता-ऽनुदात्त-स्वरित-कम्पित-षड्जर्षभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषादादि-भेदाद् अनन्तविधएव. तथा स्पर्शवा

नपि. नच मानाभावो, नेत्रगोलकावच्छेदेन धूमस्पर्शस्येव महागुलीयन्त्रशब्दजन्य-स्पर्शस्य मर्मस्पृग्वाक्यजन्यस्पर्शस्य च हृदयावच्छेदेन त्वचा अनुभवात्. अतएव "न कञ्चिन् मर्मणि स्पृशेद्" ( ) इति स्मृतिरपि सङ्गच्छते. नच *गुणे गुणानङ्गीकारात् न एवम्* इति वाच्यं, संख्यावद् वक्तुं शक्यत्वात् कल्पनायाः दृष्टानुसारित्वाद् इति. यत्तु "शब्दस्य भूम्यादिगुणत्वे घ्राणेन्द्रियादि-ग्राह्यत्वापत्तिः" इति उक्तं, तत् न, तत्तद्भूतगुणत्वेन तत्तद्भौतिकेन्द्रियग्राह्यत्वेन व्याप्त्यभावात्. पार्थिवरूपादिनां चक्षुरादिग्राह्यत्वद-र्शनेन व्यभिचारात्.

यत्तु **भाट्टाः** *"शब्दो द्रव्यं साक्षात् सम्बन्धेन इन्द्रियग्राह्यत्वाद् घटवद्" इति **प्रयुञ्जते** 'सङ्कोच-विकासात्मक-परिमाण-शाली' च इति **कल्पयन्ति.** तथाहि : भेरीशब्दः श्रोत्रेण गृह्यते इति अनुभवसिद्धम्. तत्र कदम्ब-गोलकादि-न्यायकल्पने अनेकशब्द-तत्प्रागभाव-विरामादि-कल्पना-गौ-रवम्. एकएव शब्दः तावद्दूरवर्ती समुत्पद्यते इति अङ्गीकारे निकटस्थदूरस्थयोः युगपत् श्रवणापत्तिः, नतु क्रमेणेति सङ्कोच-विकास-शालि-परिमाणवान् कल्प्यते. प्रयोगश्च "शब्दो द्रव्यमेव नतु गुणः संकोचविकासात्मकपरिमाणवत्त्वात् भस्त्रावद्" इति. तेन तत्रैव शब्दे वाय्वनुसारेण विकासात्मकं परिमाणम् उत्पद्यते, तदा "असौ शब्दः श्रोत्रम् आप्नोति" इति प्रत्यक्षीक्रियते* इति **आहुः**.

तेषां यद्यपि कल्पना लघीयसी तथापि प्रत्यक्षानधिगतस्य परिमाणस्य कल्पनया सिद्धौ, तेन शब्दे द्रव्यत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तत्र तादृशपरिमाणसिद्धिरिति अन्योन्याश्रयः. किञ्च पूर्वप्रयोगेण द्रव्यत्वसिद्धावपि तादृशपरिमाणवतः शब्दस्य दूरस्थश्रवणपर्यन्तम् उत्पत्तिदेशे स्थितौ निकटस्थस्य श्रवणधारापत्तिः, वायुना ततो नयने च समस्वरश्रवणापत्तिः, नतु महाप्लुत-प्लुत-दीर्घ-ह्रस्वादिश्रवण-व्यवस्था. तस्माद् अस्मदुक्तएव पक्षः साधीयान् इति दिक्.

यत्तु "शब्दो नित्यो निःस्पर्शद्रव्यत्वाद् आत्मवद्" इति नित्यत्वसाधनं,

तदपि हृदयदेशावच्छेदेन स्पर्शानुभवाद् उक्तरीत्या द्रव्यत्वासिद्धेः च निरस्तं ज्ञेयम्.

यच्च "शब्दो नित्यो व्योमैकगुणत्वाद्" इति साधनं, तदपि पञ्चभूतगुणत्वस्य अङ्गीकारादेव पक्षे हेत्वसिद्धेः निरस्तम् इति शिवम्. इति शब्दः.

[२.स्पर्शः] अथ स्पर्शः. सच त्वग्ग्राह्यः. तल्लक्षणन्तु 'वायुतन्मात्रत्वम्'. अयं कार्यगतः सविशेषः सन् चतुर्णामपि गुणो भवति, तेन 'शब्दव्याप्यगुणत्वं' वा 'रूपव्यापकगुणत्वं' वापि तल्लक्षणम्. सिद्धान्तेतु मात्रारूपो मृदुकठिन-शीतोष्णभेदात् चतुर्विधः. "मृदुत्वं कठिनत्वं च शैत्यमुष्णत्वमेव च एतत्स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः" (भाग.पुरा.३।२६।३६) इति वाक्यात्. गुणात्मातु मृदु-पिच्छिल-कठिन-शीतोष्णानुष्णाशीत-लघु-गुरु-संयोगादि-भेदाद् बहुविधः. 'मृद्वा'दिशब्दाः च धर्मवाचकाएव प्रचुरप्रयोगाद् धर्मिणमपि बोधयन्ति. यथा आह कोशकारः "शीतं गुणे तद्वदर्थाः सुशीमः शिशिरो जडः" (अम.को.१।३।१९) इति. श्रीभागवतेच "वस्तुनो लघुकाठिन्यं मृदुगुर्वुष्णशीततां जिघृक्षतस्त्वङ्निर्भिन्ना" (भाग.पुरा.२।१०।२३) इति शुकोऽपि आह. अतएव लोके 'भारा'दिपदप्रयोगश्च. तत्र 'मृदुः'=कोमलः यथा मालतीकुसुमादौ. सच गाढस्पर्शेन गृह्यते. चाक्षुषन्तु उपनीतभानरूपम्. अन्यथा कठिने गुल्मनवरङ्गाख्यपुष्पे मृदुत्वभ्रमो न स्यात्. पिच्छिलोऽपि तस्यैव भेदः, सच पट्टदुकूलादिषु. कठिनस्तु पाषाणादिषु. शीतो जले. उष्णः तेजसि. अनुष्णाशीतस्तु वायौ भूमौ च. लघुस्तु वायुतेजोजलभूमिषु यथा सूक्ष्मवायुस्पर्शो ज्वालास्पर्शः तूलस्पर्शः च. लघुत्वादेव ऊर्ध्वगमनं तेजसः. जलीयस्तु गङ्गायमुनयोः कूपनद्योः वा पयसि पेपीयमाने मुखावच्छिन्नत्वचैव प्रत्यक्षः. गुरुरपि वायुजलभूमिषु. तत्र वायवीयस्तु वायुपूरितदृतिनमनोन्नेयएव. पा.भे.१७ बहिः वायौ पा.भे.१८ तदननुभवस्तु वेगप्रतिबद्धत्वाद्. जलीयस्तु मुखावच्छिन्नत्वचा प्रत्यक्षोऽपि. भौमस्तु विष्टम्भेन टि.१ प्रत्यक्षः, पाणौ फलकुसुमयोः स्थापने पाणिनमनतोलनाभ्यां विनैव

१. पतनप्रतिबन्धकीभूतः संयोगविशेषः इति अर्थः (अ).

फले गुरुत्वानुभवात्. यद्यपि शास्त्रान्तरे गुरुत्वं भिन्नो धर्मः उत्तोलनादिना अवगम्यते, तथापि सो अस्मिन् शास्त्रे स्पर्शएव स्पर्शसहितेनैव तोलनादिना तदवगमात्. स्पर्शं विना यत्र गुरुत्वावगमः तत्रतु आनुमानिकएव, पर्वते वह्नेरिव. किञ्च गुरुत्वं यत्र दृष्टं तत्र आपेक्षिकमेव दृष्टम्. तच्च परमाणौ त्रुटौ वा न वक्तुं शक्यं, तत्र आद्यपतनासमवायिकारणस्य तस्य प्रत्यक्षतो बाधात्, "जालार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगाम्" (भाग.पुरा.३।११।५) इति वाक्यात् च. एतेन लघुत्वमपि व्याख्यातं ज्ञेयं, कार्योत्पत्तेः पूर्वम् अपेक्षाबुद्ध्यनुदयेन अपेक्षितस्य लघुत्वस्य अशक्यवचनत्वात्.

यत्तु **वैशेषिकाः** [पा.भे.१९] ✻अस्ति नित्यम् अतिरिक्तं गुरुत्वं परमाणुमात्रवृत्तिः, तेन कार्ये गुरुत्वान्तरन्तु न जन्यते. यदि जन्येत तदा तोलक-तोलकमितावयवद्वयारब्धे अवयविनि अवयवगुरुत्वाभ्यां सह अस्य तोलकचतुष्टयमितं गुरुत्वं स्यात्. तच्च तदनुसार्यवनमनादर्शनाद् अशक्यवचनम्. नच ✻ताभ्यां कार्ये सूक्ष्ममेव गुरुत्वं जन्यते, स्वसम [पा.भे.२०] -तज्जनने नियामकाभावात्, तच्च घटलग्नतृणादेरिव अग्राह्यम्✻ इति वाच्यम्, अप्रत्यक्षस्य तस्य अनुन्नेयत्वे तदुत्पत्तावेव मानाभावात्. अतो नित्यं निरपेक्षं परमाणुमात्रवृत्त्येव गुरुत्वम्. अवयविनितु तद्बहुत्वादेव गुरुत्वाधिक्यप्रत्ययः ✻ इति.

तत् न, बहुत्वस्य महत्त्व [पा.भे.२१] मात्रबोधकत्वात्, तूलादिपुञ्जेषु तथा अवधारणात्. बहुतूलपुञ्जाल्पपाषाणयोः पातने पाषाणप्रथमपातबाधापत्तेश्च, बहुत्वबोधितगुरुत्वस्य पाषाणे अभावात्. किञ्च तूलपुञ्जे आद्यपतनासमवायिनो गुरुत्वस्य अभावात् पाषाणे च बहुत्वबोधितगुरुत्वस्य अभावाद् अपेक्षाबुद्धेः पर्यायेण [टि.१] उभयत्र उदयात् तत्र आपेक्षिकस्यापि तस्य निर्वक्तुम् अशक्यत्वात् लक्षणे अव्याप्तिग्रासात् च. किञ्च यत्र शिथिलावयवश्लिष्टावयवौ तूलपाषाणौ द्वावपि सन्निहितौ तत्र तोलनेन शिथिलावयवे पातमज्जनाभ्यां श्लिष्टावयवे गुरुत्वबुद्धिः उदेतीति सत्प्रतिपक्षग्रासः, साध्याप्रसिद्धेः च. अतो अतिरिक्तत्वातीन्द्रियत्वाद्यङ्गीकारः प्रशस्तपादविश्वासादेव इति दिक्.

केचित्तु *परमाणुषु गुरुत्वं नाङ्गीकुर्वन्तः संयोगेन शब्दवत् शिथिलावयवसंयोगेन लघुत्वं श्लिष्टावयवसंयोगेन गुरुत्वम्* इति आहुः.

तदपि असङ्गतं, स्पर्शातिरिक्तस्य संयोगस्यापि वक्तुम् अशक्यत्वात्. स्पृष्टएव लोके 'संयुक्त'व्यवहारात्, संयोगे 'स्पर्श'व्यवहारात् च. नच *लौकिक व्यवहारो भ्रान्त्यैव* इति वक्तुं शक्यं "शवस्पृशं दिवाकीर्तिं चितिं यूपं रजस्वलां स्पृष्ट्वा त्वकामतो विप्रः स्नानं कृत्वा विशुद्ध्यति" ( ) इति स्मृतावपि तथा प्रयोगात्. यत्तु *"चाण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात् साम्यन्तु गच्छति" (मनुस्मृ.११।१७५) इत्यादि उक्त्वा "यत् करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद् द्विजः तद् भैक्ष्यभुग् जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैरपोहति" (मनुस्मृ.११।१७८) इति प्रायश्चित्तान्तरविधानाद् अस्ति स्पर्शसंयोगयोः भेदः* इति तदपि असङ्गतं, तस्य ज्ञानप्रयुक्तत्वाद् अष्टविधमैथुनक्रियानिर्वृत्तिप्रयुक्तत्वात् च. नच *संयोगस्य द्वयोः व्यासज्य[पा.भे.२२] वृत्तित्वेन स्पर्शस्य च एकवृत्तित्वेन प्रत्यक्षतो भेदनिश्चयात् न एवम्* इति वाच्यं संयोगे व्यासज्यवृत्तित्वस्य विप्रतिपन्नत्वात्. "इदम् अनेन सदृशम्-इदम् अनेन" इति प्रतियोगिनम्अपेक्ष्य तत्र-तत्र अवगम्यमानस्य सादृश्यस्य प्रतिधर्मिभिन्नत्ववत् "इदम् अनेन संयुक्तम्-इदम् अनेन" इति बुद्धिविषयस्य संयोगस्यापि प्रतिधर्मिभेदाङ्गीकारे बाधकाभावात्. हरिद्राचूर्णरूपाभ्यां विजातीयरूपवत् पाकजमृदुत्वादिवत् च द्रव्यद्वयस्पर्शाभ्यां तदानीं संयोगाख्यस्य विजातीयस्य तस्य जननाद्, भेदज्ञानेऽपि स्पर्शातिरेकस्य दुरुपपादत्वात् च. अन्यथा द्वित्वादावपि सङ्ख्यातो अतिरेकप्रसङ्गात्. संयोगजस्तु न संयोगः, भिन्नतया अप्रतीयमानत्वात्. नच *स्पर्शस्य त्वगेकगम्यत्वात् संयोगस्य त्वक्चक्षुर्गम्यत्वाद् अस्ति भेदः* इति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वात्. त्वग्ग्राह्यगुणत्वस्यैव स्पर्शत्वात्, चक्षुर्ग्राह्यत्वेऽपि त्वग्ग्राह्यत्वानपायात्. *ननु उक्ते द्वितीयस्कन्ध(२।१०।२३)वाक्ये लघ्वादिग्रहणाय त्वङ्-निर्भेद-कथनेन अर्थतः इतरनिषेधसिद्धेः संयोगे स्पर्शत्वं न युक्तम्* इति चेद्, अत्र पृच्छामः : कथम् अत्र निषेधः? किं यस्माद् एवं तस्मात् न इतरग्रहणाय त्वङ्-निर्भेदः इति? उत तस्माद्

१. तोलनाद् एकत्र आद्यपतनात् च अन्यत्र इत्येवम् इति अर्थः[(क)].

एतएव स्पर्शो न इतरः इति? अथवा तस्माद् लघ्वादिषट्कं न इतरग्राह्यम् इति? तत्र न आद्यः संयोगस्यापि त्वचा अग्रहणापत्तेः. न द्वितीयो वाक्ये निर्देशात् स्पर्शसामान्ये स्पर्शत्वहानिप्रसङ्गात्. अतः तृतीयएव पक्षः आदर्तव्यः. ततश्च न संयोगे स्पर्शत्वायोगइति न किञ्चिद् एतत्.

ननु संयोगस्य स्पर्शत्वे त्वग्लक्षणस्य चक्षुषि अतिव्याप्तिः इति चेत्, न, वायुविशेषगुणत्वेन स्पर्शग्रहस्य तत्र विवक्षितत्वेन चक्षुषि च तदभावेन अदोषात्. नच *स्पर्शस्य पृथिव्यादिचतुष्टयवृत्तित्वात् संयोगस्य च नवद्रव्यवृत्तित्वाद् अस्ति भेदः* इति वाच्यं, संयोगस्य आकाशादिपञ्चकवृत्तित्वे मानाभावात्. "आकाशे कन्दुकः — इदानीं घटः — प्रतीच्यां[पा.भे.२३] चन्द्रः" इत्यादौतु कालिकसम्बन्ध-स्वरूपसम्बन्धाभ्यामेव यथासम्भवं वृत्तिनियमासिद्धेः. अन्यथा सर्वएव आत्मानः काले न स्युः. किञ्च, आकाशादौ संयोगाङ्गीकारे तदसमवायिकारणनिर्वचनाशक्तिः. तथाहि न सङ्ख्यापृथक्त्वयोः तथात्वं, तयोः विजातीयगुणजनकत्वस्य अन्यत्र असिद्धत्वात्. यत्र समविषमानेकद्रव्यजे[पा.भे.२४] कार्ये विजातीयरूपरसाद्युत्पत्तिः तत्रापि कारणगतरूपरसादेरेव असमवायित्वं, न सङ्ख्यायाः. तस्याः स्वरूपतो मानं नियम्यैव अन्यथासिद्धत्वात्. नापि परिमाणस्य, अतिमहतः तस्य कार्याजनकत्वात्. नापि विभागस्य, तस्य संयोगजनकतयाः क्वापि अदर्शनात्. नापि विशेषगुणानां, संयोगान्तरभावित्वात्. नापि घटादिकर्मणः, तस्य तथात्वे[टि.१] निमित्तकारणनिर्वचनाशक्तेः. नच *कालेश्वरेच्छादीनामेव निमित्तत्वम्* इति साम्प्रतं, तेषां सामान्यत्वेन अगतिकत्वाद् इति. नच एवं देहविष्टम्भा[टि.२] नुपपत्तिः, प्राणसंयोगेनैव तत्सम्भवात् "यस्याः कालेन नोद्यायाः वियोगः प्राणदेहयोः प्राणिनः सा स्वसमये मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः" ( ) इति मृत्युलक्षणेन तथा अवधारणात्. नच *आत्ममनसोः संयोगराहित्ये ज्ञानानुदयप्रसङ्गः* इति वाच्यं, कार्यकारणकर्तृत्वाध्यासेन इन्द्रियप्रेरणेन च तत्सम्भवस्य उपपादितत्वात्. व्यापकत्वञ्च न सकलमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं किन्तु दैशिकपरिच्छेदरहितत्वमेव जन्ये. ईश्वरेतु देशकालापरिच्छेद्यत्वमिति न कोऽपि चोद्यावसरः. मनसस्तु

१. असमवायित्वे (क). २. पतनप्रतिबन्धकीभूतसंयोगो विष्टम्भः (क).

स्पर्शवत्त्वेऽपि न दोषो, अन्नमयत्वेन वक्ष्यमाणत्वाद् इति. तस्मात् न स्पर्शातिरिक्तः संयोगो नवा गुरुत्वादयः. श्लेषस्तु विभागाभावएव. संयुक्ताअपि अङ्गुलयः चतस्रो भवन्ति. संश्लेषेतु न तथा, यथा मिलिताङ्गुलेः इति. एवञ्च स्नेहोऽपि स्पर्शस्यैव भेदः, त्वचैव अवगमात्. नच * संग्रहनिमित्तत्वेन मृजा नाश्यत्वेन च सो अतिरिक्तएव अस्तु * इति वाच्यं, स्पर्शस्यैव तथात्वाङ्गीकारे बाधकाभावात्. एतेनैव उभयविधं द्रवत्वमपि व्याख्यातं ज्ञेयम्. चक्षुषा तद्ग्रहस्तु उपनीतभानरूपएव, रूपान्तरक्रियाद्युन्नेयत्वात् तस्येति अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या. इति स्पर्शः.

[३.रूपम्] अथ रूपम्. तच्च चक्षुर्ग्राह्यम्. तल्लक्षणञ्च 'तेजस्तन्मात्रत्वं', 'द्रव्याकृतितुल्याकृतिकत्वं', "सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीयमानत्वं", 'व्यक्तिसंस्थासमानसंस्थाकत्वं' च. तद् उक्तं "द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च तेजस्त्वं तेजसः साध्वि रूपमात्रस्य वृत्तयः" (भाग.पुरा.३।२६।३९) इति. तच्च तन्मात्रारूपम् एकविधमेव, मूले रूपभेदागणनात्. कार्यद्रव्यगतन्तु गुणरूपं भास्वर[टि.१]-शुक्ल-नील-पीत-हरित-लोहितादि-भेदाद् अनन्तविधं रङ्गकारादिषु सुप्रसिद्धम्. तेन 'स्पर्शव्याप्यगुणत्वं' - 'रसव्यापकगुणत्वं' च तल्लक्षणं ज्ञेयम्. चित्रमपि अतिरिक्तं रूपम्.

पार्थसारथिमिश्रास्तु * कारणगुणानां न कार्यगुणारम्भकत्वं गुणद्वयप्रतीत्यभावात्. यदिहि द्वौ गुणौ प्रतीयेयातां तन्तुषु एकः पटे च अपरः, ततः कार्यकारणभावं प्रपद्येयाताम्. नतु एवं किन्तु तन्तुरूपमेव, तन्तुषु पटभावमापन्नेषु, पटरूपतया प्रतीयते नतु रूपान्तरम्. चित्रपटेऽपि अवयवभेदद्वारेणैव नानारूपसमवायस्य शक्यवचनत्वात्. 'चित्र' शब्दस्य नानापर्यायतया लोकप्रसिद्धेः च चित्रमपि न अतिरिक्तं रूपम् * इति आहुः.

तत् चिन्त्यं, चित्रे तथा वक्तुं शक्यत्वेऽपि यत्र हरिद्राचूर्णयोः कार्ये कुङ्कुमादौ निम्बूकरसाक्तहारिद्रवसनादौ वा विजातीयं रक्तं पीतं च रूपं प्रतीयते तत्र कारणगुणारभ्यत्वस्य आवश्यकत्वात् चित्रस्य

१. भास्वरं परप्रकाशकत्वं "ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसोऽपरा"( )(आ).

अतिरिक्तत्वाङ्गीकारेऽपि बाधकाभावात्.

केचिद् **आलङ्कारिकास्तु** * यद्यपि रूपाणि षड्विधानि तथापि परिशेषात् त्रीण्येव सिध्यन्ति पीतारुणयोः नीलहरितकृष्णानां च ऐक्यात्. * ननु घटपटयोरिव पीतरक्तयोः भेदप्रतीतेः निह्नोतुम् अशक्यत्वात्, कारणविशेषगुणानां कार्ये स्वसजातीयगुणारम्भकत्वस्वाभाव्यात् च, न तयोः अभेदः सिद्ध्यति. नच भेदप्रतीतिः भ्रमो, बाधकाभावात्. पीते काञ्चने रक्तप्रतीतिरेव बाधकम् इति चेत्, न, सा पीतातिरिक्तविषयेति. नच कारणगुणानारब्धे पाकजन्ये रक्ते तयोः अभेदप्रतीतिः सुस्था. तत्र पीतं नष्टं पाकेन रक्तम् उत्पन्नम् इति प्रतीतेरेव भेदप्रत्यायकत्वात् रक्तस्य पीतध्वंससमानाधिकरणत्वाद् * इति चेत्, तद् इदं न क्षोदक्षमं, हरिद्राकिंशुकादिरसे चूर्णादि-क्षारयोगेन रक्तिमोपलब्धेः अन्यत्वानुपलब्धेः च अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदभेदस्य अक्षतत्वात्. धवलनीलयोगे वर्णान्तरम् उपलभ्यतएव इति चेत्, मिथो वर्णयोः [टि.१] योगे वर्णान्तरोपलब्धेन अभेदप्रत्यायकत्वं, क्षारादेः अवर्णत्वेन तत्प्रत्यायकत्वम् इष्टम्. एतदन्यथानुपपत्या तदभेदकल्पनम् आवश्यकम्. तत्र क्षारादिः व्यञ्जकः इति चेद, ओम् इति ब्रूमः, विद्यमानभावस्यैव व्यञ्जकेन उपलब्धेः. उत्कर्षाधायकः स इति चेत्, उत्कर्षस्य स्वसजातीयसत्त्या सिद्धेः तदभेदो दैवसिद्धः. नहि रासभस्य उत्कर्षो अश्वत्वं किन्तु स्वजातीयेषु आधिक्यम्. हरिद्रा 'अरुणा' इति प्रत्ययात् तत्र पाकेनैव रूपपरावृत्तिः इति चेत्, खटिकेंगालादौ चूर्णाद्ययोगेऽपि पाकप्रसक्त्या रूपपरावृत्तिः दुर्वारा. किञ्च, अभिव्यञ्जकसमवधाने अभिव्यञ्जकस्य तदाविर्भावकत्वेन पीते रक्ताभेदासिद्धेः "पीतं रक्तात्यन्ताभाव-प्रतियोगि, तदन्याप्रतियोगित्वे सति प्रतियोगित्वात् रक्तवत्, व्यतिरेके नीलादिवद्" इत्यादिना तदभेदसिद्धेः. उभयत्रापि [टि.१] पीतत्वस्य त्वन्मतसाध्या-व्यापकत्वात् न उपाधिता, साध्याभावोपाध्यभावव्याप्तेः पीते व्यभिचरितत्वात् पक्षतावच्छेदकस्य अनुपाधित्वात् च. मधूपासनायां "यत् पीतं चारुणं च" (?)इति प्रकृत्य "न पीताद् अरुणं न अरुणात् पीतं भिन्नम्"

१. मिथोवर्णयोगनिष्ठम् इति अर्थः (अ).

(?) इति तयोः अभेदो दर्शितः. तस्मात् प्रत्यक्षानुमानशब्दार्थापत्तिप्रमाणेभ्यः तयोः अभेदः सिद्ध्यति इति. अतएव उदये अरुणे अंशुमालिनि, पुनः पीतप्रतीतिः. तस्माद् आरुण्यापकर्षः पीतः पीतोत्कर्षो अरुण-इति उत्कर्षापकर्षयोः स्वावच्छिन्नावच्छेदकत्वनियमात् तयोः ऐक्यसिद्धिः. अतएव न पीताम्बरे हरौ 'अरुण' पदवाच्यता. एतेन तेजसः शुक्लभास्वरं रूपम् इति उक्तिः प्रत्युक्ता, भास्वरत्वाङ्गीकारेऽपि शुक्लानङ्गीकारात्. चन्द्रमसि मण्यादौ च तदौष्ण्यवत् प्रभूतपाथः पृथिवीभागगतरूपेण अभिभवसम्भवात्, "यद् अरुणं तत् तेजसो यद् धूम्रं तद् वायोः यत् नीलं तद् नभसः" (?) इति आथर्वणीयात् च वैदिकस्यैव तत् शोभते. एवं "नीलमेघश्यामो हरिः" इति सार्वजनीनप्रयोगात् नीलश्यामयोः पर्यायतया तयोरपि न भेदः सिद्ध्यति इति. "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (महाना.उप.९।२) इति श्रुतौ प्रकृतेः त्रिगुणत्वप्रतिपादनात् तज्जन्यस्य जगतोऽपि त्रिगुणत्वमेव सिद्धम्. गुणानाञ्च एतद्रूपत्रयवत्त्वमेव. इतरेषाम् अत्रैव अन्तर्भावः ※ इति आहुः.

तत् न रोचिष्णु, अबाधितप्रत्यक्षेणैव पीतारुणयोः भेदनिश्चयात्. नच ※तस्य उत्कर्षापकर्षविषयत्वात् न जातिभेदनिश्चायकत्वम्※ इति वाच्यम्, हरिद्रारुण्यादिप्रत्यये पीतमारुणिम्नोः सहैव भानेन पीतिम्नि तदपकर्षरूपत्वस्य अशक्यवचनत्वात्. एकविषययोः तयोः सहानवस्थानात्. अन्यथा कौसुम्भाद्यापकर्षेऽपि पीतप्रत्ययापत्तेः. अतः क्षारादिनापि पीतिम्ना सहैव आरुण्यम्अभिव्यज्यते. अम्लादिनाच आरुण्यनाशेन अभिभवेन वा तत्रापि [पा.भे.२५] पीतिमा उत्कृष्यतइति प्रत्यक्षानुरोधेन अवश्यं मन्तव्यम् अकामैरपि. किञ्च पीतोत्कर्षस्य अरुणत्वं वक्तुम् उद्यदंशुमालिनि दर्शनमपि असङ्गतम्, उत्कर्षदशायां पीतत्वभानात्. तथैव सुवर्णादावपि अवगन्तव्यम्. एवं सिद्धे भेदे प्रत्यक्षबाधितम् अनुमानादिकमपि अप्रमाणम्. मधूपासनाश्रुतिरपि भिन्नपदेन अविविक्तत्वमेव तयोः वक्ति नतु ऐक्यमिति न विरुध्यते. अतएव अथर्वणीयश्रुतिरपि वायोः धूम्रम् अधिकं रूपं वदन्ती कार्येषु कार्याकृतिवद् रूपमपि अतिरिक्तं बोधयति इति युज्यते. "नीलमेघश्यामो हरिः"

१. उक्तप्रयोगे तद्विपरीतप्रयोगे च इति अर्थः(अ).

इत्यादावपि 'श्याम' पदस्य रूपद्वयवाचकत्वम् उपमानपद-समभिव्याहाराद् अवगन्तव्यम्, "कर्पूरगौरः शिवः" "स्वर्णगौरी पार्वती" इत्यादिषु तथा दर्शनात्. नच श्वेतपीतयोः ऐक्यं युष्मत्सम्मतम्, अतः तद्वद् अन्यत्रापि अवधेयम्, "अजाम् एकाम्" (महाना.उप.९।२) इति श्रुतिरपि साङ्ख्यमते प्रकृतिपरा वेदान्तिमते तेजोऽबन्नपरा, उभयथापि कारणरूपं निरूपयन्ती कार्यमिव रूपान्तरं जन्यं संगृह्णाति नतु निह्नुतइति अन्तर्भावेऽपि रूपान्तरम् अवर्जनीयम् इति दिक्.

प्रकृतम् अनुसरामः. भास्वरन्तु परप्रकाशकम्. तच्च स्वाश्रयाधिकदेशवृत्ति विसारित्वात् मणिप्रभादौ तथा निश्चयात्. नच *तस्याः तज्जनित-विरल-सजातीय-द्रव्यान्तरत्वम्* इति वाच्यं, रूपवत्त्वेन स्पर्शवत्त्वेन व्याप्तेः तस्याअपि स्पार्शनप्रसङ्गात्. नच *तस्याः अनुद्भूतः स्पर्शो अस्ति* इति वाच्यं, मानाभावात्. उद्भवस्य क्वापि अदर्शनात्. कारणे उद्भूतः कार्ये अनुद्भूतः इति वैपरीत्यात् च. नच *तदवयवाः अतिरिक्ताएव* इति वाच्यं, मणिनाशेऽपि तदारम्भकावयवानाशात् तत्स्थित्यापत्तेः, मणिं विनापि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् च. "मणेः प्रभा" इतिवत् "प्रभावयवानां 'प्रभा'" इति प्रतीत्यापत्तेः च इति. इदञ्च "गुणाद् वालोकवद्" (ब्र.सू.२।३।२५) इति सूत्रे प्रपञ्चितम् आचार्यैः इति विशेषाकाङ्क्षायां ततो अवधेयम्. इति रूपम्.

[४.रसः] अथ रसः. सच रसनेन्द्रियग्राह्यः. तल्लक्षणन्तु 'जलतन्मात्रत्वम्'. सच तन्मात्रारूपो अव्यक्तमधुरएव. कार्यगतस्तु भौमो व्यक्ताव्यक्तभेदभिन्नः कषाय-मधुर-तिक्त-कट्वम्ल-क्षार-मिश्र-भेदात् सप्तविधः. तदवान्तरभेदैस्तु अनन्तविधो गुड-शर्करा-द्राक्षा-दुग्धादौ तथा उपलम्भात्. तेन 'गन्धव्यापकगुणत्वं' 'रूपव्याप्यगुणत्वं' च तल्लक्षणम्. अयं जले अव्यक्तमधुरएव. रसान्तरप्रतीतिस्तु आधारधर्मसम्बन्धात्. तद् उक्तं "भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते" (भाग.पुरा.३।२६।४२) इति. इति रसः.

[५.गन्धः] अथ गन्धः. सच घ्राणेन्द्रियग्राह्यः. तल्लक्षणन्तु

'पृथिवीतन्मात्रत्वम्'. सच व्यक्ताव्यक्तभेदाद् द्विविधः. कार्यगतस्तु गुणरूपः षड्विधः "करम्भपूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्लादिभिः पृथक् द्रव्यावयववैषम्याद् गन्ध एको विभिद्यते" (भाग.पुरा.३।२६।४५) इति वाक्यात्. तदवान्तरभेदैस्तु अनन्तविधः. तेन 'रसव्याप्यगुणत्वं' तल्लक्षणम्. तत्र करम्भो मिश्रः, सच व्यञ्जनादिषु प्रसिद्धः. एतेन जातिसाङ्कर्यमपि परिहृतं बोध्यम्. अन्यथा लवङ्गादौ यत्र सौरभ्यं न तत्र पूतित्वं, यत्र पूतित्वं हिंग्वादौ न तत्र सौरभ्यम्. उभयसमावेशश्च व्यञ्जनइति तत् स्यादेव. पूतिः दुर्गन्धः, सौरभ्यं सुगन्धः. पूतिसौरभ्ययोरेव शान्तोग्रौ भेदौ. तत्र शतपत्रादिगन्धः शान्तः, उग्रः चम्पकादेः लशुनादेः च. अम्लो निम्बूकादेः पर्युषितसूपादेः च. 'आदि' शब्देन धूमधूपादीनाम् अनेकविधो गन्धोऽपि संगृहीतो ज्ञेयः. अयञ्च स्वाश्रयाधिकदेशवर्ती केतकादिसुगन्धस्य दूरतः उपलब्धेः. नच *द्रव्यावयवनिर्गमादेव उपपत्तौ स्वाश्रयाधिकदेशवृत्तित्वाङ्गीकारो न युक्तः* इति वाच्यं, प्रामाणिकत्वात् तद् उपपादितं विद्वन्मण्डने प्रभुचरणैः.

तथाहि —

"दृश्यते विविधचर्मपुटवेष्टितस्यापि मृगमदस्य गन्धोपलम्भो वणिक्सार्थेषु. नहि तत्र तदवयवनिर्गमापूर्वतत्प्रवेशौ सम्भवतः. ([टि.१] *नच तत्र अपूर्वतत्प्रवेशस्य वक्तुम् अशक्यत्वेऽपि अवयवनिर्गमस्तु अदण्डवारितः तद्भारापगमस्य अनुभवसाक्षिकत्वाद्* इति वाच्यं, तथा सति) गन्धोपलम्भसमये प्रसारितमुखस्य तद्रसोपलब्धिप्रसङ्गात्. तेषाम् अवयवानांयोग्यत्वाद् अन्यथा गन्धोऽपि न उपलभ्येत, गन्धस्य(एव) उपलम्भे नियामकाभावात् च. ननु अदृष्टमेव तथा इति चेद्, अहो गौरवभीतिः वावदूकस्य यद्, अवयवनिर्गमनं, पुनः तदवयवपूरणं, तद्धेतोः अदृष्टस्य च कल्पनं, रसाद्यनुभवप्रतिबन्धकादृष्टान्तरस्य च कल्पनं वदतोऽपि असङ्कोचः तुण्डस्य, 'गन्धातिरिक्त...'इतिमात्रकथने (च) सङ्कोचः! (*ननु मास्तु अदृष्टकल्पनं तथापि त्रुटौ रूपस्यैव तेषु गन्धस्यैव

१. इह विद्वन्मण्डनाद् उद्धृते अस्मिन् वचने कोष्ठकान्तर्गतो भागः प्रस्थानरत्नाकरकृता श्रीपुरुषोत्तमचरणेन विन्यस्तो बोधसौकर्याय(ष्या).

उद्भूतत्वं कल्प्यते * इति चेत्, न, यत्र) उग्रगन्धस्य कस्यचित् कुसुमस्य लशुनादेः वा स्पर्शमात्रेऽपि ततो मुहुः मृत्स्ना क्षालनेऽपि करस्य न तद्गन्धापगमो अनुभूयते तत्र तेषां वक्तुम् अशक्यत्वात्. स्पर्शमात्रलग्नतदवयवानां प्रोञ्छनेऽपि असहिष्णूनां सकृत् क्षालनेऽपि न स्थितिसम्भवः. कुतस्तरां मुहुः तथाकरणे! अतो द्रव्याधिकदेशवृत्तित्वं गन्धस्य मन्तव्यम्. अतो विनश्यदवस्थगुणानाम् अनाश्रितत्वेन अङ्गीकारो यथा तव तथा द्रव्याधिकदेशवृत्तित्वेन अनुभवेऽपि कुरुष्व''.

(विद्व.मण्ड.)इत्यादि.

श्रुतिरपि ''यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति'' (महाना.उप.८।२) इति. अत्र तदवयवासत्त्वनिरूपणार्थमेव 'दूर' पदम्.

यत्तु * प्रसारितमुखस्य रसानुपलम्भे गन्धोपलम्भसामग्र्याएव प्रतिबन्धकत्वम्* इति **कश्चिद् आह**, तत् फल्गु, विजातीयगुणोपलम्भकत्वेन रूपेण प्रतिबन्धकत्वस्य अशक्यवचनत्वात्, एककालावच्छेदेन नेत्रगोलकान्तः त्वचा चक्षुषा च वह्न्यौष्ण्यरूपयोः ग्रहणस्य सर्वजनीनत्वात्. गन्धोपलम्भकत्वेन इति चेत्, न, असिद्धत्वाद् वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात् च. नच * फलबलेन तस्य प्राबल्यं कल्प्यते * इति वाच्यं, फलस्य अस्मदुक्तरीत्यापि सिद्धेः तस्याएव बलवत्त्वे नियामकाभावात् क्षणान्तरे रसोपलम्भप्रसङ्गात् च. नच * तद्गतरसादीनाम् अनुद्भूतत्वम्* इति वाच्यम्, अनारम्भकेषु तेषु अनुद्भूतरसाद्यङ्गीकारस्य प्रमाणरहितत्वाद् इति दिक्. नच * मुहुः क्षालनादिना गन्धापगमतारतम्ये गन्धस्य सावयवत्वापत्तिः * इति वाच्यम्, इष्टापत्तेः. नच स्पर्शवत्त्वापत्तिः, सावयवद्रव्यत्वेनैव स्पर्शवत्त्वेन व्याप्तेः अङ्गीकाराद्, भूतसूक्ष्मरूपत्वेन इष्टापत्तेः च. एतेन आरम्भकत्वमपि दत्तोत्तरं ज्ञेयं, गन्धेनैव चन्दन-स्पृष्ट-वायु-सम्पर्क-शालि-शालान्तर-शैत्यं निम्बतरु-विशेष-सम्पर्क-शालि-वात-संसर्गज-मुख-तिक्तत्वमपि व्याख्यातं ज्ञेयम्. नच एवं सर्वत्र अतिप्रसङ्गः उत्कटत्वानुत्कटत्वयोरेव गन्धादि-विसरणा-विसरण[पा.भे.२६*] -नियामकत्वाद् इति संक्षेपः. इति गन्धः. इति तन्मात्राणां लक्षणानि.

पञ्चमहाभूतलक्षणानि :

अथ भूतानां लक्षणानि उच्यन्ते. तत्र 'आकाशादिपञ्चकान्यतमत्वं' 'सविशेषशब्दादिमत्त्वं' वा सामान्यलक्षणम्. 'बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्' इति. भूतत्वलक्षणन्तु अग्रे आलङ्कारिकैः दूषणाद् योग्यताघटितत्वेऽपि प्रमाणरहितत्वात् न आदृतम्. एवम् अन्यदपि बोध्यम्.

[१. आकाशलक्षणम्] अथ वैशेषिकं तत्र आकाशस्य 'भूतावकाशदातृत्वं' 'बहिरन्तर्व्यवहारविषयत्वं' 'प्राणेन्द्रियान्तःकरणाधारत्वं' च इति लक्षणत्रयम्.

तद् उक्तं "भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम्" (भाग.पुरा. ३।२६।३४) इति. तत्र आद्यम् आधिदैविकस्य, स्वाधिभौतिक-स्वरूप-कर्मक-दातृत्वस्य तत्रैव सत्त्वात्. द्वितीयन्तु आधिभौतिकं स्वरूपलक्षणं व्यवहारोपयोगि. नच आवरणे अतिव्याप्तिः, तस्य विषयपरिच्छेदकत्वात्. अतएव न भूप्रदेशे दिशि च "आन्तरो देशो" 'बाह्यो देशः' "आन्तरा दिग्" "बाह्या दिग्" इति तत्र विद्यमानत्वेन अभिलप्यमानत्वात्. अतो "धूमो अन्तरेव न बहिः" इति व्यवहारसाक्षिको विवरएव बहिरन्तरव्यवहारः इति. एतेन आकाशम् अनिच्छन्तो म्लेच्छाः भाट्टैकदेशिनः च अपास्ताः.

अयं नित्यः इति **वैशेषिकादयः** * तथाहि समवाय्यादिकारणत्रयसामग्र्याहि सर्वोत्पत्तिः. तत्र आकाशावयवाप्रसिद्ध्या समवाय्यभावेन तद्द्वयसंयोगरूपासमवायिनोऽपि अभावाद्, केवलनिमित्तेन कार्योत्पत्त्यदर्शनात्, सृष्टिप्रागभावदशायाम् असुषिरत्वस्य असम्भाव्यत्वात्, पृथिव्यादिवैधर्म्याद्, विभुत्वात्, सम्भवश्रुतेः उपाधिपरत्वेन गौणत्वेन अजत्वसिद्धिः. अतो अयं नित्यः * इति **वदन्ति.**

तद् वियदुत्पत्त्यधिकरणे (ब्र.सू.२।३।१) दूषितं व्यासैः तद् दिङ्मात्रं

प्रदर्श्यते.

तथाहि —

"नभो जन्यं विकारित्वाद्, विकारि लौकिक-व्यवहार-विषयत्वाद् घटादिवद्" इति अनुमानेन "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" (तैत्ति.उप.२।१।१) इति श्रुत्यनुगृहीतेन जन्यत्वसिद्ध्या ईश्वरस्यैव समवायिनो निमित्ताद्, विभागात् च असमवायिनः, सुखेन जन्यत्वसिद्धिः. क्रमसृष्ट्यन्तरेऽपि तत्सिद्धिः अप्रत्यूहा अतः सुष्ठु.

अथ प्रसङ्गाद् इदं विचार्यते : आकाशे नीलप्रतीतिः या सा भ्रमः प्रमा वा? इति.

तत्र बहवः ✻आकाशस्य रूपवत्त्वे न मानम्. तथाहि न तावत् प्रत्यक्षम् "आकाशं तद्रूपं वा पश्यामि" इति अप्रत्ययात्. "नीलं नभो अस्ति" इति प्रतीतिः सार्वलौकिकी इति चेत्, तस्याः भ्रान्तत्वात्. ✻ननु रूपवतः प्रत्यक्षविषयता न नियता परमाणौ व्यभिचाराद्✻ इति चेत्, न, सहकार्यभावस्य तत्र तन्त्रत्वात्. किं तत् सहकारी? इति चेत्, महत्त्वमेव. नापि "वायुभिन्नत्वे सति महत्त्वात् पृथिवीवद्" इत्यनेन आकाशे रूपसिद्धिः, द्रवत्वस्य तत्र उपाधित्वात्. नापि "क्रियादिरहितत्वे सति भूतत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं कालवद्" इत्यनेन सिद्धिः, द्रव्यारम्भकत्वस्य उपाधित्वात्, आद्यक्षणीयघटादौ व्यभिचारात् च. बहिरिन्द्रियग्राह्य-विशेषगुणवद्वृत्ति-द्रव्यत्व-साक्षाद्व्याप्य-धर्मवत्त्वस्य कालादीतरद्रव्यत्वस्य वा भूतत्वस्य तत्रापि सत्त्वात्. किञ्च "आकाशो यदि रूपवान् स्यात् परममहान् न स्यात्, बहिरिन्द्रियग्राह्यो वा स्यात् स्पर्शवान् वा स्यात् पृथिव्यादित्रयं वा स्याद्" इति बाधकतर्कपराहतम् आकाशस्य रूपवत्वम्✻ इति आहुः.

तत्र **साहित्यसर्वस्वकारः** ✻न इदम् उचितं, "नीलं नभः पश्यामि"

इति निःशङ्कं सार्वजनीनप्रत्ययात्. न च असौ भ्रमः, तत्कारणीभूतदोषस्य विकल्पपराहतेः. तथाहि : किम् असौ विषयदोषः सादृश्यनिबन्धनः "इदं रजतम्" इतिवत्? उत करणदोषः पित्तादिनिबन्धनः "शंखः पीतः" इतिवत्? न आद्यः, असम्भवाद् विषयगत-दोषजन्य-भ्रमत्वावच्छिन्नं प्रति धर्मिप्रमोषसह-कृतारोपस्य तन्त्रत्वात्. प्रकृते तदसम्भवात् नभस्त्वस्य अवच्छेदकतायाः व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात्. न द्वितीयो, अस्य प्रत्ययस्य सार्वजनीनत्वात्, युगपत् सर्वजन-करण-दोषस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. नच *ऐन्द्रजालिकमायायां यथा वस्तुग्रहणप्रतिबन्धरूपः करणगतो विषयगतो वा दोषः सार्वजनीनः तथा अत्र* इति वाच्यं, तत्र ऐन्द्रजालिकस्य तत्परिपन्थिमन्त्रादिवतो अन्यस्य च यथावस्तुग्रहणदर्शनेन तस्य असार्वजनीनत्वनिश्चयात्. किञ्च, सर्वेषां ख्यातिवादिनां मते आकाशस्य अतीन्द्रियतायाः सम्मतत्वेन तदधिकरणक-भ्रमायोगात्. अतो बाधकाभावात् सा प्रतीतिः प्रमैव. सामीप्ये नैल्याभावप्रत्ययएव बाधकः इति चेत्, न, व्यापकस्य आकाशस्य दैशिक-परत्वापरत्वात्मक-दूरत्वसामीप्ययोः अनधिकरणत्वात्. पुरुषसंसृष्टदेशविवक्षया सामीप्यप्रत्ययः इति चेत्, तव आकाशस्य अतीन्द्रियत्वेन सामीप्याद्यविषयत्वात् नयनसंसृष्टाञ्जनवत् सागरनीलिमवत् च समीपे तदग्रहणेऽपि अदोषात्. तस्माद् अदुष्टः आकाशप्रत्यक्षतापक्षः. एवञ्च पूर्वोक्तानुमानमपि मानम्. नच द्रवत्वम् उपाधिः, तस्य प्रलये पृथ्वीतेजःपरमाण्वोः साध्याव्यापकत्वात्, घटवह्न्यादावपि तथात्वात् च. घटादौ द्रवत्ववद्वृत्ति-द्रव्यत्व-साक्षाद्व्याप्य-जातिमत्त्वेन द्रवत्वसिद्धेः न साध्याव्यापकत्वम् इति चेत्, न, तद् वृत्तितादृशजातिमत्त्वेन तत्तद्गुणसाधने द्वेषवद्वृत्तिद्रव्यत्व-साक्षाद्व्याप्य-जातिमत्त्वेन ईश्वरेऽपि द्वेषापत्तिः. किञ्च व्याप्यधर्मस्येव विशेषेण व्यापकधर्मस्यापि नियामकत्वापत्तिः. तदिष्टत्वे गन्धवद्वृत्ति-पृथिवीत्वव्यापक-जातिमत्त्वेन आकाशादावपि गन्धादिसाधनापत्तिः. नच *एवं घटवह्न्यादौ असत्त्वेन द्रवत्वं पृथिवीतेजसोः भागासिद्धं स्याद्* इति वाच्यम्. इष्टापत्तेः, तस्य अलक्ष्यत्वाद्, यथोपलम्भं तन्नियमस्य युक्तत्वादिति. यद्यपि अत्र 'आकाशभिन्नत्वम्' उपाधिः, तथापि साध्याभावोपाध्यभावयोः वायौ व्यभिचरितत्वेन पक्षे साधनाव्यापकत्वस्य अदूषकत्वेन च न तत्सम्भवः. एतेन द्रवत्वाभावस्य रूपाभावसाहचर्याद्

उपाधिदृढीकरणम् उत्क्षिप्तम्. वस्तुतस्तु द्रवत्वं जलएव. नच * घृततैलसुवर्णादौ वह्न्यादिसंसर्गेण तदुपलब्धिः तर्हि न स्याद् * इति शङ्क्यं, तदन्तर्गतानां जलांशानामेव तद्वत्ताभ्युपगमेन तदभिव्यक्त्या उपलम्भसम्भवात्. अन्यदा तदनुपलब्धिस्तु हिमकरकादाविव पार्थिवभागबाहुल्याद् अभिव्यञ्जकासंयोगाद् पा.भे.२७ वा * इति आहुः.

अपिच द्वितीयानुमाने द्रव्यारम्भकत्वोपाधिस्तु रूपवदन्त्या पा.भे.२८ वयविनि साध्याव्यापकत्वात् निरस्तः. आद्यक्षणावच्छिन्ने बहिरिन्द्रियग्राह्य-विशेषगुणवत्त्वरूप-भूतत्वस्य हेतोः अभावात् न व्यभिचारोऽपि. निरुक्तभूतत्वयोः आद्यविवक्षायां तद्वद्-वृत्तिद्रव्यत्व-साक्षाद्-व्याप्यधर्मस्य भूतत्वस्येव मूर्तत्वस्य मनसि, द्वितीयविवक्षायां भाट्टानां शब्दे, वेदान्तिनाम् अज्ञाने, अस्मन्मते तमसि अतिव्याप्तेः. वक्ष्यते च तमसः द्रव्यत्वम् उपरिष्टात्. योऽपि ''यदि रूपवान् स्यात् पृथिव्यादित्रयं स्याद्'' इत्यादिः उत्प्रेक्षितः तर्कः, सोऽपि दुस्तर्कएव, वायुभिन्नत्वे सति निष्क्रियत्वोपाधिग्रासात्, ''यदि रूपवान् न स्यात् वायुभिन्नत्वे सति बहिरिन्द्रिय-ग्राह्य-विशेषगुणवान् न स्याद्'' इति प्रतितर्कपराहतेः च. नच 'स्पर्शवत्त्वम्' उपाधिः, प्रभायां साध्याव्यापकत्वात्. तत्रापि अनुद्भूतः स्पर्शो अस्ति इति चेत्, न, मानाभावात्, स्पर्शवद्-वृत्तित्वादि-विवक्षायाः प्रागुक्तरीत्या अपक्षिप्तत्वात्. रूपवत्वेन तत्साधने त्वग्ग्राह्यत्वस्य उपाधित्वात्. अपिच ''रूपं पृथिव्यादित्रयाकाशेतर-वृत्त्यत्यन्ताभाव-प्रतियोगि, वायुस्पर्शेतर-बहिरिन्द्रिय-ग्राह्यविशेषगुणत्वात्, गन्धादिवत्, शब्दो रूपसमानाधिकरणः, तादृशविशेषगुणत्वाद् रसादिवत्.'' 'द्रवत्वासामानाधिकरण्यम्' उपाधिः इति चेद्, विषमव्यापकत्वात् प्रलयकालीन-तेजःपरमाणुषु साध्याव्यापकत्वात् चेति. नच * विभुत्व-निःस्पर्शत्वाभ्यां सत्प्रतिपक्षः * इति वाच्यम्, आद्ये स्पर्शवत्त्वस्य, द्वितीये वेगवत्त्वस्य उपाधित्वात्. नच * उपाधेः सत्प्रतिपक्षोत्थापकतया सत्प्रतिपक्षे न दूषकत्वम् * इति वाच्यम्, उपाधेः हेत्वाभासत्रितयोत्थापकतया निर्णयात्. उपाधेः व्यतिरेकोपसंहारे सत्प्रतिपक्षोत्थापकत्वेन प्रसज्यतां दूषकत्वं, प्रकृते तदभावेन तस्याः दूषकत्वात् च, एतेन आकाशस्य रूपवत्त्वे सिद्धे प्रत्यक्षसिद्धिः

अप्रत्यूहैव.

स्याद् एतत् * चक्षुरिन्द्रियजन्य-द्रव्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्ने महत्त्वसमानाधिकरण-रूपवत्त्वस्य कारणत्वात् वियति च प्रत्यक्षपरिपन्थिनः परममहत्त्वस्य सत्त्वात् कथं तत्प्रत्यक्षम् * इति चेद्? उच्यते, लाघवेन अणुपरिमाणेतर-परिमाण-समानाधिकरण-रूपवत्त्वस्यैव प्रयोजकत्वात्. "पक्षी चलति" - "न इह पक्षी"- "इह पक्षी" इत्यादिप्रत्ययानामपि वियत्प्रत्यक्षसाधकत्वम् उपपद्यते. आलोकमण्डलविषयत्वेतु तदपगमेऽपि तथाप्रत्ययानापत्तिः, 'इह' इति निर्देशानुपपत्तिः च. तद्भूदेशोर्ध्वभागानुगमेन प्रत्ययस्य देशविषयत्वापादनं प्रत्यभिज्ञानिर्वहणं च अनिर्वहणमेव तद् उपेक्षितम् इति अलं विस्तरेण. इत्येवं आकाशस्य रूपवत्त्वं साधयति स्म.

सिद्धान्तस्तु : न आकाशे रूपं, उपरि नीलं पश्यतः "आकाशं पश्यामि" इत्येव प्रत्ययात्. "नीलं नभः पश्यामि" इत्यत्रापि न गुणित्वेन नभसो भानं, गुणत्वेन नीलसत्त्वे मानाभावात्. घटादौ पाकादिना रूपपरावर्त्तने तन्निष्ठनीलादेः गुणत्वनिश्चयेन प्रकृते वैलक्षण्यात्. नच * "वायुभिन्नत्वे सति महत्त्वात् पृथिवीवद्" * इत्याद्यनुमानेन तत्सिद्धिः, "नीरूपः परममहत्त्वात् आत्मादिवद्" इति प्रत्यनुमानेन सत्प्रतिपक्षत्वात्. नापि "वायुभिन्नत्वे सति बहिरिन्द्रिय-ग्राह्य-विशेषगुणत्वाद्" इत्यनेन, तत्र स्पर्शवत्त्वस्य उपाधित्वात्. नच * तस्य प्रभायां साध्याव्यापकत्वम् * इति वाच्यं, तस्याः गुणत्वेन रूपवत्त्वाभावाद् अदोषात्, पृथिव्यादित्रयभिन्नत्वाद् इत्यनेन सत्प्रतिपक्षत्वात् च. नच * अत्र वायुभिन्नत्वे सति निष्क्रियत्वम् उपाधिः * इति वाच्यं, तस्य मनसि साध्याव्यापकत्वेन अनुपाधित्वात्. अतः पुराणादौ तेजोविशेषगुणत्वेनैव रूपस्य निरूपणाद् आकाशे तदुपगमो न प्रामाणिकः. नच * "यद् धूम्रं तद् वायोः यद् नीलं तद् नभसः" ( ) इति श्रुतिसिद्धत्वात् न तथा * इति वाच्यं, तस्याः तद्-देवतारूप-परत्वेनापि उपपत्तेः. अन्यथा वायावपि धूम्रवर्णापत्तेः. नच * "खं काकाण्डाभगोक्षाभम्" ( ) इति वृष्टिलक्षणेषु ज्योतिर्वचनात् न एवम् * इति वाच्यं,

"यदा पा.भे.२९ कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति, समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने" (छान्दो.उप.५।२।८) इति श्रुत्या स्वप्नस्य सिद्धिसूचकत्ववत् तादृशभ्रमस्य वृष्टिसूचकत्वेऽपि वचनोपपतेः. तस्माद् आकाशे रूपप्रतीतिः भ्रान्ताएव. नच *उक्तरीत्या भ्रमहेतोः निर्वक्तुम् अशक्यत्वात् न इदं साम्प्रतम्* इति वाच्यं, रूपवद्-द्रव्यग्राहकस्य चक्षुषो, मध्ये रूपवद्-द्रव्याभावेन, दूरगमने आकाशे नीलमिव दृश्यत-इति चक्षुरसामर्थ्यदोषस्यैव हेतुत्वात्. नच *तत्र रूपवतां सूर्यकिरणानामेव सत्वात् कथं रूपवद्-द्रव्याभावः* इति वाच्यं, तेषां विरलत्वेन अयोग्यतया तत्सत्तायाअपि अभावकल्पत्वात्. अन्यथा "छायायां साचि तिष्ठतोः" ( ) इत्याद्यसंलग्नानामपि तेषां दर्शनप्रसङ्गात्. नच *सार्वजनीनत्वात् न अयं भ्रमः* इति वाच्यं, देहात्मभ्रमवद् उपपत्तेः. योगिनां तदभावाद् असार्वजनीनः स इति चेत्, तुल्यं, कपिलादीनामेव तथावचनात्. एतेनैव अग्रे बाधाभावोऽपि प्रत्युक्तः. *ननु एवं सति सामीप्ये नीलभ्रमापात्तिः* इति चेत्, न, दूरत्वस्यापि सहकारित्वात्. नच *विभौ दूरत्वम् अनुपपन्नम्* इति वाच्यं, "तद् दूरे तदु अन्तिके" (ईशा.उप.५) इति श्रुतौ विभुन्यपि ब्रह्मणि तदङ्गीकाराद्, अत्रापि उपपत्तेः, प्रदेशदूरत्वस्य शक्यवचनत्वात् च. किञ्च गन्धर्वनगरवद् आकाशे तादृशवस्तुसामर्थ्यादपि तादृशभ्रमोपपत्तिः. नच *आकाशस्य अतीन्द्रियत्वात् तदधिकरणकभ्रमायोगः* इति वाच्यं, वस्तुसामर्थ्येन तस्यापि ऐन्द्रियकत्वात्. अन्यथा कालवद् अवकाशस्यापि अप्रत्ययापत्तेः. *ननु वस्तुसामर्थ्यात् प्रमैव कुतो न अङ्गीक्रियते इति चेत्, पुराणादौ रूपानुक्तेः इति वदामः. तर्हि अवकाशप्रत्ययोऽपि भ्रमो अस्तु!* इति चेत्, न, बहिरन्तर्व्यवहारविषयत्वस्य भूतानां छिद्रदातृत्वस्य च शास्त्रेणैव उक्तत्वात्. तस्माद् वस्तुसामर्थ्यजन्यत्वाविशेषेऽपि "आकाशे नीलरूपं प्रत्येमि" इत्येव प्रतीतिः भ्रान्ता, नतु "नीलाभिन्नम् आकाशं पश्यामि - आकाशं वा पश्यामि" इति. एतेन आकाशे सर्वदा सूक्ष्मनीलमेघसत्वम् अङ्गीकुर्वन्तोऽपि निरस्ता ज्ञेयाः. एवमेव अन्धकारप्रतीतिरपि ज्ञेया. तस्यापि पदार्थान्तरत्वात्. यथा इदं तथा अन्धकारवादे प्रपञ्चितमिति न पुनः प्रपञ्च्यते.

तेन एतत् सिद्धं : चक्षुः स्वसामर्थ्येन आकाशं न गृह्णाति आकाशमेवतु

स्वसामर्थ्येन स्वात्मानं ग्राहयति गन्धर्वनगरवत् पिशाचवत् च इति दिक्. एतेनैव आकाशप्रतिबिम्ब-तत्प्रतीती-अपि व्याख्याते ज्ञेये. अस्यच शब्दएव विशेषगुणः, "तस्य मात्रा गुणः शब्दः" (भाग.पुरा.२।५।२५) इति वाक्यात्. विशेषगुणत्वं कारणे अनुद्भूतत्वे सति स्वस्मिन्[टि.१] उद्भूतगुणत्वम्. इति आकाशः.

[२.वायुः] अथ वायुः. तल्लक्षणन्तु "अरूपित्वे सति (१)चालन-(२)व्यूहन-(३)द्रव्यशब्दगन्धनयन-(४) सर्वेन्द्रियबलदानाख्यकार्यकत्वम्" एकमेव. तद् उक्तं —

"चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम्॥"
(भाग.पुरा.३।२६।२७) इति.

तत्र चालनं शाखादेः, व्यूहनं पतिततृणादेः, वात्ययैव[टि.२] मेलनं, प्राप्तिःगन्धस्य घ्राणप्रापणं, द्रव्यनयनं च द्रव्यस्य पटादेः अन्यत्र नयनं, शब्दनयनन्तु पूर्वम् उपपादितं, सर्वेषाम् इन्द्रियाणां बलदश्च अयम्, एतदभावे किमपि इन्द्रियं कार्यक्षमं न भवतीति. एवञ्च प्राणरूपोऽपि संगृहीतो ज्ञेयः. अस्यच स्पर्शो विशेषगुणः, शब्दश्च कारणान्वयात्, तेन अयं द्विगुणः.

तद् उक्तं —

"नभसोऽथ विकुर्वाणाद् अभूत् स्पर्शगुणोऽनिलः।
परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राणओजः सहो बलम्॥"
(भाग.पुरा.२।५।२६) इति.

अयञ्च मीमांसकमते त्वचा प्रत्यक्षः. यथा आहुः : महदुद्भूतस्पर्शवद्-द्रव्यत्वेनैव त्वचो योग्यता लाघवाद्. उद्भूतरूपस्य प्रवेशे गौरवापत्तेः. अतो

१ .विवक्षिते इति अर्थः (क). २. वातानां समूहो वात्या "वातादिभ्यः यः" (ख्या).

द्रव्यचाक्षुषत्त्वावच्छेदेनैव उद्भूतरूपहेतुता लाघवाद् उचिता. एवञ्च सार्वजनीनप्रतीतिरपि अनुकूला भवति इति. इति वायुः.

[४.तेजः] अथ तेजः. तस्यच "(१)प्रकाशन-(२)पाचन-(३)पान-(४)हिममर्दना-(५)ऽदन-(६)शोषणाख्य- षट्-कार्यकत्वं" सामान्यलक्षणम्.

तद् उक्तं—

"द्योतनं पचनं पानम् अदनं हिममर्दनम्।
तेजसो वृतयस्त्वेताः शोषणं क्षुत् तृडेव च॥"
(भाग.पुरा.३।२६।४०) इति.

तच्च तत्त्वरूपएव प्रसिद्धम्. ब्रह्माण्डान्तःस्थेतु 'अन्यतरवृत्तिकत्वं' लक्षणम् इति ज्ञेयम्. तेन चन्द्रादावपि जलकृतो न उष्णस्पर्शाभिभवः. तत्र द्योतनं प्रकाशनं सूर्यादिरिव. पाचनम् औदर्यवह्नेः, पाककरणं वा बहिर्वह्नेः, फलादेः सूर्यस्यापि. पानं जलादेः. अदनम् अन्नादेः इदमपि औदर्यस्यैव. हिममर्दनं हिमदूरीकरणम्. शोषणं च अनुमेयं हिमवाय्वपेक्षया आतपे वस्त्रादिषु जलाकर्षणस्य शैघ्र्यात्. एतेनैव सिकताखर्परादौ व्यभिचारः परिहृतो बोध्यः. पानम् अदनं च अन्तःप्रवेशरूपत्वाद् एकमेव. तेन पञ्चैव वृत्तयः. क्षुत्तृषौ च तेजोरूपेएव. तेन चेतनकर्तृकत्वेऽपि पानादनयोः न तेजःकार्यत्वहानिः. अस्यच रूपं विशेषगुणः. शब्दस्पर्शौच कारणान्वयात्. तेन त्रिगुणम्.

तद् उक्तं— "उदपद्यत तेजो वै रूपवत् स्पर्शशब्दवद्" (भाग.पुरा.२।५।२७) इति. इति तेजः.

[४.जलम्] अथ जलम्. तस्यच "(१) क्लेदन- (२) पिण्डन- (३) तृप्ति- (४) प्राणना- (५) ऽप्यायन- (६) प्रेरण- (७) तापापनोदन- (८) भूयस्त्वा-ऽऽख्याष्ट-

कार्यकत्वं'' सामान्यलक्षणम्.

तद् उक्तं —

"क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोदनम्।
तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः॥"
(भाग.पुरा.३।२६।४३).

तच्च तत्त्वरूपे कार्येऽपि च समम्. क्लेदनं आर्द्रीकरणं वस्त्रादेः, पिण्डनं संग्रहः, चूर्णीभूतानां पिण्डतासम्पादनं यथा सक्तूनाम्, तृप्तिः क्षुदादिनिवृत्त्या पुरुषस्य सन्तर्पणं, भुक्त्वापि जले अपीते तृप्तो न भवतीति. प्राणनं जीवनम्, आप्यायनं प्राणसन्तर्पणम्, प्रेरणञ्च प्रवाहादौ, प्रवाहेनैव पदार्थाः नीयन्ते कूलादिः च पात्यते. तापापनोदः प्रसिद्धः, भूयस्त्वम् एकस्मिन् देशे सजातीयप्रचुरस्यैव अवस्थानं, यद्वा यत्र आपः प्रविशन्ति तद् भूयोभवतीति.

एवं घृततैलादौ यत् क्लेदकत्वं संग्राहकत्वं च दृश्यते सोऽपि जलधर्मएव. वह्न्यादिसंसर्गेण परम् अभिव्यज्यते कार्यस्य पाञ्चभौतिकत्वात्. तेन न अतिव्याप्तिशङ्कालेशः. तेषु जलव्यवहाराभावस्तु भूतान्तरकृत-प्रतिबन्ध-निबन्धनः करकास्विव. करकास्वपि काठिन्यप्रतीतिः न भ्रान्ता, तत्र नैमित्तिकस्य तस्य सत्त्वात्. दृत्येव अतिशैत्येन संरुद्धे वायौ जलस्य पिण्डने करकोत्पत्तेः. अतएव हिमालयोपत्यका-गत-गंगाप्रवाहोपरि पुरुषाः पद्भ्यां पद्यन्ते. अन्यथा मज्जेयुरेव. शीतकालेच निर्वाते मिहिकायाम् अम्भसि निशि स्थापिते प्रातश्च तज्जलपात्रे अधोमुखे कृतेऽपि न तज्जलस्य पातः, छुरिकया विदार्य फलवद् जलस्य भक्षणमपि मध्यदेशीयजनानुभवगोचरः इति दिक्. अस्यच विशेषगुणो रसः. शब्दस्पर्शरूपाणि परान्वयात्. तेन इदं चतुर्गुणम्.

तद् उक्तं —

"तेजसस्तु विकुर्वाणाद् आसीद् अम्भो रसात्मकम्।

रूपवत् स्पर्शवत् चाम्भो घोषवच्च परान्वयाद्॥''

(भाग.पुरा.२।५।२८)इति. इति जलम्.

[५.पृथ्वी] अथ क्षितिः. तल्लक्षणन्तु —

''भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद्विशेषणम्।
सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम्॥''

(भाग.पुरा.३।२६।४६)इति वाक्यात्.

'भावनादिपञ्चवृत्तिकत्वं' शास्त्रे उक्तं तथापि प्रकृते व्यवहारोपयोग्येव विस्तरभिया विवेच्यते. वाक्यव्याख्यानं(तु) सुबोधिन्यां[टि.१] द्रष्टव्यम्. तत्र ''रूपवत्त्वे सति साक्षात् सर्वजगद्धारकत्वम्'' इति एकं लक्षणम्. कालादिवारणाय 'सत्य'न्तः, आवरणतत्त्ववारणाय 'साक्षाद्' इति. ''आधारत्वे सति सर्वतत्त्वव्यावर्तकत्वं'' वा. नहि काष्ठादिकं विना वह्निः आविर्भवति, नवा पृथिवीं विना समुद्रादिः, नवा व्यजनादिकं विना वायुः, नवा गर्त्तादिकं विना आकाशः. नवा शरीरं विना सर्वेन्द्रियादिकम् आत्मा च आविर्भवति इति सर्वंसुस्थम्.

नैयायिकास्तु * पाकजानुष्णाशीतस्पर्शवती पृथिवी * इति आहुः.

मुक्तावलीकारस्तु * ''गन्धवती पृथिवी[टि.२]'' इति लक्षयित्वा पाषाणादौ अव्याप्तिवारणाय ''यद् द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत् तदुपादानोपादेयम्'' (न्या.सि.मु.कारि.३५) * इति व्याप्तिं **दर्शितवान्**. तदर्थस्तु : यद्द्रव्यं 'पाषाणभस्मा'-

१. सतां सर्वेषामेव तत्त्वानां विशेषेण व्यावर्तकम् अवयवभूतं वा. काष्ठादौ अग्निं प्रकटीकृत्य इतरव्यावृत्तिं जनयति. इतरथा तेजसः स्वरूपमेव क्वापि न अभिव्यक्तमिति कुतः व्यावृत्तिः भवेत्. एवं जलमपि स्वान्तर्गतं रसरूपं नद्यादौ प्रकटीकृत्य प्रदर्शयति. एवं व्यजनादिना वायुं, गर्तादिना आकाशं, शरीरादौ अहंकारादिसर्वाण्येव इन्द्रियाणि आत्मानं च. (सुबो.३।२६।४६)(श्या). -

२.यद्यपि मुक्तावल्यां 'गन्धसमवायिकारणम्' इत्येव लक्षणम् उपलभ्यते तथापि ''यद्यपि गन्धवत्त्वमात्रं लक्षणम् उचितं तथापि पृथिवीत्वजातौ प्रमाणोपन्यासाय कारणत्वम् उपन्यस्तम्'' इति उक्त्या ''गन्धवती पृथिवी'' इति लक्षणमपि तदभिमतमेवेति इत्थं निरूपणम्(श्या).

ऽऽख्यद्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं 'पाषाणा'ऽऽख्यद्रव्यध्वंसजन्यं तद् भस्म तदुपादानोपादेयं पाषाणोपादानभूताः ये अवयवाः तदुपादेयम् इति. अनयाच व्याप्त्यापाषाणारम्भकेषु सिद्धे गन्धे तत्कार्ये पाषाणेऽपि अस्ति अनुद्भूतो गन्धइति न लक्षणव्यभिचारः इति.

तद् अविचारचारु, पाषाणध्वंसजन्यत्ववद् वह्निध्वंसजन्यत्वस्यापि भस्मनि सत्त्वात् पाषाणोपादानोपादेयत्ववद् वह्न्युपादानोपादेयत्वस्यापि शक्यवचनत्वात्, सति वह्नौ भस्मासम्भवात्. तथा सति वह्नावपि अनुद्भूत-गन्धापत्तिः व्याप्तिव्यभिचारो वा इति. नच * 'उद्भूतरूपवद्-यद्द्रव्यध्वंस-जन्यत्वम्' अत्र विवक्षितं, तथाच वह्निध्वंसजन्यत्वेऽपि अनुद्भूतरूपद्रव्य-ध्वंसजन्यत्वं, नतु उद्भूतरूपतद्ध्वंस-जन्यत्वम्, उद्भूतरूपे तस्मिन् ध्वस्तेऽपि[पा.भे.३०] भस्माभावात्. यदाच अनुद्भूतरूपो[पा.भे.३१]ऽपि ध्वस्यते तदैव भस्मो भवतीति न व्यभिचारः * इति वाच्यं, तथापि दग्धकर्करे व्यभिचारात्. उद्भूतरूपवह्निध्वंसएव दग्धतासम्भवात्, सति वह्नौ 'अङ्गार' व्यवहारात्. जलादिसेकेन अनुद्भूततद्ध्वंसेतु भस्मतासम्भवात्. अतो दुर्वारः तत्र व्यभिचारः.

यत्तु * तेजोऽवयवानां विजातीयद्रव्यं प्रति अनुपादानत्वाद् अत्र 'उपादान'पदे 'विजातीयोपादानता' विवक्षिता, अतो अत्र विवक्षां विनैव निर्वाहः * इति (उक्तं), तत् न, सुवर्णरूपं विजातीयद्रव्यं प्रति तेजोऽवयवानामेव उपादानत्वात्. अतः एवं वक्तव्यं "यद् निःस्नेहं गुरुद्रव्यं निःस्नेहगुरुद्रव्यध्वंसजन्यं तद् निःस्नेहगुरूपादानोपादेयम्"; अथवा, "यद् गन्धवद्द्रव्यम् इतरध्वंसजन्यं तत् स्वसजातीयोपादानोपादेयम्" इति. एवं भस्मारम्भकावयवेषु गन्धसिद्धौ तदुपादेये पाषाणेऽपि साजात्याद् अनुद्भूतगन्धसिद्धिः भवति. तथापि इयंन असत्कार्यवादिनाम् उपयोगिनी. अवयवेषु असन्नेव गन्धो निमित्तवशाद् भस्मन्येव उत्पद्यते, तत्प्रागभावस्य तत्र सत्त्वात्, कपालेषु घटवत्, द्वितीयक्षणे गुणवद्-इति. अतः इदमपि तन्मतम् अपाकुर्वत् सत्कार्यवादमेव स्थापयतीति सुसमर्थितं स्वमतम् इति दिक्.

अस्याश्च विशेषगुणो गन्धः, शब्दस्पर्शरूपरसास्तु कारणान्वयात्.

तद् उक्तं —

"विशेषस्तु विकुर्वाणाद् अम्मसो गन्धवानभूत्।
परान्वयाद् रसस्पर्शशब्दरूपगुणान्वितः॥"
(भाग.पुरा.२।५।२९) इति

तेन इयं पञ्चगुणा इति. इति पृथिवी.

सौगतास्तु *रूपादिव्यतिरिक्तं द्रव्यं नाम न किञ्चिद् उपलभामहे. नच तस्य उपलम्भकम् अस्ति, चक्षुरादीनां रूपादिष्वेव उपक्षीणत्वात्. गन्धरूपरसस्पर्शसंघातः पृथिवी, रसरूपस्पर्शसंघातः आपः, रूपस्पर्शसंघातः तेजः, शब्दस्पर्शसंघातो वायुः. एवं रूपादिसंघातभेदादेव पृथिव्यादिविभागो न द्रव्यं नाम किञ्चिद्* इति आहुः.

तद् अन्ये न सहन्ते. यथा आह **शास्त्रदीपिकाकारः** *आगमापायिरूपादिषु यद् अनपायि प्रत्यभिज्ञायते तद् द्रव्यम्. दर्शनस्पर्शनाभ्याञ्च अस्य ग्रहणं प्रत्यभिज्ञा च : यथा बदरफलं श्यामावस्थायां रक्तावस्थायां च, यथा घटपिण्डकपालावस्थासु मृद्द्रव्यम्. अस्तिहि तत्र पिण्डाद्यवस्थाभेदे श्यामरक्तरूपभेदेऽपि द्रव्यप्रत्यभिज्ञा : "मृद् इयं पिण्डावस्थाम् अपहाय घटावस्था सञ्जाता" — "सा श्यामिमानं त्यक्त्वा पक्वा सती अरुणिमानं गृहीतवती" — "अनन्तरं घटावस्थामपि अपहाय कपालिका सञ्जाता" इति. एवं तन्तुपटाद्यवस्थास्वपि द्रष्टव्यम्.

आहच —

"आविर्भावतिरोभावधर्मकेष्वनुयायि यत्।
तद् धर्मि यत्र वा ज्ञानं प्राग्धर्मग्रहणाद् भवेद्॥"
(श्लोकवार्ति.१।१।४।१५२) इति.

तथाच यादृशम् अस्माभिः अभिहितं द्रव्यं तादृशस्यैव हि सर्वस्य गुणएव भिद्यते न स्वरूपमिति तत् सिद्धं द्रव्यम्* इति.

अत्र आकाशादिभ्यो वाय्वाद्युत्पत्त्यङ्गीकारात् श्रुतिसिद्धो विजातीयारम्भकतावादो अङ्गीकृतो बोध्यः.

यत्तु * विजातीयं न विजातीयस्य आरम्भकम्* इति **नैयायिकादिमतं,** तत्तु उपेक्ष्यं, तन्तुपटयोरेव वैजात्येन व्यभिचारात्, तन्तुत्वपटत्वयोः भिन्नत्वात्. नापि पृथिवीत्व-कार्पासत्वादिकम् आदाय निर्वाहः, नियामकाभावात्, द्रव्याद् गुणकर्मोत्पत्तिदर्शनात् च, स्थूलाग्नौ वायोरेव कारणत्वेन उपलम्भात् च. अन्यथा तदवयवबाहुल्यानुपपत्तेः. ततः पूर्वं पटे तन्तूनामिव वायौ वह्न्यवयवानाम् अनुपलम्भात्. एवञ्च गोमयाद् वृश्चिकादेः, देवात् मनुष्यादेः, वानराद् ऋक्षादेः, प्रत्यक्षतः शास्त्रतः च सिद्धा उत्पत्तिरिति तद्विरुद्धं तन्मतम् इति दिक्. इति भूतानां लक्षणानि.

<u>इन्द्रियाणां लक्षणानि</u> :

अथ इन्द्रियाणां लक्षणानि : तत्र ''[१]तैजसाहंकारोपादेयत्वे सति [२]ज्ञानक्रियान्यतरकरणम् इन्द्रियम्''. घरट्टयन्त्रादि-क्रियाजनक-वाय्वादिवारणाय [१]'सत्य'न्तम्. प्राणबुद्धिवारणाय [२]शेषम्. ''देहसंयुक्तत्वे सति स्वफलेन आत्मज्ञापकत्वं'' वा. इदमेव मुख्यं लक्षणम्. साक्षाद् व्युच्चरणेऽपि समन्वयात् कालिकाव्याप्तेः [टि.१] अदुष्टत्वात् च इति.

मीमांसकास्तु ''यत् सम्प्रयुक्ते अर्थे विशदावभासं ज्ञानं जनयति तद् इन्द्रियम्''—**नैयायिकास्तु** ''शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वम्'' **आहुः**.

तानि ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-भेदाद् द्विधा. तत्र वागादीनि पञ्च

१. कालिकः सम्बन्धः (क).

कर्मेन्द्रियाणि, श्रोत्रादीनि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि.

नैयायिकास्तु कर्मेन्द्रियाणि **अनङ्गीकुर्वन्तः**, श्रोत्रादीनां पञ्चानां भौतिकत्वम् **आहुः**, तत् न, साक्षात् सृष्टौ भगवतएव इन्द्रियोत्पत्तिश्रुतेः "एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" (मुण्ड.उप.२।१।३) इति. क्रमसृष्टौच आहंकारिकत्वश्रुतेः, मूढभूतांशत्वेन ज्ञानकरणत्वानुपपत्तेः च. "आदित्यं वै चक्षुर्गच्छति"[टि.१] इत्यादिना देवतासु तल्लयश्रवणात् च. अन्यथा देवताम् अनादृत्य परमाणुभावएव उच्येत.

केचित्तु इन्द्रियाणि नित्यानि **आहुः**, तदपि एतेनैव अपास्तम्.

अन्येतु "गोलकानां दृश्यत्वाद् इन्द्रियाणाम् ऐन्द्रियकत्वम्" **आहुः**, तदपि असङ्गतं, छिन्नकर्णस्य शब्दश्रवणानुपपत्तेः, नष्टलिङ्गचक्षुषः चाक्षुषापत्तेः च. अतो "रूपाद्युपलब्धिः करणसाध्या, क्रियात्वात्[पा.भे.३२] छिदिक्रियावद्" इत्यनेन इन्द्रियाणां करणत्वेन रूपेण सिद्धौ गोलकं न करणम्, उक्तरीत्या अन्वयव्यतिरेकव्यभिचाराद् इत्येवं गोलकातिरिक्तेन्द्रियसिद्धौ तस्य अतीन्द्रियत्वम् अवसीयते.

अपरेतु "एकमेव इन्द्रियं, व्यापिकायाः त्वचएव तत्तदवच्छेदेन तत्तज्ज्ञानजनकत्वात्, कृतम् इन्द्रियान्तरेण" इति **आहुः**, तदपि न, उपाधिभेद-शक्तिभेदयोः कल्पनापत्तेः, "सर्वेन्द्रियाणि च" (मुण्ड.उप.२।१।३) इति श्रौतबहुवचनबाधापत्तेः च. नच *क्रमसृष्टौ एकस्मात् तैजसात् कथं नानाविधेन्द्रियोत्पत्तिः सम्भवति* इति वाच्यं, भगवदिच्छासहकृतात् तस्मात् तदनुसारेण गुणपरिणामभेदे देहस्य अवस्थानभेदेनेव तस्यापि भिन्नावस्थत्वेन नानाविधोत्पत्तिसम्भवात्, अतो न किञ्चिद् अनुपपन्नम्.

तानिच एकादश अणूनि च, तद् उपपादितम् अविरोधचतुर्थपाद(ब्र.सू.

१. "...अप्येति...चक्षुः आदित्यम्" इति पाठभेदेन (बृह.उप.३।२।१३)[श्या].

भा.२।४।१३-१६)भाष्ये नित्यानि च इत्यपि.

मायावादिनस्तु "अनित्यत्वं मध्यम परिमाणत्वं भौतिकत्वं च" आहुः, तदपि तत्रै(ब्र.सू.भा.प्र.२।४।१३-१४)व निरस्तं, देवताधिष्ठितत्वादेव च स्वकार्यक्षमत्वम्. अतो न त्वचो व्यापकत्वकल्पनमपि युक्तं, चक्षुषो गमनादेरपि ततएव उपपत्तेः इत्यपि तत्रैव(ब्र.सू.भा.प्र.२।४।१३-१४).

[कर्मेन्द्रियाणि] : तत्र "व्यवहारजनकम् इन्द्रियं."

(१)"वह्निदेवताकम् इन्द्रियं वा वाक्".
(२)"शिल्पजनकम् इन्द्रियम्"/"इन्द्रदेवताकम् इन्द्रियं वा दोः".
(३)"आनन्दजनकम् इन्द्रियं"/"प्रजापतिदेवताकम् इन्द्रियं वा मेढ्रं".
(४)"गतिजनकम् इन्द्रियं"/"विष्णुदेवताकम् इन्द्रियं वा अङ्घ्रिः".
(५)"विसर्गजनकम् इन्द्रियं"/"मित्रदेवताकं इन्द्रियं वा पायुः".

गोलकानि एषां प्रसिद्धानि. एतावान् परं विशेषः : दोरादिचतुष्कम् अन्यदेवता [पा.भे.३३] वच्छेदेनापि कार्यं जनयति, अन्यथा मल्लविद्याकुशलानां खञ्जानां च हस्ताभ्यां चलनं, विषयेन्द्रियसंयोगात् चक्षुरादिषु आनन्दः, पद्भ्यां तालादिवादनं, नेत्राभ्याम् अश्रुः, शरीरे च स्वेदरोमहर्षादयो न स्युः. वागिन्द्रियन्तु न तथा इति. इति पञ्चकर्मेन्द्रियाणि.

[ज्ञानेन्द्रियाणि] अथ ज्ञानेन्द्रियाणि. तत्र—

(१)"नभोगुणविशेषत्वेन शब्दग्राहकम् इन्द्रियं" / "दिग्देवताकं वा श्रोत्रम्."

(२)''वायुगुणविशेषत्वेन स्पर्शग्राहकम् इन्द्रियं''/
''वायुदेवताकं वा त्वक्.''

एवम् अग्रेऽपि पार्थिवेषु गन्धस्य सामान्यत्वाद् गन्धलक्षणेऽपि न विशेषपद वैयर्थ्यम्.

(३)''गन्धग्राहकम् इन्द्रियम्''/''अश्विदेवताकं वा घ्राणम्.''
(४)''रूपग्राहकम् इन्द्रियं''/''सूर्यदेवताकं वा चक्षुः.''
(५)''रसग्राहकम् इन्द्रियं''/''वरुणदेवताकं वा रसनम्.''

एतेषु आद्यं लक्षणं तृतीयस्कन्धीयकपिलवाक्योक्तं, द्वितीयं द्वितीयस्कन्धवाक्यानुसारि इति बोध्यम्. गोलकानि एषां प्रसिद्धानि.

एतावान् विशेषः : त्वक्चक्षुषी द्रव्यस्यापि ग्राहके न अन्यानि इति **नैयायिकादयः. अस्माकन्तु** न तथा इति उपपादितं प्रत्यक्षविचारे.

एतानि दशापि, राजसाभ्यां बुद्धिप्राणाभ्यां परिगृहीतत्वादपि राजसानि, नतु ज्ञानजनकानि सात्त्विकानि, क्रियाजनकानि जडपर्यवसानात् तामसानि.

तद् उक्तं—''तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च'' (भाग.पुरा.३।२६।३१) ''ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्बुद्धिःप्राणस्तु तैजसः'' (भाग.पुरा.२।५।३१) इति.

एतेन ''सात्त्विकम् एकादशकं प्रवर्तते वैकृताद् अहंकाराद्'' (सां.प्र.सू.२।१८) इति प्रवचनसूत्रोक्तम् अत्र न अभिप्रेतम् इति ज्ञापितम्.

एतेषु : चक्षुःश्रोत्रघ्राणहस्तपादाः द्विगोलकाः, जिह्वाख्यन्तु गोलकं वाग्रसनाभ्याम् अधिष्ठितं, पायूपस्थौ एकैकगोलकौ, त्वग् व्यापिका इति.

एतेषां देवाः पूर्वम् उक्ताः, तेषां कार्यं विषयाभिव्यक्तिः. तद् उक्तम् आचार्यैः तृतीयस्कन्धे "अर्थाभिव्यञ्जनं यतः" (भाग.पुरा.३।५।३०) इत्यस्य व्याख्याने —

> "देवाधिष्ठानव्यतिरेकेण केवलाद् इन्द्रियात् शब्दज्ञानादिकं न भवतीति सामर्थ्यं देवानामेव. इन्द्रियाणामेव सामर्थ्यं कल्प्येत, यदि कल्पितं शास्त्रं स्याद्, यथासिद्धम् अत्र उच्यतइति देवाधीनैव विषयप्रकाशनशक्तिः."
>
> (सुबो.३।५।३०) इति.

ज्ञानेन्द्रियाणि च वस्तुप्राप्यप्रकाशकारीणि.

सौगतास्तु "श्रोत्रस्यापि अप्राप्यकारित्वम्" आहुः.

तद् अन्ये दूषयन्ति यथा आह **शास्त्रदीपिकाकारो** * अप्राप्यकारित्वेहि सन्निकृष्टविप्रकृष्टस्थितौ युगपत् शब्दम् उपलभेयाताम्. तयोस्तु क्रमेण उपलब्धिः न कथञ्चिदपि अप्राप्यकारित्वे समर्थयितुं शक्या. किञ्च क्षणिको वा शब्दः स्थायी वा? यदि क्षणिकः प्रत्यासन्नैः गृहीतमात्रो नष्टः कथं विप्रकृष्टैः गृह्येत? स्थायित्वन्तु सौगतानाम् अनभिमतमेव. स्थायित्वे प्रत्यासन्नानां चिरकालं श्रवणम् अनुवर्तेत इति. तस्मात् न अप्राप्यकारित्वं श्रोत्रस्य सम्भवति * इति.

वृत्तेस्तु न व्यापारत्वं किन्तु ज्ञानावस्थात्वमेव इति व्युत्पादितं पूर्वम्. कर्मेन्द्रियेषुतु तत्तत्क्रियैव व्यापारः, "सर्वेषामानन्दानाम् उपस्थ एकायनम्" (बृह.उप.२।४।११) इत्यादिश्रुतेः. तज्जन्या स्थूलशरीरक्रिया च फलम् इति संक्षेपः. इति इन्द्रियाणि.

[मनः] अथ मनः. तच्च उभयात्मकम् उभयकार्यकर्तृत्वात्, तस्यच 'संकल्पविकल्पात्मकत्वं' स्वरूपलक्षणं, 'कामजनकत्वं' कार्यलक्षणम्. एतद् आध्यात्मिकं लक्षणद्वयम्, आधिदैविकन्तु 'अनिरुद्धाविर्भावस्थानत्वं', भौतिकन्तु "योगिभिः शनैः संराध्यत्वम्". तद् उक्तं "यत् सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः" (भाग.पुरा.३।२६।२७) इत्यादिना. एतस्य इन्द्रियत्वं प्रत्यक्षखण्डएव विचारितम्. इदञ्च न इन्द्रियम् "इद्रियेभ्यः परो ह्यर्थो ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः" (कठोप.१।३।१०) "मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (मुण्ड.उप.२।१।३) इत्यादिश्रुतेः, "मनःषष्ठानीन्द्रियाणि" (भग.गीता.१५।७) इति भगवद्वाक्यन्तु "यजमानपञ्चमाः... इडां भक्षयन्ति" (श.प.ब्राह्म.२।४।४।२५) इत्यत्र अनृत्विक्त्वेऽपि यजमानस्य पञ्चत्वसंख्यापूरकत्ववत् मनसः षष्ठसंख्यापूरकत्वेनापि उपपत्तेः. "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि" (भग.गीता.१०।२२) इतितु "नक्षत्राणाम् अहं शशी" (भग.गीता.१०।-२१) इतिवत्[पा.भे.३४] नियामक-स्वविभूति-कथनमात्र-परमिति न तज्जातीयता. अन्यथा "ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम्" (भग.गीता.१०।३८) इति वाक्येन ज्ञानेऽपि ज्ञानवत्तापादनप्रसङ्गात्. "इन्द्रियाणि दशैकं च" (भग.गीता.१३।५) इत्यादावपि व्यवहारस्तु इन्द्रियनियामकत्वनिबन्धनः. क्रियाज्ञानमयत्वे 'संकल्पयापि' इति अनुव्यवसायात् स्वगम्यं मनः, "आत्मना आत्मानं वेत्सि" इत्यत्र आत्मनइव, उपाधिभेदेन एकस्यापि मनसः प्रमेयत्वप्रमाणत्वयोः उपपत्तेः. योगजधर्मसहकृतेन तेन अतीन्द्रियज्ञाने स्वविषयज्ञानस्य सुवचत्वात्, "अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियं विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः" (भाग.पुरा.१०।६१।२१) इति वाक्यात्. "'यामि' इति मम मनो अस्ति" इति अभिलापादपि तथा. एवञ्च "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा-अश्रद्धा धृतिः-अधृतिः ह्रीः धीः भीः इत्येतत् सर्वं मनएव" (बृह.उप.१।५।३) इति श्रुतौ प्रकारवाचक 'इति' शब्दप्रयोगात् कामादितुल्याः सुखदुःखप्रयत्नद्वेषादृष्टस्नेहाद्याः अनुक्ताअपि मनसएव गुणाः ज्ञेयाः नतु आत्मनः. शाण्डिल्यशतसूत्रीयभाष्येतु अनुमानमपि दर्शितं, तथाहि "सुखादयो न साक्षाद् आत्मविकाराः आत्मनि प्रतीयमानत्वात् गौरत्वादिवत्, सुखाद्युपलब्धिः सकरणिका क्रियात्वात् छिदिक्रियादिवद्" (?) इत्यत्र लाघवात् समवायेनैव करणजन्यत्वं युज्यते श्रोत्रजन्यत्वमिव शब्दस्य "सुखादयः करणसमवेताः घ्राणादीन्द्रिय-ग्राह्य-गुणत्वात् स्पर्शशून्येन्द्रियग्राह्यगुणत्वाद् वा शब्दवद्"(?) इति.

शास्त्रान्तरेतु स्मृत्याद्यनुमेयं मनः, तच्च सकलशरीर-व्यापिमनोरथाभिमानिक-सुखदर्शनाद् व्यापकम् इति **मीमांसकाः**.

अन्येतु करणत्वात् सक्रियत्वाद् उत्क्रमणादि(छान्दो.उप. ५।१।११) श्रुतेः "मनो गच्छति" इति व्यवहारात् च अणुपरिमाणम् आहुः.

तत्रापि नित्यम् इति **अर्द्धवैनाशिकाः** अनित्यम् इति **सांख्याद्याः**.

सिद्धान्तेतु चन्द्रदेवताकत्वात् नानाकिरणशालि "एतस्माद् जायते" (मुण्ड.उप.२।१।३) "तन्मनोऽसृजत" ( ) इति श्रुत्या जन्यम्. "तथा प्राणः" (ब्र.सू.२।४।१) इति अधिकरणे जीवातिदेशेन अणुत्वादेः व्यवस्थापनाद् अणुपरिमाणम्. आभिमानिकसुखं[पा.भे.३५] सामर्थ्यादेव उपपद्यमानं सत् न अणुत्वबाधकम्. तस्यच रूपद्वयम् आन्तरं बाह्यं च इति प्रत्यक्षखण्डे ज्ञानप्रक्रियायामेव निरूपितम्. सामर्थ्यादेव आभिमानिकादिसुखोपपत्तेः श्रुत्यैव अणुत्वादिकं सिध्यति इति संक्षेपः. अस्यापि गोलकं हृदयम्. इति मनः.

इति अष्टाविंशतितत्त्वलक्षणानि.

(निजहस्ताक्षर-लिखिता 'अ' मातृका एतावत्येव उपलभ्यते.)

तत्त्वान्तरनिरासपूर्वकः कारणकोटिनिरूपणोपसंहारः :

ननु संख्यादीनां गुणानां सामान्यादीनां च अण्डसृष्टेः पूर्वं सत्त्वात् कथम् एतावन्त्येव तत्त्वानि ? इति चेद्, अपृथग्विद्यमानत्वाद् इति ब्रूमः. यत्रहि तत्त्वानाम् उत्पत्तिः उक्ता एकादशस्कन्धादौ तत्र तेषां शरीरसत्त्वेऽपि न हस्तपादादीनां यथा पृथग् उक्तिः तथा संख्यादीनामपीति, विद्यमानत्वेऽपि तेभ्यः पृथग् अविद्यमानत्वात् न तत्त्वानाम् आधिक्यम्. स्वव्यापारेण कार्याजननात् न कारणत्वमपि.

वस्तुतस्तु वैशेषिकप्रतिपन्नानां द्रव्याणां पूर्वोक्तरीत्या तत्त्वादिषु निवेशात्,

चतुर्विंशतिगुणेषु शब्दादीनां पञ्चानां तत्त्वेषु, पृथक्त्वस्य आविर्भावे, संयोगगुरुत्वद्रवत्वस्नेहानां स्पर्शे, भावनासंस्कारस्य ज्ञाने, धर्माधर्मयोः कर्मणि अन्तर्भावस्य उपपादितत्वात्, सामान्यस्य आकृतौ व्यक्तौ च मतभेदेन निवेशात्, विशेषाणाम् अप्रामाणिकत्वस्य पदार्थखण्डने शिरोमणिनैव [टि.१] नित्यद्रव्याणां स्वतोव्यावृत्तत्वाङ्गीकारेण उपपादितत्वात्, समवायस्य तादात्म्यएव वेदान्तिभिः अन्तर्भावितत्वाद्, अभावस्य च तिरोभावशक्तौ पूर्वम् अन्तर्भावितत्वात्. संख्या-परिमाण-विभाग-परत्वापरत्व-बुद्धि- सुखदुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नाः स्थितिस्थापकसंस्कारवेगाख्यौ संस्कारौ उत्क्षेपणादीनि पञ्च कर्माणि च अवशिष्यन्तइति तेष्वेव तत्त्वत्वं शङ्केत तदेव अपृथग्विद्यमानत्वेन परिह्रियतइति न कोऽपि शङ्कालेशः. तस्माद् अष्टाविंशतिरेव तत्त्वानि. इति कारणकोटिः.

(आ क ख ग घ मातृकासु एतावान् अंशो अधिकः उपलभ्यते)

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमेयपरिच्छेदे प्रमेयरूपब्रह्मणः कोटित्रयनिरूपके कल्लोले कारणरूपकोटिनिरूपको द्वितीयः तरङ्गः

समाप्तः

---

१. दीधितिकारेण श्रीरघुनाथशिरोमणिना 'पदार्थखण्डन'नामके ग्रन्थे. (म्या).

पाठभेदावली

१. उच्यन्ते इति **अ आ ख** २. प्रमुख इति **अ ग** पाठयोः. ३. "यदा... पञ्चरात्रवाक्यात्" **अ** पाठे नास्ति **शोधनिका.** ४. **आनन्दरूपा इति आ ख घ** पाठेषु. आनन्दशक्तिरूपा इति **क ग** पाठयोः. ५. नामावधार्य इति **आ ख** पाठयोः. नामा बभूव इति **क ग**पाठयोः. ६. द्वितीयमिति इति **आ ख** पाठयोः. ७. "द्वितीयस्कन्धे... गुणमयी माया भवति" इत्येतावान् अंशो **आ** शोधनिका. तदनुलिपिकर्मणि **क ग घ** पाठेषु **आ ख** पाठयोरपि भूयान् पंक्तिक्रमव्यत्यासो संवृत्तः गृहीतः पंक्तिक्रमस्तु **ग** पाठानुरोधेन. ८. आदिसर्गाभिप्रायं कल्पान्ताभिप्रायं वा अतो न दोषः इति **अ आ** पाठयोः **क ग घ** पाठास्तु एवमेव. ९. "प्रथमस्कन्धे... जीवाङ्गीकारात् च" इति **आ** शोधनिका **क ख ग घ** पाठेषु अनुवर्तते. १०. फलवैयधिकरण्ये इति **क** व्यतिरिक्तेषु न उपलभ्यते. ११. फले इति **अ** पाठः **क घ** पाठयोः नोपलभ्यते. १२. दृष्टार्थापत्त्या इति **अ क ग** पाठेषु दृष्टार्थागत्या इति **आ ख** पाठयोः दृष्टार्थगत्या इति **घ** पाठे. १३. देवविशेषाः इति **अ क ग** एव विशेषाः

इति आ ख घ पाठेषु. १४. "अर्थस्तु... द्वेधा उच्यतइति" इत्येतावानंशो अ पाठे नास्ति आ शोधनिका क ख ग घ पाठेषु अनुवर्तते. १५. वाच्यं इति आ ख घ पाठेषु. तत्त्वं इति क ग पाठयोः. १६. एवम् इति आ शोधनिका क ख ग घ पाठेषु अनुवर्तते. १७. इह "प्रचितस्यैव वायोः तदारम्भकत्वाद् इत्येतावानंशो अ मातृकायां निरस्तोऽपि आ क ख ग घ सर्वेष्वपि पुनरुपलभ्यते. १८. वायौतु अनारम्भादेव इति अ मातृकायां निरस्तो अंशः आ क ख ग घ पुनरुपलभ्यते. १९. वैशेषिकाः इति आ शोधनिका. २०. 'स्वसम' इत्यत्र 'स्वभावेन' इति आ शोधनिका. २१. गुरुत्व...इति आ शोधनिका. घ उपलभ्यते. २२. द्विवृत्तित्वेन इति अ क ख पाठेषु. २३. प्राच्यां इति अ आ ख पाठेषु प्रतीच्यां इति क ग घ पाठेषु. २४. द्रव्यजन्ये इति आ शोधनिका. २५. तत्रापि इति आ ख पाठयोः. २६. निर्गमानिर्गम...इति अ आ ख विसरणाविसरण... इति क ग घ पाठेषु. २७. व्यञ्जकासंयोगाद् इति क ग घ व्यञ्जकसंयोगाद् इति अ आ ख पाठेषु. २८. रूपवदन्त्यावयव...इति अ आ ख ग घ रूपवदंशावयव... इति क पाठे. २९. यदा इति सर्वेष्वपि पाठेषु गृहीतस्तु प्रसिद्धः पाठः. ३०. इंगालसम्भवेन इति आ शोधनिका. ३१. अनुद्भूतरूपोऽपि इति क ग घ पाठेषु अ आ ख पाठेषु नोपलभ्यते. ३२. इह 'छिदिक्रियात्वाद्' इति अन्तर्गडुशब्दोपलब्धिः अ आ ग घ सर्वास्वपि मातृकासु. ३३. अन्यदेवतावच्छेदेन इति क ग घ पाठेषु, अन्यदेशावच्छेदेन इति अ आ ख पाठेषु. ३४. इतिवद् इति क ख इति तत् इति आ घ पाठयोः. ३५. आभिमानिकसुख'निरूपितं' इति ग पाठे अधिकम्.

।। प्रमेये कार्यकोटिनिरूपकः तृतीयः तरङ्गः ।।

जडजीवयोः व्यष्टि-समष्टिभेदेन कार्यद्वैविध्यम् :

अथ कार्यकोटिः निरूप्यते. तत्र अनियतपदार्थवादाङ्गीकारात् कार्यम् अनन्तमेव.

तथापि गणशो विचार्यमाणं द्विविधं भवति : जीवगणो जडगणः च इति. समुदितशरीरात्मकविचारेऽपि व्यष्टिगणः समष्टिगणः च इति द्विविधम्.

तत्र विगता अष्टिः=गणना यस्माद् इति व्यष्टिः अस्मदादिरूपा. सङ्गता अष्टिः यस्मिन् इति समष्टिः ब्रह्माण्डरूपा. देहस्थितकीटापेक्षया अस्मादादीनामपि समष्टित्वम् अस्मदपेक्षया ब्रह्मणः इत्यादि ज्ञेयम्. एवम् अधोऽधोव्यष्टित्वमपि. एवम् आनन्त्येऽपि कार्यं सुज्ञेयम्.

कार्यस्य त्रिगुणात्मकत्वेन त्रैविध्यम् :

तच्च कार्यं त्रिगुणात्मकत्वात् त्रिविधम्. गुणाअपि सच्चिदानन्दभेदेन भगवत्स्वरूपत्रैविध्यादेव त्रिविधाः इति गुणलक्षणएव उक्तम्. तत्र त(ताव!)त् सत्त्वं रमावैकुण्ठे (१) भगवद्देह- (२) तत्रत्यजीवदेह- (३) लोक-भेदेन त्रिविधम्. एवं रजोऽपि शुद्धं त्रिधा गुणावतारब्रह्मणो लोके, तथा तमोऽपि शुद्धं गुणावतारशिवलोके.

सच्चिदानन्दांशानां आधिभौतिकत्वाध्यात्मिकत्वाधिदैविकत्वानि :

तत्र सद् अधिभूतं, चिद् अध्यात्मम्, आनन्दो अधिदैवम्. तत्र अधिदैवत्वं स्वातन्त्र्याद्, पा.भे.१ अध्यात्मत्वम् अभिमन्तृत्वाद्, अधिभूतत्वन्तु उभयव्यवहारहेतुत्वाद् अन्तर्यामिजीवदेहेषु ज्ञेयम्. अन्यत्रतु तत्तन्नियामकत्वाद्

अधिदैवत्वं, तत्तन्नियम्यत्वाद् अध्यात्मत्वम् अधिभूतत्वं च ज्ञेयम्. अत्र मूलं द्वितीयस्कन्धाद् बोध्यम्.

कृष्णाक्षरान्तर्यामि-पुरुषोत्तमाक्षरक्षर-भेदाभ्यां त्रैविध्यव्यवस्था :

तत्र ब्रह्मणि कृष्णाक्षरान्तर्यामिभेदेन; एवं, पुरुषोत्तमाक्षरक्षरभेदेनापि. कृष्णस्यैव [पा.भे.२] गुणावतारतायां ब्रह्मविष्णुरुद्रभेदाः. एतदभिप्रायेणैव तेषां तुरीयत्वम् उच्यते 'विश्वतैजसप्राज्ञस्तुरीयः' इति.

कृष्णादित्रयाणां मायादिशक्तित्रैविध्यम् :

तच्छक्तावपि क्रमेण मायायाः कृष्णशक्तित्वं, प्रकृतेः अक्षरशक्तित्वम्, अविद्यायाः जीवशक्तित्वम् इति उत्कर्षापकर्षपरमापकर्षैः ज्ञेयम्. अविद्यायां निद्राचिन्तेन्द्रजालताभेदेन, आत्मनामपि परमात्मविभूतिरूपात्मजीवात्मभेदेन त्रैविध्यं ज्ञेयम्. एतेषु [टि.१] तत्र प्रथमो गणो द्वितीयसोपानभूतः इति [पा.भे.३].

जीवेऽपि पुरुष-व्यष्टि-समष्टि-भेदेन तमआदि गुणत्रैविध्यम् :

जीवेऽपि पुरुष-समष्टि-व्यष्टि-भेदेन, गुणेषु तमोरजस्सत्त्वभेदेन मैत्रयाणीयोपनिषदि तमसः सकाशात् तत्सारस्य रजसः ततोऽपि तत्सारस्य सत्त्वस्य उत्पत्तिकथनात्, प्रणवमात्रासु 'अ'कारस्य 'उ'कारे तस्यच 'म'कारे लयकथनात् च ज्ञेयम्. एवमेव [पा.भे.४] गुणाभिमानिष्वपि.

स्वभाव-शरीर-गुणभेदेन कार्यरूपगुणानां त्रैविध्यम् :

कार्यरूपाः गुणास्तु विकुर्वन्तः प्रत्येकमपि त्रिविधाः स्वभावशरीरगुणभेदेन. तत्र स्वाभाविकाः अनुल्लंघ्याः. तेच "सत्त्वंरजस्तमइति गुणा जीवस्य नैव मे चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते" (भाग.पुरा. ११।२५।१२) इति एकादशस्कन्धवाक्यात्. अनुल्लंघ्यत्वञ्च "गुणैः स्वाभाविकैर्बलाद्" (भाग.पुरा.६।-१।५३) इत्यादिवाक्यात् ज्ञेयम्. एतएव तादृक्तादृगाचरणप्रयोजकाः "रजस्तमः प्रकृतयः समशीला भजन्ति वै पितृभूतप्रजेशादीन् श्रियैश्वर्य प्रजेप्सवः" (भाग.पुरा.१।२।२७)

१. एतेषु इति परमात्मविभूतिजीवात्मसु इति अर्थः (श्या).

इति प्रथकस्कन्धवाक्यात् "सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति" (भग.गीता.३।३३) इति गीतावाक्यात् च. शरीररूपास्तुमौढ्यदशायामेव बलिष्ठाः देहकृतस्य "ब्राह्मणो अहं" "राजा अहम्" इति अभिमानस्य मौढ्यएव सम्भवात्. गुणरूपास्तु धर्मात्मकाः सङ्गशास्त्रैः वर्धन्त क्षीयन्ते चेति निर्बलाः. एवं तत्त्वेषु त्रैविध्यं (१) मूलतत्त्वा-(२) ऽऽवरणतत्त्व-(३) ब्रह्माण्डान्तर्ब्रह्मकृत-तत्त्वभेदेन ज्ञेयम्.

स्थूलसूक्ष्मभेदेन शरीरद्वैविध्यम् :

शरीरं स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधम्. तत्र स्थूलं पाञ्चभौतिकम्. तत्रच भूतद्वारा तन्मूलभूतानां तामसाहंकारमहत्प्रकृतिभेदेन गुणानामपि उपादानता बोध्याः तथा कालस्यापि, तृतीयस्कन्धपञ्चमाध्याये महत्तत्त्वादिभ्यः सृष्टिविचारे तथानिर्णयात्. अतएव शरीरप्रकृतिभेदोऽपि युज्यते. अन्यथा पञ्चीकरणप्रक्रियायाम् * एकस्मिन् अर्थे एको मुख्यभूतभागो, द्वितीयः चतुर्भिः समैः अन्यैः * इत्येवं तत्तद्भौतिकपदार्थसिद्ध्या सर्वेषां समत्वमेव स्यात्. एवञ्च गीतोक्तम् आहारत्रैविध्यमपि शरीरपोषकत्वेन तत्तत्प्रियं भवति इत्यपि सङ्गच्छते.

एवम् अन्यदपि मिश्राणां त्रैविध्यं बोध्यं "तत्राप्येकैकशो राजन् भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा यदैवैकतरान्याभ्यां स्वभाव उपहन्यते" (भाग.पुरा.२।१०।४१) इति द्वितीयस्कन्धीयदशमाध्यायोक्तन्यायः अत्र सर्वत्राऽपि मूलम्. अत्र एकतरस्वभावस्य अन्याभ्याम् उपघातबोधनात्, तस्यच तत्तद्बलतारतम्येन भवनात्, कालकर्मादिभिः तत्तारतम्यात्. यथा आतञ्चनेन दध्ना कदाचिद् घनत्वं पा.भे.५ कदाचित् न तद्वद् इति.

(क ग घ मातृकासु पुनरेतावानंशः आ-ख तोऽपि अधिकः उपलभ्यते. अग्रे त्रुटिः टि.१)

१.अवशिष्टप्रमेयपरिच्छेदांशस्य साधनफलपरिच्छेदयोः च जिज्ञासुभिः श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितं सर्वनिर्णयादिगतं तत्तद्वचनकदम्बकम् अनुसन्धेयम् (भ्या).

पाठभेदावली

१. ब्रह्मत्वाद् इति क पाठे स्वातन्त्र्याद् इति ग घ पाठयोः. २. कृष्णस्यच

इति **क घ** पाठयोः कृष्णस्यैव इति **ग** पाठे. ३. तत्र प्रथमो गणः द्वितीयसोपानभूतः इति **क** पाठे. ४. एवं इति **क** पाठे एवमेव इति **ग घ** पाठयोः. ५. अम्लत्वं इति **क** पाठः.

॥ उद्धृतवचनानुक्रमणिका ॥

ग्रन्थेषूद्धृतवचनानाम् आकरस्थलनिर्देशः पृष्ठाङ्कसूची च

(ॐ)

'ॐ'इत्येकाक्षरं ब्रह्म — ९०, ९४
(भगवद्गीता : ८।१३)
(नारायणाथर्वशिरउपनिषद् : ३)

ॐ इति एतदक्षरम् — ९४
(माण्डुक्योपनिषद् : १)

(अ)

अकारो वै सर्वा वाक् — ९५
(ऐतरेयोपनिद् : ३।६।७)

अक्षपादप्रणीते च — १२०
(पराशरपुराणं :)

अक्षराणां अकारोऽस्मि — ९४
(भगवद्गीता : १०।३३)

अग्निः ब्राह्मणः — १०९
(तैत्तिरीयसंहिता : २।३।३।३)

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम् — २३७, २३८
(महानारायणोपनिषद् : ९।२)

अणवश्च १४८
(ब्रह्मसूत्रं : २।४।७)

अणोरणीयान् महतो महीयान् २०३
(महानारायणोपनिषद् : ९।३)
(कठोपनिषद् : २।२०)

अतः प्रभवात् ६५
(ब्रह्मसूत्रं : १।३।२८)

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानम् १२२
(श्लोकवार्तिकम् : १।१।२।६)

अत्र निष्पन्दत्वेन ११२
(काव्यप्रकाश : २।८।८)

अत्र मां मार्गयन्त्याद्धा १७४
(भागवतपुराणं : ११।७।२३)

अत्रात्मा स्वयंज्योतिर् भवति २१३
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।३।९११४)

अथ ते तदनुज्ञाता २
(भागवतपुराणं : ३।४।१)

अथ शब्दानुशासनम् ९६
(पातञ्जलमहाभाष्यं : १।१।१)

अथ याएताः हृदयस्य नाड्यः १४९
(छान्दोग्योपनिषद् : ८।६।१)

अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसत् १९५
(भागवतपुराणं : २।२।१२)

अधिष्ठानं तथा कर्ता १४७, १९८
(भगवद्गीता : १८।१४-१५)

अनन्ता वै वेदाः ४
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।१०।११।४)

अनेन जीवेन आत्मानुप्रविश्य १९७
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।३।२)

अनस्तमितत्व २०२
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।५।२२)

अनागतमतीतं च १३९, २५८
(भागवतपुराणं : १०।६१।२१)

अनादिनिधनाविद्या(नित्या) ६३, ६५
(कूर्मपुराणं : १।१।२।२७)

अनादिरात्मा पुरुषो २११
(भागवतपुराणं : ३।२६।३)

अनुभवसिद्धोहि अयम्... २०
(तत्त्वचिन्तामणिदीधिति-परामर्शप्रकरणम्)

अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य १९९
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।३।२)

अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम् १३१
(अमरकोशः : १।८।३)

अन्यथैवाग्निसंयोगाद् ५४
(वाक्पदीयम् : २।४१८)

अन्यायः च अनेकशब्दत्वम् १०३
(जैमिनिसूत्रं : १।३।९।२६)

अपि वा कर्तृसामान्यात् ११९
(जैमिनिसूत्रं : १।३।२)

अपिवा तमादेशम् अप्राक्ष्यः १८९
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।१।२)

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च २०८
(भगवद्गीता : १४।१३)

अभिध्योपदेशाच्च १९३
(ब्रह्मसूत्रं : १।४।२४)

अमुष्मादित्यात् प्रतीयन्ते १४९
(छान्दोग्योपनिषद् : ८।६।२)

अयं वै हरयो पञ्चदशं च १९०
(बृहदारण्यकोपनिषद् : २।५।१९)

अयं हि परमो धर्मो ३
(याज्ञवल्क्यस्मृतिः : १।१।८)

अरुणया... क्रीणाति ६१
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।१।६)

अरूपवदेव हि... १९२
(ब्रह्मसूत्रं : ३।२।१४)

अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे २२८
(भागवतपुराणं : ११।२४।८)

अर्थाभिव्यञ्जनं यतः २५७
(भागवतपुराणं : ३।५।३०)

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य २२९
(भागवतपुराणं : ३।२६।३३)

अर्थोह्यनन्वितावस्थः ११३
(मीमांसाश्लोकवार्तिकं :)

अविनाशी वारे... २१९
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।५।१४)

अविज्ञातं विजानताम् १६१
(केनोपनिषद् : २।३)

अव्यक्तमहदहंकारादयः २१५
( )

अश्व वालादि ९५
(निरुक्तनिघन्टु : २।७।२८)
(निरुक्तनिघन्टु : ११।३।३१)

अष्टाक्षराः गायत्री ९४
(शतपथब्राह्मणं : २।१।५।१७)

अष्टौ स्थानानि वर्णानाम् ९४
(पाणिनीयशिक्षा : १३)

असौ ते पशुः १८१
(तैत्तिरीयसंहिता : .६।६।४।५)

अस्य महतो भूतस्य ६८
(बृहदारण्यकोपनिषद्: २।४।१०)

अस्याननं योनिरुदारवाचाम् ११२
( )

असंगोह्ययं पुरुषः २१५
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।३।१५)

अहमात्मा गुडाकेश २,२१३
(भगवद्गीता : १०।२०)

अहं कृत्स्नस्य जगतः २१९
(भगवद्गीता : ७।६)

अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य १७५
(चित्सुखी : १।८।)

(आ)

आकाशवद् व्यापकं हि १९६
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।२५-२८)

आखूस्ते पशुः १८१
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।६।४।९)

आगमोऽ(पः)र्थो प्रजा देशः ९
(भागवतपुराणं : ११।१३।४)

आण्डकोशो बहिरयम् २०१
(भागवतपुराणं : ३।११।३९)

आत्मनः आकाशः सम्भूतः २४२
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।१।१)

आत्मा वै पुत्रनामासि ७६
(शतपथब्राह्मणं : १४।९।४।२६)

आत्मैव तदिदं सर्वम् १२१
(भागवतपुराणं : ११।२८।६)

आदावन्ते च मध्ये च ९
(भागवतपुराणं : ११।१९।१६)

आदित्य इति त्रीणि ९४
(नृसिंहपूर्वोत्तरतापिन्युनिषद् : ४।२)

आदित्यो यूपः ६८, १०९
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : २।१।५।२)

आदित्यो वा एषः १४८
(महानारायणोनिषद् : १२।२)

आदित्यं वै चक्षुर्गच्छति २५४
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।२।१३)

आविर्भाव-तिरोभावौ ३८, १३६
( )

आविर्भावतिरोभावधर्म....यायि २५२
(श्लोकवार्तिक : १।१।४।१५२)

आसीद् ज्ञानमयो ह्यर्थो २०१
(भागवतपुराणं : ११।२४।२)

आश्रावयेति चतुरक्षरमस्तु... ९४
(तैत्तिरीयसंहिता : १।६।११।१)

(इ)

इतिहासपुराणाभ्याम् ९८, १२०
(ब्रह्माण्डपुराणं : १।१।१७१)
(महाभारतआरण्यपर्व : १।६६)

इत्थं विचिन्त्य परमः २०९
(पञ्चरात्रं :)

इदम् अहम् अमुष्याम्...हरामि १८१
(तैत्तिरीयसंहिता : ३।४।८।५)

इदं सर्वं यदयमात्मा १७५, १८८
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।५।७)

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि १२९
(भगवद्गीता : १०।२२)

इन्द्रियाणि दशैकञ्च १२९, २५८
(भगवद्गीता : १३।५)

इन्द्रियेण ऐन्ध्य...इन्द्र १०२
(शतपथब्राह्मणं : ६।१।१।२)

इन्द्रियेभ्यः पराः ह्यर्थाः १२९, २५८
(कठोपनिषद् : १।३।१०)

इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैः १५०
(भागवतपुराणं : ४।२२।३०)

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप १८९
(बृहदारण्यकोपनिषद् : २।५।१९)

इन्धे भूतानि...विज्ञायते १०२
(निरुक्तदैवकाण्ड : १०।१।१०)

इषे त्वो... ९६
(तैत्तिरीयसंहिता : १।१।१)

(ई)

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो १७६
(भागवतपुराणं : ११।१३।३४)

ईश्वरः सर्वभूतानाम् १४७
(भगवद्गीता : १८।६१)

(उ)

उअ णिच्चल... ११२
(काव्यप्रकाशः : २।८।८)

उग्रं प्रथमं स्थानम् ९१
(नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् : २।३)

उत्ताना वै देवगवा ९५
(आपस्तम्भश्रौतसूत्रं : ११।७।६)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः २१४
(भगवद्गीता : १५।१७)

उदपद्यत तेजो वै २४८
(भागवतपुराणं : २।५।२७)

उद्यदायुद्यदोर्दण्डैः १५६
(भागवतपुराणं : ८।१०।४०)

उद्यदायुद्यदोर्दण्डाः १५६
(महाभारत :)

(ऋ)

ऋचः सामानि जज्ञिरे ६९
(ऋग्वेदसंहिता : १०।९०।९)

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत १३८, १८०
(भागवतपुराणं : २।९।३३)

ऋषीणां नामधेयानि ६२
(विष्णुपुराणं : १।५।६५)

(ए)

एकदेशविकृतन्याय २८, ३५
(भुवनेशलोकन्यायसाहस्री : ३५०)

एकस्य फलत्वं २१४
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशः : २।८७।)

एकस्यैव ममांशस्य २१४
(भागवतपुराणं : ११।११।४)

एकादशासन्...वीरभूमिः १४५
(भागवतपुराणं : ५।११।९)

एकः शुद्धोऽक्षरो...परमात्मनः ८०
(विष्णुपुराणं : ६।४।३६)

एतस्मात् जायते प्राणो २५४, २५९
(मुण्डकोपनिषद् : २।१।३)

एरच ४५
(पाणिनिसूत्रम् : ३।३।५६)

एवं गदिः ९३
(भागवतपुराणं : ११।१२।१९)

एवं पुरा...व्यवसायबुद्धिः ९९
(भागवतपुराणं : २।२।१)

एष आत्मा १००
(छान्दोग्योपनिषद् : ८।७।४)

एष उ एव...निनीषते ११६, ११७, २२२
(कौषीतकीउपनिषद् : ३।८)

एषोऽणुः आत्मा २२१
(मुण्डकोपनिषद् : ३।१।६)

एषोऽणुरात्मा...संनिवेशः २
(मुण्डकोपनिषत् : ३।१।९)

(ऐ)

ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् १०
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।८।७)

(औ)

औत्पत्तिकस्तु... ५३, ६५
(जैमिनिसूत्रं : १।१।५)

(क)

कथमनुमिमीमही १७१
(भागवतपुराणं : ५।२२।१)

करम्भपूतिसौरभ्य... २३९
(भागवतपुराणं : ३।२६।४५)

कर्मणो जन्म महतः २०५
(भागवतपुराणं : २।५।२२)

कलेर्ढक् ९७
(पाणिनिसूत्रं : ४।२।८)

कवतीषु रथन्तरं गायति ९१
(ताण्ड्यब्राह्मणं : ११।४।२)

कामः संकल्पो विचिकित्सा ६, १२ १४६, २५८
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।५।३)

कार्यकारणवस्त्वैक्य... ९
(भागवतपुराणं : ७।१५।६३)

कालं कर्म स्वभावञ्च २०५
(भागवतपुराणं : २।५।२१)

कालरूपोवतीर्णोऽस्याम् २००
(भागवतपुराणं : १।१३।४८)

कालवृत्त्यातु मायायाम् २१३
(भागवतपुराणं : ३।५।२६)

कालाद् गुणव्यतिकरः २०२
(भागवतपुराणं : २।५।२२)

कालेन नष्टा प्रलये १००
(भागवतपुराणं : ११।१४।३)

कालेनाव्यक्तमूर्तिना २०२
(भागवतपुराणं : ३।१०।१२)

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो २००, २०२
(भगवद्गीता : ११।३२)

किंज्योतिरयं पुरुषः १४९
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।३।२)

कृती कुशल इत्यपि १०९
(अमरकोशः : ३।१।४)

कृपो रोल ९०
(पाणिनिसूत्रं : ८।२।१८)

कैवल्यं सात्विकं ज्ञानम् ९
(भागवतपुराणं : ११।२५।२४)

क्लेदनं पीडनं तृप्तिः २४९
(भागवतपुराणं : ३।२६।४३)

क्षरः सर्वाणि भूतानि २१४
(भगवद्गीता : १५।१६)

(ख)

खं काण्डाभगोक्षामम् २४५
(ज्योतिषशास्त्रवचनं :)

(ग)

गन्धवती पृथिवी २५०
(न्यायसिद्धान्तमुक्तावली : ३५)

गुणव्यति... कालेनाव्यक्तमूर्तिना ४३, २०२
(भागवतपुराणं : ३।१०।११)

गुणाद्वालोकवत् १४८, २३८
(ब्रह्मसूत्रं : २।३।२५)

गुणैः स्वाभाविकैर्बलात् २६३
(भागवतपुराणं : ६।१।५३)

गुहाम्प्रविष्टौ आत्मानौ १९६
(कठोपनिषद् : १।३।१)

गो अश्वा एव पशव ९७, १०९
(तैत्तिरीयसंहिता : ५।२।९।४)

ग्रावाणः प्लवन्ते ९८
( )

(घ)

घृणिरिति द्वे अक्षरे ९०, ९४
(नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् : ४।२)

(च)

चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य १३७
(भागवतपुराणं : ११।१५।२०)

चतुर्विधा भजन्ते माम् २२१
(भगवद्गीता : ७।१६)

चरमः सद्विशेषाणाम् २०३
(भागवतपुराणं : ३।११।१)

चाण्डालान्यस्त्रियो गत्वा २३३
(मनुस्मृतिः : ११।१७५)

चालनं व्यूहनं प्राप्तिः २४७
(भागवतपुराणं : ३।२६।३७)

चैतन्यदीप्तात्तस्माद् १९०
(नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् : ९)

चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिः ३
(भागवतपुराणं : १०।७४।४५)

(छ)

छायायां साचि तिष्ठतो २४६
( )

(ज)

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तञ्च १४६
(भागवतपुराणं : ११।१३।२७)

जातिव्यक्तिविभागोऽयं ६७
(भागवतपुराणं : ३।१५।८)

जालार्करश्म्यवगतः २३२
(भागवतपुराणं : ३।११।५)

जीवस्यानुस्मृती सती ३
(भागवतपुराणं : १०।८५।१०)

जैमिनीये च वैयासे ६५
( )

ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि ११७
(भागवतपुराणं : १०।२४।६)

ज्ञानं ज्ञानवतामहम् १२९, २५८
(भगवद्गीता : १०।३८)

ज्ञानं त्वन्यतमो भावः २१३
(भागवतपुराणं : ११।२४।४)

ज्ञानं यथा न नश्येत ६
(भागवतपुराणं : ११।७।३९)

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वम् २
(मुण्डकोपनिषद् : ३।१।८)

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव ४
(विष्णुपुराणं : ६।५।७४)

ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः २२८, २५६
(भागवतपुराणं : २।५।३१)

ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत १८१
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १०२।१)

(त)

तज्जलान् १८९
(छान्दोग्योपनिषद् : ३।१४।१)

ततोऽभवन्महत्तत्वम् २१०
(भागवतपुराणं : ३।५।२७)

ततोऽभूत् त्रिवृदोङ्कारो ६६
(भागवतपुराणं : १२।६।३९)

ततो विकुर्वतो जातो...चिदचिन्मयः २२७
(भागवतपुराणं : ११।२४।६-७)

तत्तत् सात्त्विकमेवैषाम् ९
(भागवतपुराणं : ११।१३।५)

तत्तेजोऽसृजत १९७
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।३)

तत्र सत्वं निर्मलत्वात् २०७
(भगवद्गीता : १४।६)

तत्राप्येकैकशो राजन् २६४
(भागवतपुराणं : २।१०।४१)

तत्त्वमसि ९
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।८।१०)

तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् १९७
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।६)

तत्सिद्धि-जाति-सारूप्य ११०
(शास्त्रदीपिका : १।४।१८।२८)

तथा प्राणः १४८, २५९
(ब्रह्मसूत्रं : २।४।१)

तथैव तत्त्वविज्ञानम् ४
(भागवतपुराणं : २।१०।३१)

तदनन्यत्वम् १९०
(ब्रह्मसूत्रं : २।१।१४)

तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि २१९
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।१०)

तदाहुरक्षरं ब्रह्म २०१
(भागवतपुराणं : ३।११।४१)

तदिच्छामात्रतः १९६
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।२७)

तदेतदक्षयं नित्यम् १७५, १८८
(विष्णुपुराणं : १।२२।६०)

तदैक्षत् बहुस्याम् १९७
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।३)

तद्दूरे तद्वन्तिके २४६
(ईशावास्योपनिषद् : ५)

तद्भूतानां क्रियार्थेन ८९
(जैमिनीसूत्रं : १।१।२५)

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवः १०७
(भागवतपुराणं : १।५।११)

तद्धेतोरेव तदस्तु ११२
(भुवनेशलौकिकन्यायसाहस्री : १।३९)

तन्मनोऽसृजत २५८
( )

तन्मायाफलरूपेण २०१, २०९
(भागवतपुराणं : ११।२४।२-३)

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व १३९
(तैत्तिरीयोपनिषद् : ३।३)

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि २०८
(भगवद्गीता : १४।८)

तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति १५८
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।४।२)

तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् ६४
(कठोपनिषद् : ५।१५)

तमो रजः सत्त्वमिति २१०, २२५
(भागवतपुराणं : ११।२४।५)

तस्मादहमिति सर्वाभिधानम् ९१
(नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् : ७।२)

तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै १०७
(वाजसनेयीब्राह्मणज्योतिष्टोमप्रकरणम्)

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः १९७
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।१।१)

तस्माद् विराड् अजायत ६६, ९९
(ऋक्संहिता : १०।९०।५)
(पुरुषसूक्तम् : ५)

तस्य मात्रा गुणः शब्दः २४७
(भागवतपुराणं : २।५।२५)

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदः २१४
(भागवतपुराणं : १।५।१८)

तानि धर्माणि प्रथमानि ९९
(पुरुषसूक्तम् : १८)

तामिन्द्रो मध्यतो अवक्रम्य व्याकरोद् ९८
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।४।७)

तिङ्सुबन्तचयो वाक्यम् ८९
(अमरकोशः : १।६।२)

तेजसस्तु विकुर्वाणाद् २४९
(भागवतपुराणं : २।५।२८)

तेन देवा अयजन्त ९९
(ऋक्संहिता : १०।९०।७)

तेभ्यः समभवत् सूत्रम् २१०
(भागवतपुराणं : ११।२४।६)

तैजसानीन्द्रियाण्येव २५६
(भागवतपुराणं : ३।२६।३१)

त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म १९७
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।६।१)

त्रयः पशूनां हस्तादानाः... ६८
( )

त्रीण्येव प्रमाणानि १८३
(सुबोधिनी : ३।२६।३०)

त्वमात्मनात्मानमवेह्यमोघदृक् २१५
(भागवतपुराणं : १।५।२१)

(द)

दर्शयामास लोकं स्वम् १८८
(भागवतपुराणं : १०।२८।१४)

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा ९७
(पाणिनिशिक्षा : ५२)

दृश्यते विविधचर्मपुटवेष्टितः २३८
(विद्वन्मण्डनम् :)

दृष्टं साम ९, ९७
(पाणिनिसूत्रं : ४।२।७)

देवाधिष्ठानव्यति... विषयप्रकाशनशक्तिः २५७
(सुबोधिनी : ३।५।३०)

देवी ह्येषा गुणमयी २०९
(भगवद्गीता : ७।१४)

दैवात् कालात् भवन्ति २२५
(सुबोधिनी : ३।२६।१९)

दैवात् क्षुभितधर्मिण्याम् २१०, २२५
(भागवतपुराणं : ३।२६।१९)

द्योतनं पाचनं पानम् २४८
(भागवतपुराणं : ३।२६।४०)

द्रव्यं कर्म च कालश्च १९७
(भागवतपुराणं : २।५।१४)

द्रव्याकृतित्वं गुणता २३५
(भागवतपुराणं : ३।२६।३९)

द्वाभ्यां गार्हपत्ये जुहोति ११९
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।६।१।१)

द्विधा समभवत् बृहद् २११
(भागवतपुराणं : ११।२४।३)

द्व्यचश्छन्दसि ९६
(पाणिनिसूत्रं : ४।३।१५०)

(ध)

ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम् १३३
(अमरकोशः : १।८।३)

(न)

न कदाचिदनीदृशं जगत् १८८
( )

न कञ्चिन् मर्मणि स्पृशेत् २३०
( )

नक्षत्राणामहं शशी ... १२९, २५८
(भगवद्गीता : १०।२१)

न चक्षुषा गृह्यते ... १७६
(मुण्डकोपनिषद् : ३।१।८))

न तत्र रथा न रथयोगा: ... ३३
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।३।१०)

न द्रव्यनियम: तद्योगादि ... १४४
(सांख्यप्रवचनसूत्र : ५।१०८)

न पश्यो मृत्युं पश्यति ... ६७
(छान्दोग्योपनिषद् : ७।२६।२)

न पीताद् अरुणं ... २३६
( )

नभसोऽथ विकुर्वाणाद् ... २२९, २४७
(भागवतपुराणं : २।५।२६))

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो ... १७५
(भागवतपुराणं : १०।८७।३७)

न स पुनरावर्तते ... २१३
(छान्दोग्योपनिषद् : ८।१५।१)

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके ... ५
(वाक्यपदीयम् : १।११५)

नामरूपं च भूतानाम् ६२
(कूर्मपुराणं : १।७।६४)

नामरूपे व्याकरवाणि १९५
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।३।२)

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः १६०
(मुण्डकोपनिषद् : ३।२।३)

नारायणपराः लोकाः २००
(भागवतपुराणं : २।५।१५)

निनादनिनद... दावादि ९६
(अमरकोषः : १।६।३२)
(अमरकोषः : १।७।३१, ३।३।२०६)

नियतधर्मसाहित्य उभयोः १६५
(सांख्यप्रवचनसूत्रं : ५।२९)

निशितेति चेन्न... १४९
(ब्रह्मसूत्रं : ४।२।१९)

नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः ७८, ८०, १४९
(भागवतपुराणं : ३।२६।३७)

(प)

पदावधारणोपायान् ८७
(श्लोकवार्तिकवाक्याधिकरणकारिका : १८३)

पदे वर्णाः न विद्यन्ते ८, ९०
(वाक्यपदीयं : १।७३)

परस्य दृश्यते धर्मो २२९
(भागवतपुराणं : ३।२६।४९)

परात्तु तच्छ्रुतेः २२२
(ब्रह्मसूत्रं : २।३।१४)

पराहृतान्तर्मनसः १५०
(भागवतपुराणं : ३।५।४४)

परिणामः स्वभावतः २०६
(भागवतपुराणं : २।५।२२)

परोक्षवादो वेदोऽयं ११८
(भागवतपुराणं : ११।३।४४)

पशुना यजेत(यजते) ६१
(काठकसंहिता : ८।१)

पशुमालभेत(लभते) ६०, ६१
(तैत्तिरीयसंहिता : ३।१।११)

पीवेति राशौ न विदां प्रवादः २०४
(भागवतपुराणं : ५।१०।९)

पुण्यदः पुण्यमाप्नोति २०५
( )

पुराणं हृदयं स्मृतम् ९८, १२०
( )

पुरुषेश्वरयोरत्र २१४
(भागवतपुराणं : ११।२२।११)

पुरुषावयवैरेतैः ६४
(भागवतपुराणं : २।६।२६)

पुरुषएवेदं यद् भूतं यच्च भव्यम् ९९, १२१
(नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् : २)
(ऋक्संहिता : १०।९०।२)

पूयति वा एतदृचोक्षरं १८१
( )

पूर्णमदः पूर्णमिदम् १९३, १९६
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।१।१)

पूर्ववद्वा १९२
(ब्रह्मसूत्रं : ३।२।२९)

पूर्वसूत्रे वर्णस्य अक्षरम् ९४
(पातञ्जलमहाभाष्यम् : १।१।२ आ झभञ्)

पूर्वापरानुसन्धानरूपा ३
(सुबोधिनी : १०।८५।१०)

पृथक्त्वेन तु यद् ज्ञानम् १०, १५
(भगवद्गीता : १८।२१)

प्रकृति पुरुषं चेव २१३

(भगवद्गीता : १३।१९)

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ २०१
(तत्वार्थदीपनिबन्धः : २।९८)

प्रकृतिर्ह्यस्योपादानम् ४३, १९७
(भागवतपुराणं : ११।२४।१९)

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य २००
(भागवतपुराणं : ३।२६।१७)

प्रजायेय ६७, ८७, १९५, २२४
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।३)
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।६)

प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाधिकरणे २२५
(ब्रह्मसूत्रम् : १।४।२३)

प्रतितिष्ठन्तीह वै ते १८१
(ताण्डयब्राह्मण : २३।२।४)

प्रत्यभिज्ञायते कर्ता यः २२३
(शास्त्रदीपिका : १।१।५)

प्रमाणम् उत्सन्नं ११९
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।३४)

प्रमार्थप्रकाशलिंगात् १४४
(सांख्यप्रवचनसूत्रं : ५।१०६)

प्रसन्नचेतसो ह्याशु ६
(भगवद्गीता : २।६५)

प्राकृतं तामसं ज्ञानम् १०
(भागवतपुराणं : ११।२५।२४)

प्राणभृत उपदधाति १०९
(तैत्तिरीयसंहिता : ५।२।१०।९)
(५।३।१।१)

प्रीत्य प्रीतिविषादात्मका २०८
(सांख्यकारिका : १२।१३)

प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः २०८
(सांख्यप्रवचनसूत्रं : १।१२७-१२८)

प्रज्ञोपलब्धिः चित्संविद् १६०
(अमरकोशः : १।५।१)

(फ)

फलश्रुतिरियं नृणाम् ११८
(भागवतपुराणं : ११।२१।२३)

(ब)

बहुस्यां प्रजायेय ४१, १९६
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।३)
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।६)

बुद्धिः विज्ञानरूपिणी २२
(भागवतपुराणं : २।१०।३२)

ब्रह्मणो मानसा पुत्राः २०४
(महाभारतादिपर्व : ५९।१०)

ब्रहम वा इदमग्र आसीद् २१९
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।१०)

ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति ९०
(वाक्यपदीयम् : २।१४)

(भ)

भक्त्या त्वनन्यया शक्यः १६०
(भगवद्गीता : ११।५४)

भक्त्या मामभिजानाति १३७, १६०
(भगवद्गीता : १८।५५)

भक्त्याहमेकयाग्राह्यः १६०
(भागवतपुराणं : ११।१४।२१)

भगवतः सर्वतः २२५
(सुबोधिनी : ३।५।३७)

भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन ५३
(भागवतपुराणं : २।२।३४)

भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः १४४
(सांख्यप्रवचनसूत्रं : ५।१०७)

भावनं ब्रह्मणः स्थानम् २५०
(भागवतपुराणं : ३।२६।४६)

भूरिति व्याहरन् ६२
(तैत्तिरीयब्राह्मणम् : २।२।४।२)

भूतानां छिद्रदातृत्वम् २४१
(भागवतपुराणं : ३।२६।३४)

भूतेषु घोषरूपेण ८१
(भागवतपुराणं : ११।२१।३७)

भौतिकानां विकारेण २३८
(भागवतपुराणं : ३।२६।४२)

(म)

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि १२९, २५८
(भगवद्गीता : १५।७)

मनसै वानुदृष्टव्यं १६१
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।४।१९)

मनः सर्वेन्द्रियाणि च १२९, २५८
(मुण्डकोपनिषद् : २।१।३)
(नारायणोपनिषद् : १)

मनुरभवम् अहं सूर्यश्च २१९
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।१०)

मनोविकारा एवैते १७६
(भागवतपुराणं : ११।१६।४१)

ममयोनिर्महद्ब्रह्म २१९
(भगवद्गीता : १४।३)

ममैवांशो जीवलोके २१४
(भगवद्गीता : १५।७)

मयड्वैतयोर्भाषायाम् ९६
(पाणिनिसूत्रं : ४।३।१४३)

मयुराश्चित्रिता येन ३८
( )

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः १६०
(भागवतपुराणं : १०।४३।१७)

महाभूतान्यहंकारो १२८
(भगवद्गीता : १३।५)

मां विधत्तेऽभिधत्ते माम् ६४, ९७, ९८
(भागवतपुराणं : ११।२१।४३)

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् २२१
(ब्रह्मसूत्रं : १।३।२)

मुखं विकसितस्मितम् ११२
(काव्यप्रकाशः : २।१९।९)

मृदुत्वं कठिनत्वं च २३१
(भागवतपुराणं : ३।२६।३६)

(य)

य एनं शुष्के स्थाणौ ६६
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ६।३।८)

यजमानपंचमां १२९, २५८
(शतपथब्राह्मणम् : २।४।४।२५)

यजमानः प्रस्तरः १०९
(तैत्तिरीयब्राह्मणम् : ३।३।६।८)

यज्ञकर्मण्यजपन्यूंखसामसु ९७
(पाणिनिसूत्रं : १।२।३४)

यज्ञो वै विष्णुः ३३, २००
(तैत्तिरीयब्राह्मणम् : १।२।५।१)

यतो वाचो निवर्तन्ते १६७
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।४।१)

यत्करोत्येकरात्रेण २३३
(मनुस्मृतिः : ११।१७८)

यत् कर्म तत् फलवद् १७१
(शाबरभाष्यम् :)

यद् अकालयत् तत् ९७
(ताण्ड्यब्राह्मणम् : ८।३।१)

यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तम् २२६
(भागवतपुराणं : ३।२६।१०)

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् १०
(भगवद्गीता : १८।२२)

यत्पीतं चारूणं च २३६
(मधुविद्या :)

यत्र येन यतो यस्य ४१
(भागवतपुराणं : १०।८५।४)

यत्संकल्पविकल्पाभ्याम् २५८
(भागवतपुराणं : ३।२६।२७)

यथा कुलाल चक्रेण १७१
(भागवतपुराणं : ५।२२।२)

यथा जलस्थ आभास १५१
(भागवतपुराणं : ३।२७।१२)

यथा महान्ति भूतानि १९०, १९५
(भागवतपुराण : २।९।३४)

यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य २४०
(महानारायणोपनिषद् : ८।२)

यथा सौम्यकेन १८९
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।१।२-४)

यथा हि भानोरुदयो १३०, १४९
(भागवतपुराणं : ११।२८।३४)

यदंघ्र्यनुध्यानसमाधि... १३७
(भागवतपुराणं : २।४।२१)

यदरुणं तत्तेजसो २३७
( )

यदस्ति यन्नास्ति १७५
(विष्णुपुराणं : २।१२।३८)

यद् द्रव्यं यद् द्रव्यध्वंस... २५०
(न्यायसिद्धान्तमुक्तावली : ३५)

यदा कर्मसु काम्येषु २४६
(छान्दोग्योपनिषद् : ५।२।८)

यदा हि २०९
(सुबोधिनी : १।१०।२४)

यदास्य नाभ्यान्नलिनाद् ६४
(भागवतपुराणं : २।६।२२-२६)

यदेकमयव्यक्तमनन्तरूपम १८८
(महानारायणोपनिषद् : १।५)

यदेव विद्यया करोति ११७
(छान्दोपनिषद् : १।१।१०)

यद् धूम्रं तद् वायोः २४५
( )

यन्न स्पृशन्ति न विदुः १३०
(भागवतपुराणं : ६।१६।२३)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहम् २१९
(भगवद्गीता : १५।१८)

यस्या कालेन नोद्याया २३४
( )

यस्याऽनुग्रहमिच्छामि १६०
( )

युक्तं भगैः स्वेरितरत्र चाध्रुवै ४, २२१
(भागवतपुराणं : २।९।१६)

युक्ता (हेतुभिरीश्वरं)... १७४
(भागवतपुराणं : ११।७।२३)

येनाक्षरं समाम्नायम् ९४
(पाणिन्यष्टाध्यायिमंगलाचरणम्)

यो ब्रह्माणं विदधाति ६२, ६३ ९९
(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ६।१८)

योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो १९२
(भागवतपुराणं : १०।३।२६)

यः सिक्तरेता स्यात् ६४
(तैत्तिरीयसंहिता : ५।५।४)

(र)

रजस्तमः प्रकृतयः २६३
(भागवतपुराणं : १।२।२७)

रजो रागात्मकं विद्धिः २०८
(भगवद्गीता : १४।७)

रजो वैकल्पिकं स्मृतम् १०
(भागवतपुराणं : ११।२५।२४)

(ल)

लघ्वादिधर्मैः २०८
(सांख्यप्रवचनसूत्र.१।१२८)

लिङ्गं यद् द्रष्टृदृश्ययो २२९
(भागवतपुराणं : २।५।२५)

लोकतो अर्थप्रयुक्ते १०३
(पातञ्जलमहाभाष्यपस्पशाह्निक)

लोकावगतसामर्थ्यः ९६
(जैमिनीयन्यायमाला : १।३।१०।३०)
(जैमिनीयन्यामालाविवरणं : १।१।२)

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः २०८
(भगवद्गीता : १४।१२)

(व)

वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि १००
(भागवतपुराणं : ११।१४।१)

वर्णन्तु चाक्षरे ९४
(अमरकोशः : ३।३।४८)

वषट्कारो वै गायत्री ११७
(तैत्तिरीयसंहिता : २।१।७।१)

वस्तुनो मृदुकाठिन्यम् २३१
(भागवतपुराणं : २।१०।२३)

वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् १९०
(छान्दोग्योपनिषद्: ६।१।५)

वाचा विरूपनित्यया ६३, ६५, ७०
(तैत्तिरीयसंहिता : २।६।११।२)
(ऋक्संहिता : ८।७५।६)

वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ ९७
(पाणिनिसूत्रं : ४।२।९)

वामंवा इदं देवेभ्योजनि ९७
( )

वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता ११७
(तैत्तिरीयसंहिता : २।१।१।१)

विदुरकाष्ठाय मुहुःकुयोगिनाम् ४९
(भागवतपुराणं : २।४।१४)

विरोधेतु अनपेक्षं स्यात् ११९
(जैमिनिसूत्रं : १।३।३)

विलज्जमानया यस्य १९३
(भागवतपुराणं : २।५।१३)

विशेषस्तु विकुर्वाणाद् २५२
(भागवतपुराणं : २।५।२९)

विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रम् १७५, १८८
(भागवतपुराणं : ३।१०।१२)

विश्वजिता यजेत १८१
(शतपथब्राह्मणम् : १०।२।१।१६)

विश्वमात्मगतं व्यञ्जन् २२६
(भागवतपुराणं : ३।२६।२२)

विश्लिष्टशक्तिः बहुधेव भाति ३८
(भागवतपुराणं : ११।१२।२०)

व्रीहीन् अवहन्ति ६०
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रम् : १।१९।११)

वृत्तयस्तु प्रसरद्रूपा १४४
(सांख्यप्रवचनसूत्रवृत्तिसार : ५।१०७)

वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तम् ३
(भागवतपुराणं : ६।१२।३५)

वेदस्याध्ययनं सर्वं... १७१
(श्लोकवार्तिकवाक्याधिकरणम् : ३६६)

वेदाक्षराणि यावन्ति ९४
( )

वेदानध्यापयामास १२९
(ब्रह्माण्डपुराणं : २।३।३५।१४)

वेदेन नामरूपाणि ९६
(भागवतपुराणं : ११।२१।६)

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ९४, ९७
(भगवद्गीता : १५।१५)

वेदो गीतः त्वया पुरा ७०
( )

वेदो नारायणः साक्षात् ७०
(भागवतपुराणं : ६।१।४०)

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् ११७
(ब्रह्मसूत्र : २।१।३४)

(श)

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् ४, ६२
(ब्रह्मसूत्र : १।३।२८)

शब्द ब्रह्म सुदुर्बोधम् ७०, ७१
(भागवतपुराणं : ११।२१।३६)

शन्नो देवीरभिष्टये ९६
(अथर्ववेदमंगलाचरणम्)

शमोदमस्तितीक्षा १०
(भागवतपुराणं : ११।२५।२)

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् १४७, १९८
(भगवद्गीता : १८।१५)

शवस्पृशं दिवा कीर्तिम् २३३
( )

शाब्दस्य हि ब्रह्मणः एष पन्था ११९
(भागवतपुराणं : २।२।२)

शिवाद्याः ऋषिपर्यन्ताः ७०
( )

शीतं गुणे तद्वदर्थाः २३१
(अमरकोष : १।३।१९)

श्येनचितिं चिन्वीत ६१
(तैत्तिरीयसंहिता : २।४।११।१)

श्रुतिस्मृतिपुराणानाम् १२०
(व्याससंहिता :)

(स)

स आत्मानं स्वयमकुरुत २२१
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।७)

स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः २
(भागवतपुराणं : २।१०।९)

स एकधा भवति ६७
(छान्दोग्योपनिषद्: ७।२६।२)

स एषजीवो विवरप्रसूति ४, ७६, ९३, १९८
(भागवतपुराणं : ११।१२।१७)

स एष भगवान् द्रोणः ७६
(भागवतपुराणं : १।७।४५)

संघातपरार्थत्वात् २१६
(सांख्यकारिका : १७।१८)

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म २
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।१।१)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा २६३
(भागवतपुराणं : ११।२५।१२)

सत्त्वं रजस्तमइति निर्गुणस्य १९४
(भागवतपुराणं : २।५।१८)

सत्त्वं रजस्तमः... मायया विभोः १९४
(भागवतपुराणं : २।५।१८)

सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ३
(छान्दोग्योपनिषद्: ७।२६।२)

सत्त्वात्संजायते ज्ञानम् १२
(भगवद्गीता : १४।१७)

सत्संप्रयोग १४२
(जैमिनिसूत्रं : १।१।४)

सदृशं चेष्टते स्वस्या २६४
(भगवद्गीता : ३।३३)

सदेव सैम्येदमग्र आसीद् ९, १८९
(छान्दोग्योपनिषद्: ६।२।१)

सद्योनष्टस्मृतिर्गोपी ३१
(भागवतपुराणं : १०।८।४४)

सद्यी स्वप्नौ भूत्वेमम् ६
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।३।७)

सन्निपातस्त्वहमिति १०
(भागवतपुराणं : ११।२५।६)

सम्भावितं सर्वमेवाप्रमाणं २४
(सुबोधिनी : ३।२६।३०)

समाननामरूपत्वाच्च ६४
(ब्रह्मसूत्रम् : १।२।३०)

समाहितात्मनो ब्रह्मन् ७१
(भागवतपुराणं : १२।६।३७)

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत् १९६
(बृहदारण्यकोपनिषद् : २।१।२०)

सर्वकर्माणि मनसा २०५
(भगवद्गीता : ५।१३)

सर्वभूतेषु येनैकम् ९
(भगवद्गीता : १८।२०)

सर्वत्र विभाषा गोः ९६
(पाणिनिसूत्र : ६।१।१२२)

सर्वरसः ११८
(छान्दोग्योपनिषद्: ३।१४।४)
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।३।२१)

सर्वरूपभगवत्सम्बन्धात्... १९४
(सुबोधिनी : २।५।१८)

सर्वं वेदमयेनेदम् ६६
(भागवतपुराणं : ३।९।४३)

सर्वं खलु इदं ब्रह्म १८९
(छान्दोग्योपनिषद्: ३।१४।१)

सर्वं गंगासमं तोयम् १७८
( )

सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः ९५
(तैत्तिरीयारण्यकं : ३।१२।७)
(पुरुषसूक्तम् : ७)
(चित्युपनिषद् : १२।७)

सर्वेन्द्रियाणिच २५४
(मुण्डकोपनिषद् : २।१।३)

सर्वएतएव आत्मानः १९६
(बृहदारण्यकोपनिषद् : २।५।१५)

सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति ६४, ९७, ९८
(कठोपनिषद् : २।१५)

सर्वेषाम् आनन्दानाम् २५७
(बृहदारण्यकोपनिषद् : २।४।११)

सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रम् ७८
(बृहदारण्यकोपनिषद् : २।४।११)

सर्वेषां सतु नामानाम् ६२
(मनुस्मृतिः : १।२१)

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतः १५७
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।३।३२)

सवा एष महानज आत्मा २२१
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।४।२२)

संशयोऽय विपर्यासः २२
(भागवतपुराणं : ३।२६।३०)

स समानः सन्नुभौ ६
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।३।७)

सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते २५६
(सांख्यप्रवचनसूत्रं : २।१८)

सुखादयःकारणसमवेताः ६
(शाण्डिल्यभाष्यं :)

सुपां सुलुग् ९४
(पाणिनिसूत्रं : ७।१।३९)

सुवर्गाय वा एतानि ११८
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।६।१।१)

सूर्याचन्द्रमसौ ६२, ६३, ६६
(ऋक्संहिता : १०।१९०।१)
(महानारायणोपनिषद् : ५।७)

सृष्टीरुपदधाति १०९
(तैत्तिरीयसंहिता : ५।३।४।७)
(शतपथब्राह्मणं : ८।२।६।१)

सैषा वटबीज...माया चाविद्या च स्वयमेव भवति १८९
(नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् : ९)

सैषाविद्या जगत् सर्वम् १९०
(नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् : ९)

सोऽकामयत बहुस्याम् १९३
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।६।१।४)

सौरीभ्यामृग्भ्यां गार्हपत्ये ११९
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।६।१।१)

स्थिरबुद्धिरसंमूढः ६
(भगवद्गीता : ५।२०)

स्मृतिप्रत्यक्षमैतिह्यम् ४८
(तैत्तिरीयारण्यकं : १।२।१)

स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थिनां विप्रमोक्षः ३१
(छान्दोग्योपनिषद्: ७।२६।२)

स्मृतेश्च ११९
(ब्रह्मसूत्रं : १।२।६।१, ४।३।११।५)

सृष्टीरुपदधाति ११०
(तैत्तिरीयसंहिता : ५।३।४।७।८)

स्वयम्भूरेष भगवान् ७०
( )

स्वयञ्ज्योतिर्भवति ३४
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।३।९)

स्वयञ्ज्योतिष्ट्व १५५
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।३।९)

स्वरतः कालतः स्थानात् ९४
(पाणिनीयशिक्षा : १०)

स्वर्गकाम २१९
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १०।२।१)

स्वाश्रयत्वेन...मिथ्यात्वम् १७५
(तत्त्वप्रदीपिकाचित्सुखी : १।७)

(ह)

हस्तादयस्तु स्थितेनैवम् १२८
(ब्रह्मसूत्रं : २।४।६)

हिरण्यपर्णा प्रदिवस्ते अर्थम् ९५
(शाबरभाष्यं : १।३।९।३०)

हृतरूपं तु तमसा वायौ १३१
(भागवतपुराणं : ११।३।१४)

एवंप्रमाणविषयेनुपपादितंयद्यपिप्रकीर्णमुपपादितमाकरेषु
संगृहीतमहितमेममयातथाप्यस्यासंगिकंचमुनिवरजनो भणाम